प्राक्कथन

हिन्दी जगत् को महाकवि पुष्पदन्त के जीवन तथा काव्य-कला का सर्वप्रथम परिचय १६२३ ई० मे 'जैन साहित्य सशोधक' पत्रिका मे प्रकाशित स्व० नाथूराम प्रेमी के एक लेख द्वारा हुआ था। इसके पश्चात् प्रेमी जो तथा प्रो० (अब डॉ०) हीरा-लाल जैन ने कारजा (वरार) के जैन भण्डारो की खोज के परिणामस्वरूप अपभ्रश के अन्य कवियो के साथ पुष्पदन्त की रचनाओ का भी परिचय प्राप्त किया। इनका विवरण १६२६ ई० मे रायवहादुर हीरालाल द्वारा सम्पादित मध्य प्रदेश तथा वरार मे खोज द्वारा प्राप्त पाण्डुलिपियो की सूची मे प्रकाशित हुआ। इन्ही विद्वानो से प्रेरणा लेकर डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य ने कारजा के भण्डारो तथा भण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट से पुष्पदन्त के ग्रथो की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त कर १६३१ ई० मे जसहर चरिउ (यशोधर चरित्र) तथा १६३७-१६४१ ई० के वीच कवि के विशाल ग्रन्थ महा-पुराण को अत्यन्त परिश्रम के साथ सम्पादित करके प्रकाशित किया। कवि के तृतीय ग्रन्थ णायकुमार चरिउ (नागकुमार चरित्र) का प्रकाशन १६३३ ई० मे डॉ० हीरा-लाल जैन द्वारा हुआ। आगे चलकर अपभ्रंश के अन्य महाकवि स्वय-भू के पउम चरिउ का प्रकाशन मुनि जिनविजय जी तथा डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी के सत्प्र-यत्नो द्वारा हुआ। १६३६ ई० मे एल० ऑल्सडार्फ ने पुष्पदन्त के महापुराण की ८१ से ६२ तक की सधियो को रोमन अक्षरो मे हरिवशपुराण के नाम से हैम्वर्ग (जर्मनी) से प्रकाशित कराया।

अपभ्रश ग्रन्थो के साथ ही कुछ विद्वानो ने भारतीय आर्य भाषाओ के अन्तर्गत हिन्दी के विकास का अध्ययन करते हुए, उस पर पडे अपभ्रश के प्रभाव की ओर भी सकेत किया है। इनमे पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ० गौरीशकर हीराचन्द ओझा, श्री राहुल साकृत्यायन, डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा डॉ० नामवरसिंह उल्लेखनीय हैं।

अध्ययन को प्रेरणा

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ है। इसकी प्रेरणा सर्वप्रथम मुझे पूज्यवर दादा—कुँवर डॉ० चन्द्र-प्रकाश सिंह (अधिष्ठाता, कला सकाय, जोधपुर विश्वविद्यालय) से प्राप्त हुई थी। यह वात अक्तूवर, १६५७ ई० की है। उस समय कुँवर जी ने महाकवि के असाधारण व्यक्तित्व तथा उनके विशाल काव्य का जो परिचय दिया था, उससे मैं अत्यधिक प्रभावित

हुआ। पश्चात् आदरणीय गुरुवर श्री अयोध्यानाथ शर्मा द्वारा उत्साहित होकर मैंने इस विषय पर कार्य करने का एक प्रकार से दृढ़ संकल्प कर लिया। यद्यपि उस समय अपभ्रंश से विशेष रूप से परिचित न होने के कारण भाषा-समस्या एक व्यवधान बनकर मेरे सम्मुख अवश्य उपस्थित हुई, परन्तु प्रोत्साहन तथा अध्यवसाय द्वारा मार्ग प्रशस्त होने मे विशेष कठिनाई नही हुई।

प्रस्तुत अध्ययन का महत्त्व

सिद्धो के दोहा-कोष तथा चर्यापदो के अतिरिक्त हिन्दी मे अपभ्रंश की मूल रचनाओ का प्राय. सर्वथा अभाव है। स्वयभू, पुष्पदन्त, धनपाल, अब्दुल रहमान आदि कवियो की जो भी रचनाएँ सम्पादित हुई है, वे सबकी सब अंग्रेजी भूमिकाओ-टिप्पणियो के साथ अहिन्दी क्षेत्रो की हैं। इधर १०-१५ वर्षों मे हिन्दी के कुछ अध्येताओ ने अपने शोध-प्रबंधो मे अपभ्रंश भाषा एव साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन अवश्य किया है। इनमे डॉ० नामवर सिंह का 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' तथा डॉ० हरिवंश कोछड का 'अपभ्रंश साहित्य' विशेष द्रष्टव्य हैं, परन्तु हिन्दी मे अद्यावधि अपभ्रंश विषयक जो भी कार्य हुआ है, वह उसके विपुल साहित्य की दृष्टि से नगण्य ही कहा जाएगा। अत हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि करने तथा हिन्दी-ससार को कबीर, सूर, तुलसी आदि कवियो की भाँति स्वयंभू, पुष्पदन्त, अब्दुल रहमान जैसे कवियो से परिचित कराने के लिये उनकी मूल रचनाओ तथा उनके जीवन एव काव्य-कला सम्बन्धी समीक्षात्मक ग्रन्थो का प्रणयन आवश्यक है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध इस अभाव की आशिक पूर्ति करने का प्रयास मात्र है और यही उसका महत्त्व भी है।

प्रबन्ध की रूपरेखा

समस्त शोध-सामग्री विभिन्न शीर्षको के अन्तर्गत १० अध्याय मे विभाजित की गई है। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

विषय-प्रवेश के रूप मे प्रथम अध्याय मे अपभ्रंश परम्परा का विवेचन है। इसमे अपभ्रंश विषयक प्रारम्भिक उल्लेखो से लेकर उसकी विभिन्न संज्ञाएँ, भाषा की सामान्य विशेषताएँ एव अपभ्रंश साहित्य के क्षेत्र तथा उसके विकास की रूपरेखा प्रस्तुत की गई हैं।

दूसरे अध्याय मे कवि की समसामयिक परिस्थितियों का अध्ययन किया गया है। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति के वर्णन मे विशेष रूप से १०वी शताब्दी के भारत की दशा एवं राष्ट्रकूट तथा परमार राजाओ के प्रभाव का दिग्दर्शन कराने की चेष्टा की गयी है। सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति में उस समय के रीति-रिवाजों, वेश-भूषा, सामान्य विश्वास, नारी का स्थान आदि का विवेचन है। इसी

प्रकार आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिस्थितियो को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। कवि के ग्रन्थो से उपलब्ध तथ्य भी यथास्थान सम्मिलित कर दिए गए हैं।

तीसरे अध्याय का सम्बन्ध कवि के जीवन-वृत्त से है। इसमे अन्तर्साक्ष्य के आधार पर कवि के विभिन्न नाम, माता-पिता, जीवन के अभाव आदि का परिचय प्रस्तुत किया है। चौथे अध्याय मे कवि की रचनाओ का सामान्य परिचय देते हुए, उनकी रचना-शैली तथा वर्ण्य-विषय का सक्षिप्त सार प्रस्तुत किया गया है।

कवि की रचनाओ पर पुराणों का अत्यधिक प्रभाव है। प्रबन्ध के पाँचवें अध्याय मे उस प्रभाव के विभिन्न रूपो का परीक्षण किया गया है।

प्रबन्ध के छठे अध्याय का उद्देश्य जैन धर्म तथा कवि के काव्य मे उसके स्वरूप का परिचय देना है। इसमें जैन धर्म की प्राचीनता, उसका विकास एव भारत में उसके प्रचार का विवरण है। कवि के काव्य मे प्राप्त जैन दर्शन तथा उसके द्वारा किए गए अन्य मतो के खण्डन का विवेचन भी इसी मे है।

सातवाँ अध्याय कवि के वस्तु-वर्णन का परिचय कराता है। इसमें प्रकृति, युद्ध, देश-नगर, विलाप आदि विभिन्न वर्णनो को उद्धरण देते हुए स्पष्ट किया गया है।

आठवाँ अध्याय कवि की भाव-व्यजना के सम्बन्ध मे है। इसमे शान्त के रस-राजत्व के साथ कवि द्वारा प्रस्तुत अन्य रसो का विश्लेषण है। नवें अध्याय मे कवि के अलकार-विधान, लोकोक्तियाँ, मुहावरे, उक्ति-वैचित्र्य, छन्द-योजना तथा भाषा सम्बन्धी विशेषताओ का विवेचन है।

प्रबन्ध के दसवें तथा अन्तिम अध्याय मे पुष्पदत के साथ अपभ्र श के कुछ प्रमुख जैन कवियो का तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इनमे कवि के पूर्व तथा परवर्ती दोनो ही प्रकार के कवि हैं। परवर्ती कवियो पर पुष्पदन्त के प्रभाव को, परस्पर साम्य रखने वाले काव्याशो को प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया गया है। कवि के प्रधान ग्रन्थ महापुराण मे ६३ महापुरुषो का चरित्राकन है। इसके अतिरिक्त प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे भी यत्र-तत्र उनके उल्लेख आए हैं, अतः सुविधा की दृष्टि से परिशिष्ट मे उनकी तालिका दे दी गई है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

शोध-प्रबन्ध की विषय-सामग्री का सकलन करने मे महाराज सयाजी विश्व-विद्यालय, वडौदा के प्राच्य विद्या-विभाग से मुझे सर्वाधिक सहायता प्राप्त हुई, जिसके लिए मैं उसके निदेशक डॉ० बी० जे० साडेसरा का अत्यन्त आभारी हूँ। लखनऊ तथा

सागर विश्वविद्यालयो के ग्रन्थागारो से भी मैंने समय-समय पर लाभ उठाया है। जैन धर्म सम्बन्धी अनेक बातो का परिचय प्राप्त करने के लिए मुझे अजमेर तथा आबू के मदिरो मे जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वहाँ के मुनियो-विद्वानो ने कृपापूर्वक विविध तथ्यो से अवगत कराया। अहमदाबाद के प्रज्ञाचक्षु श्री सुखलाल सिंघवी तथा बडौदा के श्री लालचन्द भगवानदास गांधी के सत्परामर्शो से भी मैं लाभान्वित हुआ हूँ। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध के प्रणयन मे मुझे कतिपय अन्य अधिकारी विद्वानो से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अनेक प्रकार की सहायता एव सम्मति-सुझाव प्राप्त हुए है। इनमे श्री अयोध्यानाथ शर्मा, श्री नाथूराम प्रेमी, श्री राहुल साकृत्यायन, डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डॉ० ए० एम० घाटगे, श्री अगरचन्द नाहटा तथा डॉ० हरिवश कोछड प्रमुख हैं। इन सभी महानुभावो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। साथ ही इन्दुजी के प्रति भी मैं उपकृत हूँ, जिनके सतत् सहयोग से लेखन-कार्य सम्पन्न हो सका। सकलित सामग्री को व्यवस्थित करने तथा टिप्पणियाँ-अनुक्रमणिका आदि तैयार करने मे श्री राकेश, एम० कॉम०; सुश्री शशि, एम० ए०; कु० मधुलिका, चि० प्रकाश तथा चि० विनोद ने मुझे सराहनीय सहयोग दिया है।

अन्त मे मैं अपने प्रेरणा-स्रोत आदरणीय दादा-कुंवर डॉ० चन्द्र प्रकाशसिंह जी का पुन. उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ, जिनके पाण्डित्यपूर्ण सदर्शन तथा सौहार्दपूर्ण सम्मति-सुझावो द्वारा यह प्रबन्ध-लेखन सम्भव हो सका। इस सम्बन्ध मे लखीमपुर, बड़ौदा तथा उनके ग्राम पैंसिया (जिला सीतापुर) आदि स्थानो में महीनो मुझे उनके निकट वास करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इस काल मे अपनी अत्यधिक व्यस्तता की अपेक्षा वे सदा स्नेहपूर्वक मेरी पाण्डुलिपियों को देखते अथवा सुनते एवं आवश्यक निर्देशादि देते रहते। उनके सान्निध्य में मुझे जिस पारिवारिक स्नेह का परिचय मिला, उसे विस्मरण नही किया जा सकता। साथ ही मैं श्रद्धेय डॉ० नगेन्द्र जी के प्रति भी परम कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने अनुग्रहपूर्वक इस ग्रंथ की भूमिका लिखने की कृपा की है। ग्रथ के मुद्रण तथा प्रकाशन के लिए मैं आगरा अखबार प्रेस के मुद्रक श्री खुवाजा लियाकत हुसैन एवं चिन्मय प्रकाशन, जयपुर के संचालक श्री ताराचन्द वर्मा को धन्यवाद देता हूँ। अपभ्रंश भाषा की कठिनाई के कारण प्रूफ-सम्बन्धी कतिपय भूलो को, आशा है, विज्ञ पाठक क्षमा करेंगे।

कटक : उत्कल प्रदेश

महाशिवरात्रि,

संवत् २०२४ वि०

—राजनारायण पाण्डेय

विषय-सूची

अध्याय : ४

अध्याय : ५

अध्याय : ६

अध्याय

1

महाकवि पुष्पदंत

अपभ्र श-परपरा की पृष्ठभूमि—

संस्कृत—भारतीय साहित्य का आदि रूप हमे वैदिक साहित्य (२००० वि० पू० से १००० वि० पू०) मे प्राप्त होता है, जिसके अन्तर्गत वेदों की सहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् आदि आते हैं। इस साहित्य में तत्कालीन जन-भाषा का ही रूप निहित है। कालान्तर में उसी का प्रौढ तथा कला-समन्वित रूप पाणिनि (वि० पू० ७ वी शताब्दी) द्वारा परिष्कृत हो साहित्यिक सस्कृत के रूप मे परिनिष्ठित हुआ। आगे वही रामायण, महाभारत सरीखे प्रवध-काव्यो में प्रस्फुटित होता हुआ अश्वघोप, कालिदास, भारवि, माघ, वाण आदि कवियो का रचनाओ में चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ।

प्राकृत—वैयाकरणो द्वारा निरूपित सिद्धान्तो की कठोर सीमाओ मे वध कर साहित्यिक सस्कृत जन-भापाओ से पृथक् हो गयी। उधर सतत प्रवहमान जन-भाषा सामान्य रूप से विकसित होती हुई प्राकृत भापाओ के रूप मे प्रकट हुई। यह समय विक्रम से लगभग ६०० वर्ष पूर्व का था इसी समय प्राचीन वेद-ब्राह्मणो की मान्यताओ की प्रतिक्रिया-स्वरूप वर्धमान महावीर तथा गौतम बुद्ध ने क्रमश. जैन तथा बौद्ध धर्म के रूप मे अपने-अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये। ये दोनो ही महापुरुष तत्कालीन जन-जागरण के अग्रदूतो के रूप में अवतरित हुए। उन्होने जन भाषा प्राकृत मे उपदेश दिये आगे चलकर अशोक की धर्मलिपियाँ तथा शिलालेख भी उसी मे उत्कीर्ण कराये गये। देश-भापा के रूप में प्राकृत का यह विकास विक्रम की प्रथम शताब्दी तक होता रहा। परन्तु उसके पश्चात् प्राकृत भी साहित्यिक रूप धारण करने लगी तथा आचार्यो ने उसे सैद्धान्तिक रूढियो मे वाँधना प्रारम्भ कर दिया।

वररुचि के व्याकरण-ग्रंथ प्राकृत-प्रकाश में प्राकृत के चार भेद महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी तथा पैशाची वतलाये गये हैं। हेमचन्द्र ने इनमे चूलिका पैशाची तथा अपभ्र श और सम्मिलित कर दिये।[1] आगे चलकर ये पट्भापाएँ वडी प्रसिद्ध हुई।[2]

---

(१) कुमारपाल चरित, हेमचन्द्र, प्रकाशक-भडारकर ओरियटल रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना (१९३६) पाद टिप्पण पृ० ६३५

(२) मख के श्री कठ चरित मे पट्भापाओं का इस प्रकार उल्लेख किया गया है—
प्राकृत सस्कृत मागध पिशाच भापाश्च शौरसेनीच
पष्ठो अत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रश । २।५२

यद्यपि समस्त बौद्ध सैद्धान्तिक साहित्य पालि में ही लिखा गया है, किन्तु किसी प्रदेश विशेष से उसका सम्बन्ध निश्चितरूप से ज्ञात न होने के कारण, संभवतः प्राकृत-भाषा-भेद-निरूपण मे उसे स्थान न मिल सका।

जिस प्रकार बौद्धो ने अपने सिद्धान्त ग्रंथो के लिये पालि को अपनाया, उसी प्रकार जैनो ने अर्ध-मागधी प्राकृत मे अपने सिद्धान्तग्रन्थो की रचना की। अर्धमागधी के प्रति जैनों का विशेष अनुराग होने का प्रधान कारण यह था कि उनके विश्वास के अनुसार भगवान महावीर ने अपने उपदेश इसी भाषा मे दिये थे।[1] जैनो के द्वादशाग, द्वादशोपाग, दश पइण्ण, छ खेदसुत्त, चार मूलसुत्त आदि शास्त्रीय ग्रथ अर्धमागधी के ही हैं। परन्तु जैन सिद्धान्तेतर साहित्य मुख्यत. महाराष्ट्री तथा शौरसेनी प्राकृत मे ही लिखा गया है। कुछ विद्वान इन दोनो को पृथक् भाषाएं न मान कर एक ही भाषा की दो शैलियाँ मानते हैं।[2] हरिभद्र की समराइच्च कहा (८ वी शताब्दी वि०) के पद्य-भाग मे महाराष्ट्री तथा गद्य-भाग मे शौरसेनी का प्रयोग हुआ है। परन्तु यह निश्चित है कि प्राकृतो मे महाराष्ट्री को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।[3] विमलसूरि का पउम चरिय (वि० स० ६०), हाल शातवाहन (वि० प्रथम शताब्दी) की सप्तशती, प्रवरसेन (वि० ५ शताब्दी) का सेतुबध, वाक्पतिराज का गउडवहो, हेमचन्द्र का कुमारपाल चरित (वि० १० शताब्दी) तथा राज शेखर (वि० १० शताब्दी) की कर्पूर मजरी महाराष्ट्री प्राकृत की प्रमुख रचनाएं हैं। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची प्राकृत मे रची बतलाई जाती है।

प्राकृत मे जैन तथा बौद्ध धर्मों के आश्रय से जहाँ हमे विशाल धार्मिक साहित्य प्राप्त होता है, वहाँ उसमे शुद्ध साहित्यिक रचनाएँ भी प्रचुर सख्या मे उपलब्ध हैं। वास्तव मे इन्ही साहित्यिक रचनाओ के आधार पर प्राकृत को समृद्धशाली समझा गया है। इनमे प्रबध-काव्य, नाटक, कथा-साहित्य, मुक्तक काव्य आदि सभी कुछ है। इन्ही रचनाओ की विभिन्न परपराओ ने भावी अपभ्रश साहित्य को अत्यधिक प्रभावित किया। उदाहरणार्थ प्राकृत के राम-काव्य पउम चरिय (विमल सूरि) की कथा वस्तु को अपभ्रंश में स्वयभू के पउम चरिउ में ग्रहण किया गया है। प्रवरसेन के सेतुबंध महाकाव्य की अलंकृत शैली का प्रभाव भी स्वयभू, पुष्पदंत, धनपाल आदि अनेक अपभ्रंश कवियो मे देखा जा सकता है। इसी प्रकार कथा-साहित्य में गुणाढ्य

(१) भगवच णं अद्धमागही ये भासाये धम्मं
आइक्खयं ना विपणं अद्धमागही भासा। हिन्दी साहित्य का बृहत् इति० भाग १
पृ० २८६ पर उद्धृत

(२) वही, पृ० २९२

(३) महाराष्ट्राश्रयां भाषा प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः। काव्यादर्श, दण्डी, १।३४

की वृहत्कथा, जो दुर्भाग्य से अनुपलब्ध है, अपभ्रंश के भविसयत्त कहा, सिरिपंचमी कहा आदि काव्यो का प्रेरणा-स्रोत मानी जाती है।[१]

कवियो तथा विद्वानो को आदर की पात्री होने के कारण प्राकृत मे विपुल साहित्य रचा गया। वैयाकरणो ने सस्कृत की भाँति उसे भी व्याकरण के कठिन नियमो मे बद्ध करना प्रारभ कर दिया। ईसा को छठवी शताब्दी तक आते-आते वह जन-सामान्य की भाषा से पृथक् होकर शुद्ध साहित्यिक भाषा बन बैठी। प्राकृत की इस पद-प्रतिष्ठा के कारण ही जन-भाषाओ मे से अपभ्रंश को सम्मुख आने का अवसर प्राप्त हो गया।

अपभ्रंश—

प्रारम्भिक निर्देश—अपभ्रंश का शाब्दिक अर्थ, विकृत, च्युत अथवा भ्रष्ट है। प्राकृत-काल मे सस्कृत शब्दो के जो रूप जन-विभागाओ मे तद्भव होकर प्रचलित थे, विद्वानो की दृष्टि मे सामान्यत वे अशुद्ध या भ्रष्ट माने जाते थे। इन्ही अपाणिनीय शब्दो को अपभ्रंश सज्ञा दे कर विद्वानो ने उन शब्दो के प्रति अपने हीन दृष्टिकोण का परिचय दिया।[२]

अपभ्रंश का प्राचीनतम निर्देश भर्तृहरि (५वी शताब्दी ई०) ने सग्रहकार व्याडि के मत का उल्लेख करने हुए, अपने वाक्य पदीयम् मे किया है।[3] सग्रहकार व्याडि का समय पतजलि (२ शताब्दी ई० पू०) से भी पूर्व का है, क्योंकि महाभाष्य मे उनका उल्लेख प्राप्त होता है।[४]

भर्तृहरि के इस प्रमाण के आधार पर अपभ्रंश को प्राचीनता का निश्चय अधिक सगत नही प्रतीत होता, क्योकि स्वय सग्रहकार का कोई प्रामाणिक ग्रथ अभी तक उपलब्ध नही हैं। परन्तु इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ई० पू० की दूसरी शताब्दी से भी पूर्व अपभ्रंश शब्द का प्रयोग अवश्य होता था। इसका प्रमाण पतजलि का महाभाष्य है, जिसमे सर्व-प्रथम स्पष्ट रूप से अपभ्रंश शब्द अपाणिनीय शब्द-रूपो के लिये प्रयुक्त हुआ है। महाभाष्यकार ने सोदाहरण समझाया है कि गौ जैसे तत्सम शब्द साधु शब्द हैं। इसके गावी, गोणी, गोता,

---

(१) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ३०६

(२) हिन्दी काव्य-धारा, राहुल, भूमिका पृ० ५ तथा हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, रामकुमार वर्मा, पृ० ६३।

(३) वाक्यपदीयम्, वार्तिक, काण्ड १, कारिका १४८।

(४) महाभाष्य, किलहार्न, भाग ३ पृ० ३५६।

गोपोतलिका आदि जन-सामान्य मे प्रचलित रूप अपशब्द या असाधु शब्द है ।[1]

पतंजलि की इस उक्ति मे तत्कालीन विद्वत्समाज का इन शब्दो के प्रति दृष्टि-कोण स्पष्ट परिलक्षित होता है । परवर्ती आचार्यों ने भी स्वमत-स्थापन मे इन्ही उदाहरणो का प्रयोग किया है ।[2] गो के लिये बगला मे गावी तथा सिन्धी मे गोणी शब्द अभी तक प्रचलित हैं ।

भरत मुनि (ई० १-२ शताब्दी) के समय मे व्यवहृत लोक-भाषाओ मे अपभ्रश शब्द प्रचुर मात्रा मे प्रचलित हो गये थे । उन्होने तत्कालीन शब्दो का वर्गीकरण करते हुए उन्हे तीन वर्गों मे विभाजित किया है, यथा तत्सम, तद्भव तथा देशी ।[3] ये तद्-भव अथवा विभ्रष्ट शब्द ही अपभ्रश शब्द हैं । भर्तृहरि ने संस्कार-हीन शब्दो को[4] तथा दण्डी (७ वी शताब्दी ई०) ने शास्त्र मे संस्कृत से इतर शब्दो को अपभ्रश कहा है ।[5]

उक्त विवेचन का साराश यह है कि २ शताब्दी ई० पू० के समय, तद्भव शब्दो के रूप मे, तत्कालीन भाषाओ मे जो प्रगतिशील तत्व प्रकट होने प्रारम्भ हुए, विद्वानो की अभिरुचि के अनुकूल न होने के कारण वे अपभ्रश सज्ञा से सबोधित किये गये । इस प्रकार आरम्भ मे शब्दो के लिये ही अपभ्रश का व्यवहार हुआ, भाषा मे उसका प्रयोग बाद की बात है ।

भाषा के रूप मे विकास—

ईसा की प्रथम शताब्दी से लेकर लगभग चौथी-पाँचवी शताब्दी तक के काल मे अपभ्रश की विभिन्न विशेषताएँ तत्कालीन लोक-भाषाओ के साथ-साथ चलती रही । इस समय तक विद्वान् वर्ग प्रायः सस्कृतेतर भाषा के लिये प्राकृत तथा संस्कृतेतर शब्दो के लिये अपभ्रश का ही निर्देश करते थे । अपभ्रंश नाम को किसी पृथक् भाषा का अस्तित्व अभी तक नही था परन्तु नाट्यशास्त्र से विदित होता है कि साहित्यिक अपभ्रश की

---

(१) भूयासोऽपशब्दाः अल्पीयासः शब्दा इति । एकस्यैव शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिका इत्येवमादयो-ऽपभ्रंशाः । महाभाष्य, १ । १ । १

(२) प्राकृत लक्षणम् (चड) २ । १६—गौर गावी । सिद्धहैमशब्दानुशासन, ८ । २ । १७४, पृ० ४६७

(३) नाट्यशास्त्रम्, १० । ३

(४) वाक्यपदीयम्, काण्ड १, कारिका १४८

(५) शास्त्रे तु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् । काव्यादर्श १ । ३६

उकार वहुलत्व की विशेपता पश्चिमोत्तर प्रदेश की भापाओ मे अवश्य विद्यमान थी।[1] भरत मुनि ने छदो के उदाहरणो के लिये जो काव्याश उद्धृत किये हैं, उनमे भी उकार के अतिरिक्त सज्ञा, सर्वनाम, उन्न स्वार्थिक प्रत्यय, तुकान्त आदि अपभ्रश भापा की अन्य विशेपताएँ प्राप्त होती है।[2] डॉ० पी० एल० वैद्य ने भी धम्मपद (ई० पू० १ शताब्दी से १ शताब्दी ई०), ललित विस्तर (४-५ शताब्दी ई०) आदि बौद्ध ग्रथो मे उपलब्ध उकारान्त नाम और आख्यात शब्दो का ओर ध्यान आकर्षित किया है।[3]

आभीर तथा गुर्जर जातियो का योग—

अपभ्रश भापा के उत्कर्प मे आभीर-गुर्जर जातियो ने महत्वपूर्ण योग दिया है। महाभारत[4] से प्रमाणित होता है कि ई० पू० दूसरी शताब्दी मे पश्चिमोत्तर भारत के प्रदेशो मे गोपालक और घुमक्कड आभीर जाति फैली हुई थी।[5] इसके अतिरिक्त काठियावाड मे प्राप्त सन् १८१ ई० के महाक्षत्रप रुद्र दमन के अभिलेख, नासिक के सन् ३०० ई० के अभिलेख, सन ३६० ई० के समुद्रगुप्त के प्रयाग के लौह-स्तम्भ के लेख तथा जान इलियट, एन्थोवेन आदि विद्वानो के प्रमाणो के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि ई० पू० का कुछ शताब्दियो से लेकर ८-९ शताब्दी तक के समय में काठियावाड, राजस्थान, गुजरात खानदेश आदि प्रदेशो मे दूर-दूर तक आभीरो का आधिपत्य रहा है।[6] भरत मुनि ने आभोरो द्वारा बोली जाने वाली जिस भापा का सकेत किया है[7], वह अपभ्रश ही है। आगे चलकर दण्डी ने भी काव्य में आभीरो आदि को भापा को अपभ्रश कहा है।[8]

अपभ्रश के प्रसार मे गुर्जर जाति को भी महत्व दिया जाता है। इतिहासकार लिखते हैं कि ईसा की छठी शताब्दी मे गुजरात तथा भडोच के प्रदेशो पर

---

(१) हिमवत् सिन्धु सौवीरान् ये अन्य देशान् समाश्रिता.
उकार बहुला तेपु नित्य भापा प्रयोजयेत। नाट्यशास्त्र, १७। ६२

(२) मोरुल्लउ नच्चन्तउ, महागमे समत्तउ
हेउ हतुँणेइ जोण्हउ, णिच्च, णिप्पहे एहुचदहु। नाट्यशास्त्र, अ० ३२

(३) हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग, भूमिका पृ० ८-९

(४) डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार इसका वर्तमान रूप ईसा की पाचवी शताब्दी में पूर्ण हो चुका था। (हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १६८)

(५) वही, पृ० २४

(६) विवरण के लिए देखिये—हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग, पृ० २७-२८

(७) आभीरोक्ति शावरी स्यात् द्राविडी द्रविडादिपु। नाट्यशास्त्र, १७-५५

(८) आभीरादि गिर काव्येष्वपभ्रश इति स्मृता। काव्यादर्श, १-३६

गुर्जरो का अधिकार हो गया था।[1] अपनी शक्ति तथा संगठन के बल पर गुर्जरो ने धीरे-धीरे समस्त पश्चिमी भारत में अपनी स्थिति अत्यन्त सुदृढ कर ली थी। इन्ही के कारण उस क्षेत्र का नाम गुजरात प्रसिद्ध हुआ। इन्होने अपभ्रंश को पर्याप्त संरक्षण दिया। अद्यावधि उपलब्ध होने वाला अधिकाश अपभ्रंश साहित्य गुजरात के पाटण, अहमदाबाद आदि स्थानो तथा उनके निकटवर्ती क्षेत्रो के ग्रंथागारो से प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार आभीर-गुर्जर आदि जातियो के आश्रय एवं प्रोत्साहन के फलस्वरूप देश के विभिन्न भागो, विशेष रूप मे उत्तरी तथा पश्चिमी प्रदेशो मे अपभ्रंश एक लोक-प्रिय भाषा बनने मे समर्थ हुई। पश्चात् दण्डी के समय तक आते-आते वह सामान्य स्तर से ऊँचे उठकर काव्य-भाषा तक बन गई। उसका क्षेत्र भी विस्तृत हो गया।

साहित्यिक रूप-धारण—

ईसा की तृतीय शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक का समय अपभ्रंश के निर्माण मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस काल मे एक ओर प्राकृत भाषाएँ साहित्यिक रूढियो मे बद्ध होकर जन-सामान्य से दूर हो रही थी। दूसरी ओर अपभ्रंश अपनी लोक-विशेषताओ के साथ साहित्य-रंगमच पर पदार्पण करने का उपक्रम करती रही। संक्षेप मे यह अपभ्रंश का उदयकालीन समय था, अतः संस्कृत-प्राकृत के ग्रन्थो मे यत्र-तत्र अपभ्रंश के अशो को देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त उसकी कोई स्वतन्त्र रचना नही प्राप्त होती। कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में अपभ्रंश के कुछ छन्द प्राप्त होते हैं, जिनमे राजा पुरुरवा की विक्षिप्तावस्था के उद्‌गार हैं। इसकी भाषा पर प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है।[2]

डॉ० तगारे ने अपभ्रंश की कुछ प्रवृत्तियो को विमल सूरि के पउम चरिय तथा बौद्ध गाथा-साहित्य मे भी पाये जाने का सकेत किया है।[3] इसके अतिरिक्त भरतमुनि के नाट्यशास्त्र (३२ वें अध्याय) मे उद्‌धृत कुछ काव्य-अंशों मे अपभ्रंश

---

(१) श्री डी० आर० भंडारकर तथा ए० एम० टी० जैक्सन के मत, हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २६ पर उद्‌धृत।

(२) उदाहरणार्थ यह छन्द देखिए—

मइं जाणिअं मिअलोअणि णिसिअरु कोइ हरेइ।
जाव णु णव तडि सामलो धाराहरु वरिसेइ।

द्रष्टव्य है कि इसी आधार पर डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या साहित्यिक अपभ्रंश का प्रारम्भ ४०० ई० से मानते हैं। इंडो आर्यन और हिन्दी, पृ० ११७।

(३) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, भूमिका पृ० १।

को कतिपय विशेषताएँ प्राप्त होती हैं।[1] इससे स्पष्ट होता है कि विद्वानों का ध्यान प्राकृत के साथ ही अपभ्रंश की ओर भी जाने लगा था तथा उसे भी काव्य-रचना के उपयुक्त समझा जाने लगा था।

लगभग इसी समय के (६ ठी शताब्दी) वलभी-नरेश धरसेन (द्वितीय) ने एक लेख में अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं में काव्य-रचना करने में प्रवीण बतलाया है।[2] इसी काल के प्राकृत वैयाकरण चण्ड[3] तथा संस्कृत आलंकारिक भामह भी[4] अपभ्रंश को काव्योपयोगी भाषा मानते हैं। महाराज हर्ष के समकालीन महाकवि बाण ने भी हर्ष चरित में अपभ्रंश का संकेत किया है।[5]

निष्कर्ष यह है कि छठी-सातवी शताब्दी तक अपभ्रंश काव्य-रचना के लिये उपयुक्त मानी जाने लगी तथा उसमें साहित्य-निर्माण भी होने लगा। परन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि अभी तक उसे अशिष्टों की भाषा ही समझा जाता रहा। दण्डी के आभीरादिगिर से अपभ्रंश के विषय में तत्कालीन विद्वत्समुदाय के मनोभावों का परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त उन्होंने वाङ्मय के चार भाग—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा मिश्र करने के उपरान्त, शास्त्रीय ग्रन्थों में असंस्कृत भावों को अपभ्रंश संज्ञा दी है।[6]

दण्डी के पश्चात् अपभ्रंश की लोकप्रियता के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। रुद्रट ने षट् भाषाओं में अपभ्रंश की गणना भी की है।[7] कुवलयमालाकार उद्योतन सूरि (७७८ ई०) ने अपभ्रंश को काव्य की वह शैली मानी है, जिसमें प्राकृत और संस्कृत दोनों की शैलियों का मिश्रण हो, जिसमें संस्कृत-प्राकृत पदों की तरंगों का रिंगण हो एवं जो प्रणय-कोप से युक्त कामिनी के आलाप की भाँति मनोहर हो।[8]

---

(१) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० १६।

(२) संस्कृत प्राकृतापभ्रंश भाषा त्रय प्रतिबद्ध प्रबंध रचना निपुणतरांतःकरण।
(हिस्टारिकल इंस्क्रिप्शन आफ गुजरात, जी० वी० आचार्य, सं० ५०)

(३) प्राकृत लक्षणम्, ३।२।३७। (४) काव्यालंकार, १।१६।२८।

(५) दोहाकोश, राहुल, पृ० ७। (६) काव्यादर्श, १।३२।

(७) प्राकृत संस्कृत मागध पिशाच भाषाश्च शौरसेनीच।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंश। काव्यालंकार २।१२।

(८) ता किं अवहंस होइइ। तं सक्कय पायं उभय सुद्धासुद्ध पय समतरंग रंगंत वग्गिर ......पणयकुविय पिय माणिणि समुल्लाव सरिस मणोहरं।
अपभ्रंश काव्यत्रयी, लालचन्द भगवानदास गांधी,
पृ० ६७-६८।

इससे स्पष्ट होता है कि ८वी शताब्दी तक अपभ्रंश की ध्वनियों तथा पदो का रूप स्थिर नही हो सका था। वह मुख्यत शौरसेनी प्राकृत का आधार लेकर चल रही थी।

१०-१२ वी शताब्दी का समय अपभ्रंश के चरम उत्थान का काल है। इस काल मे न केवल अपभ्रश के उत्तमोत्तम साहित्य का ही निर्माण हुआ है, वरन् उसे राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। राजशेखर ने काव्यमीमासा (१० वी शताब्दो) मे राज-सभाओ मे सस्कृत-प्राकृत के कवियो की श्रेणी मे अप० कवियो के बैठने का निर्देश किया है। इसी प्रसग मे वे कवियो के साथ समाज के विभिन्न वर्गों के मनुष्यो के बैठने की व्यवस्था भी बतलाते हैं। उनके अनुसार अपभ्रंश के कवियो के साथ चित्रकार, जौहरी आदि मध्यम वर्ग के व्यक्तियो को स्थान दिया जाता था।[1]

परन्तु सामान्य जन-समुदाय से सम्बन्धित रहते हुए भी, अपभ्रश तत्कालीन साहित्यिक क्षेत्र मे आदर की दृष्टि से देखी जाने लगी थी। अब वह आभीरो अथवा अशिष्टो की भाषा न होकर शिष्ट-समुदाय की भाषा बन गई। पूर्वी बौद्ध प्राकृत व्याकरणकार पुरुषोत्तम (११ वी शताब्दी ई०) अपभ्रंश को शिष्टो की भाषा स्वीकार करता है।[2] जिनदत्त (१२०० ई०) की विवेक-विलासिता (८।१३१) तथा अमरचन्द्र (१२५० ई०) की काव्य-कल्पलता-वृत्ति (पृ० ८) मे भी अपभ्रंश को इसी प्रकार गौरवान्वित किया गया है। इस समय तक अपभ्रश भाषा का पूर्ण परिष्कार भी हो चुका था जिसकी उपेक्षा न कर सकने के कारण हेमचन्द्राचार्य को सस्कृत-प्राकृत का व्याकरण रचने के पश्चात अपभ्रश के व्याकरण की रचना करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। यह व्याकरण सिद्धहेमशब्दानुशासन के अष्टम् अध्याय मे है।

अपभ्रंश का क्षेत्र—

भरतमुनि ने जिस उकार बहुला भाषा के हिमवन्, सिन्धु, सौवीर आदि पश्चिमोत्तर प्रदेशो में प्रयुक्त होने का उल्लेख किया है, विद्वानो के मत से वह अपभ्रश से मिलती-जुलती भाषा थी।[3] यह भाषा आभीरों की स्थानीय बोली के रूप मे प्रचलित थी। कालातर में जब आभीरो का प्रमुत्व काठियावाड, राजस्थान, मालवा तथा पश्चिम-दक्षिण के प्रदेशो तक बढा, तब अपभ्रश का क्षेत्र भी उन्हीं के साथ साथ विस्तृत होता गया। राजशेखर का कथन है कि जिन प्रदेशो मे आभीर प्रबल थे, वहाँ के निवासियो की प्रधान भाषा अपभ्रश ही थी। जहाँ गौड अथवा

(१) काव्य मीमांसा, पृ० ५४-५५।
(२) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० ३।
(३) हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २३।

बंगाल के निवासी संस्कृत में तथा लाट या गुजरात के प्राकृत में विशेष रुचि रखते थे, वहाँ मरुभूमि, टक्क और भादानक के लोग अपभ्रंश का प्रयोग करते थे।[1] उसने यह भी कहा है कि सुराष्ट्र तथा त्रवण (मारवाड) में जन-सामान्य अपभ्रंश ही बोलते थे।[2] यहाँ मरुभूमि का अभिप्राय राजस्थान से तथा टक्क का सिंधु एवं विपाशा के मध्यवर्ती क्षेत्र से है। भादानक की स्थिति विवाद-ग्रस्त है। एन० एल० डे महोदय भागलपुर से नौ मील दक्षिण में स्थित भदरिया को भादानक मानते हैं, जबकि डॉ० उदय नारायण तिवारी पश्चिमोत्तर प्रदेश में उसे टक्क के आस-पास का कोई स्थान बतलाते हैं।[3] हजारी प्रसाद जी द्विवेदी के अनुसार यह बुन्देलखंड में कोई स्थान था।[4] जो हो, पर इतना तो निश्चित है कि राजशेखर के समय में यह कोई प्रसिद्ध स्थान रहा होगा।

वस्तुतः १० वीं शताब्दी तक अपभ्रंश किसी क्षेत्र विशेष की भाषा न रह कर प्रायः समस्त भारत (सुदूर दक्षिण को छोडकर) की साहित्यिक भाषा थी। हाँ, यह अवश्य है कि इतने अधिक क्षेत्र-विस्तार के कारण उसमें स्थानीय भेदों का होना स्वाभाविक ही था। तो भी उस समय पश्चिमी अपभ्रंश (शौरसेनी) को टकसाली भाषा माना जाता था। इसी बात पर बल देते हुए डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने पूर्व के कवियों द्वारा पश्चिमी अपभ्रंश में कविता करने की परम्परा को बहुत बाद तक चलती रहने का उल्लेख किया है।[5] पूर्व-पश्चिम की अपभ्रंश में अभेद स्थापित करते हुए श्री मोदी ने दक्षिण की अपभ्रंश को भी पश्चिमी अपभ्रंश के अनुरूप बतलाया है। इस प्रकार वे गुजरात के हेमचन्द्र, मान्यखेट (दक्षिण) के पुष्पदन्त तथा बंगाल के दोहाकोशों एवं चर्यापदों के रचयिता सरह, कण्ह आदि बौद्ध सिद्धों की अपभ्रंश को एक ही कोटि का होना सिद्ध करते हैं।[6]

अपभ्रंश को इतनी तीव्र गति से देश के विशाल भू-खंड की भाषा बनाने का सर्वाधिक श्रेय तत्कालीन राजाओं को है। अद्यावधि उपलब्ध अपभ्रंश रचनाओं के अध्ययन से प्रतीत होता है कि पश्चिमी तथा दक्षिणी भारत में दिगम्बर जैन

---

(१) काव्य मीमांसा, पृ० ५१। (२) वही, पृ० ३४।

(३) हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, भारती भंडार प्रयाग (सं० २०१२), पृ० १२२।

(४) हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २५।

(५) ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लेंग्वेज, भूमिका पृ० ९१।

(६) हेमचन्द्र नु अपभ्रंश, पुष्पदंतनु अपभ्रंश अने दोहाकोशनु अपभ्रंश एक ज अपभ्रंश छे।

अपभ्रंश पाठावली, श्री मधुसूदन चिमनलाल मोदी, भूमिका पृ० १८।

तथा पूर्व मे बौद्ध-सिद्ध अपभ्रश के प्रधान उन्नायक थे। अपभ्रश के इस उन्नयन में जिन राजाओ ने महत्वपूर्ण योग दिया, उनमें राष्ट्रकूट अग्रणी थे। १० वी शताब्दी में राष्ट्रकूट साम्राज्य के पतन के पश्चात्, गुजरात अपभ्रश का केन्द्र बना। पाटण के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल ने अपभ्रश को पर्याप्त प्रश्रय दिया। उधर पूर्व मे पाल राजाओ ने उसे संरक्षण दिया।

अपभ्रश के इस बहु प्रदेशीय उत्थान मे मध्य देशवर्ती कान्यकुब्ज साम्राज्य ने कोई सहयोग नही दिया। ११-१२ वी शताब्दी मे वहाँ प्रतापी गाहडवालो का आधिपत्य था, परन्तु वे सस्कृत के प्रेमी थे। श्री हर्ष जैसे सस्कृतज्ञ उनके दरबार की शोभा बढाते थे।

कश्मीर मे संस्कृत तथा कश्मीरी भाषाओ में लिखे तत्वसार, लल्लावाक्यादि कुछ शैव-सिद्धान्त के ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं, जिनमें यत्र-तत्र अपभ्र श के पद्य भी है।[1] इससे प्रतीत होता है कि अपभ्रश का प्रभाव कश्मीर तक पहुँच गया था। इसके अतिरिक्त मुलतान मे अब्दुल रहमान (११ वी शताब्दी) ने, आसाइय मे मुनि कनकामर (१०६५ ई०) ने, मिथिला मे विद्यापति ने, धारा मे देवसेन (९३३ ई०) ने एव ग्वालियर मे रइधू (१५–१६ वी शताब्दी) ने अपभ्रश काव्य-रचना की।

अपभ्रंश के भेद—

क्षेत्र-विस्तार के कारण अपभ्र श की एक रूपता मे अनेक रूपता होना स्वाभाविक ही है अत विद्वानो ने उसके विविध भेदो की चर्चा की है, रुद्रट[2] तथा विष्णुधर्मोत्तर के कर्त्ता ने[3] देश-भेद के आधार पर अप० के अनेक रूपो के होने का निर्देश किया है। प्राकृतानुशासन (पुरुषोत्तम कृत, १२ वी शताब्दी) मे अप० के तीन भेदो का उल्लेख है, ये हैं—नागरक, व्राचड तथा उपनागरक। शारदा तनय (१३ वी शता०) ने नागरक ग्राम्य तथा उपनागरक भेद गिनाए हैं।[4] इसी प्रकार नमिसाधु ने उपनागर, आभीर एवं ग्राम्य तथा मार्कण्डेय (१७ वी शताब्दी) ने नागर, उपनागर तथा व्राचट के उल्लेख किये हैं।[5] पुरुषोत्तम तथा मार्कण्डेय के भेद प्रायः एक से हैं। मार्कण्डेय ने

---

(१) अपभ्रंश साहित्य डा० हरिवंश कोछड़, पृ० ४४।
(२) षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश विशेषादपभ्रंशः। काव्यालंकार, २। १२
(३) देश भाषा विशेषेण तस्यान्तो नैव विद्यते। विष्णुधर्मोत्तर, ३।३
(४) भाव प्रकाशन, प्रकाशक-ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३० पृ० ३१०
(५) काव्यालङ्कार टीका, २।१२ तथा प्राकृत सर्वस्व, ७

अपभ्रंश के २७ प्रभेदो को भी गिनाया है।[1] परन्तु विद्वानो ने उनमे से अनेक को मान्य नही समझा।[2]

अपभ्रंश के भेदो मे नागर प्रमुख है। इसकी उत्पत्ति के विषय मे कहा गया है कि यह पजाव के ठक्क अथवा टक्क प्रदेश की बोली ठक्की की एक शाखा, जो गुजरात की ओर गई और अहमदावाद के नगर बडनगर में प्रतिष्ठित हुई, से विकसित हुई थी। नगर से ही नागर ब्राह्मणो की उत्पत्ति भी मानी जाती है। इसके परुष वर्णों को शौरसेनी के अनुसार मृदुल बनाया गया।[3] आगे चलकर नागर तथा शौरसेनी मे कोई भेद न रहा।

कुछ आधुनिक विद्वानो ने भी अप० के क्षेत्रीय विभाजन किये हैं। डॉ० याकोबी ने उपलब्ध रचनाओ के स्थान को आधार मान कर, उसके उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी तथा पश्चिमी चार भेद किये हैं।[4] डॉ० तगारे का विभाजन भी वैसा ही हैं, परन्तु उन्होंने उत्तरी अपभ्रंश को स्वीकार नही किया।[5] डॉ० तगारे ने पश्चिमी अपभ्रंश मे जिन १५ कवियो की रचनाओ को स्थान दिया है, उनमें कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक (चतुर्थ अक), जोइदु (६-१० शताब्दी) के परमार्थ प्रकाश तथा योगसार, रामसिंह (१० वी शताब्दी) का पाहुड दोहा, धनपाल की भविसयत्तकहा, हरिभद्र (११५९ ई०) का सनत्कुमार चरिउ, हेमचद्र (११७१ ई०) के सिद्ध हेमशब्दानुशासन तथा कुमारपाल चरिउ के अपभ्रंश छद प्रमुख हैं। दक्षिणी अप० मे पुष्पदत के महापुराण आदि और कनकामर मुनि (९७५-१०२५) के करकडु चरिउ हैं। पूर्वी अप० के अतर्गत कण्ह तथा सरह के दोहाकोश आते हैं। डॉ० तगारे ने इन अप० की व्याकरण सबधी विशेषताओ को भी स्पष्ट किया है। परन्तु कुछ विद्वानो ने इन विशेषताओ को स्थानगत न मानकर शैलीगत मानना श्रेयस्कर समझा है।[6]

डॉ० नामवर सिंह के अनुसार अप० का दक्षिणी-पश्चिमी भेद मौलिक नही है। उनका कथन है कि धनपाल की भविसयत्त कहा, जिसे पश्चिमी अप० की रचना कहा गया है तथा पुष्पदत का महापुराण, जो दक्षिणी अप० के अतर्गत हैं, की रचना एक ही परिनिष्ठित अप० मे हुई है। दोनो रचनाओ मे जो अतर है वह रचयिता भेद

---

(१) व्राचड, लाट, वैदर्भ, उपनागर, नागर, वर्वर, अवन्त्य, पाचाल, टाक्क, मालव कैकय, गोड, ओढ्र, वैवपश्चात्य, पाड्य, कार्णाट, काच, द्राविड आदि
(२) हिन्दी के विकास मे अपभ्रंश का योग, पृ० २७
(३) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, स० २००८ पृ० १०३
(४) सनत्कुमार चरिउ, भूमिका
(५) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, पृ० १९-२०
(६) देखिए-हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २९

के कारण है ।[1] परन्तु वे चर्यापद मे पूर्वी अप० की विशेषताएँ मानते है। इस प्रकार डॉ० सिंह के मत से अप० के पश्चिमी और पूर्वी दो क्षेत्रीय भेद थे, जिनमे पश्चिमी अप० परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अप० उसकी विभाषा मात्र थी ।[2]

डॉ० तगारे के वर्गीकरण को लेकर अन्य मत भी रखे गये हैं। डॉ० भोला शंकर व्यास ने इस वर्गीकरण मे भाषा वैज्ञानिक सिद्धान्तो का अभाव बतलाते हुए उसे अमान्य ठहराया है। उनका निश्चित मत हैं कि १२ वी शताब्दी तक साहित्य मे केवल एक ही भाषा का माध्यम चुना जाता रहा है, और वह थी-शौरसेनी (या नागर) अपभ्रंश ।[3] पूर्वी अप० के सबन्ध मे उनका कथन है कि दोहाकोशो अथवा चर्यापदो की भाषा मे ऐसी कोई विशेपता नही प्राप्त होती, जो उसे मागधी प्राकृत का पुत्री सिद्ध कर सके। इसके विपरीत उसमे शौरसेनी के परवर्ती लक्षण अधिक हैं।[4]

वस्तुत रचना विशेष के स्थान को आधार मानकर भाषा का वर्गीकरण करना सगत नही प्रतीत होता। कारण कि रचयिता परिस्थिति-वश जब चाहे स्थान-परिवर्तन कर सकते है। इस प्रकार एक ही कवि अपनी कुछ रचनाएँ एक प्रदेश मे तथा कुछ दूसरे प्रदेश मे कर सकता है। यदि स्थान के आधार पर उसकी भाषा का वर्गीकरण किया जाये, तो उसकी विभिन्न प्रदेशों को रचनाएँ विभिन्न भाषाओ के अंतर्गत आयेंगी, जो उचित नही। इस दृष्टि से अप० के क्षेत्रीय भेद करना युक्ति-सगत नही जान पडता। दूसरी बात यह है कि अपभ्रंश-काल मे भाषा-भेद इतना अधिक न था, जितना आधुनिक काल मे है। वास्तविकता यह है कि पश्चिम को शौरसेनी अप० ही उस समय को स्टैण्डर्ड भाषा थी। कवियो में चाहे वे पूर्व के रहे हो अथवा दक्षिण के, सबमे मान उसी भाषा का था। डॉ० चाटुर्ज्या का भी यही मत है। वे कहते हैं कि अप० काल मे पूर्व के कवियो ने शौरसेनी अप० का प्रयोग किया है तथा अपनी विभाषा का बहिष्कार किया है। पश्चिमी अप० मे रचना करने की परपरा बहुत बाद तक चलती रही है।[5]

निष्कर्ष यह है कि शौरसेनी अप० ही उस काल की एक मात्र साहित्यिक भाषा थी, जो स्थानीय विशेपताओ के अन्तर मे गुजरात से बंगाल तक तथा कश्मीर से मान्यखेट तक काव्य मे प्रयुक्त होती थी। डॉ० बाबूराम सक्सेना तो उसे केवल काव्य-

---

(१) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ४०

(२) वही, पृ० ४२

(३) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ३१८

(४) वही, पृ ३१७

(५) ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंग्वेज, पृ० ९१

भाषा ही नही वरन् तत्कालीन जन सामान्य के अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार का माध्यम भी मानते हैं।[१] उसका प्रारभिक रूप विक्रमोर्वशीय में तथा परिनिष्ठित रूप हेमचन्द्र के दोहो मे प्राप्त होता है।

अपभ्र श को सज्ञाएं—

सामान्य जन-समुदाय की विभाषाओ से विकसित होने वाली भाषा, साधारणतया देश-भाषा ही समझी जाती है। यही देश-भाषा अपनी समसामयिक साहित्यिक भाषा से प्रेरणा प्राप्त कर अनुकूल परिस्थितियो अथवा निज की प्रवृत्तियो के आग्रह से निरतर विकास करती रहती है। इसी क्रम से कालातर मे नवीन भाषाओ का सृजन होता है। छादस् से सस्कृत, सस्कृत से प्राकृत तथा प्राकृत से अपभ्रश भाषा का उदय इसी प्रकार हुआ है। परन्तु सभी नवीन भाषाएँ अपने समय की साहित्यिक भाषाओ की अपेक्षा लोक-मानस के अधिक निकट होने के कारण दीर्घकाल तक देशी नाम से ही सबोधित की जाती हैं। सस्कृत तथा प्राकृत को पहले देशी ही कहा जाता था।[२] आगे चलकर अपभ्र श को भी वही सज्ञा प्राप्त हुई। प्राय सभी अप० कवियो ने अपनी भाषा को देशी ही कहा हैं।

स्वयभू ने पउम चरिउ की भाषा को देशी बतलाया है।[३] पुष्पदत अपने लघुत्व-प्रदर्शन मे जहाँ देशी के अज्ञान का सकेत करते हैं, वहाँ उनका अभिप्राय अपभ्र श भाषा से ही है—

णउ हामि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छदु देसि ण वियाणमि। मपु० १।८

सकल विधि निधान काव्य के रचयिता नयनदी (११ वी शताब्दी) ने भी आत्मनिवेदन मे देशी का उल्लेख किया है—

अलकार सल्लक्खण देसि छद ण लक्खेमि सत्थातर अत्थमद।[४]

इनके अतिरिक्त अपभ्रश के पद्मदेव (१० वी शताब्दी), विद्यापति, लक्ष्मण देव, पादलिप्त आदि कवियो ने भी अपनी भाषा को देशी ही कहा है।[५]

(१ मध्यदेश का भाषा विकास-लेख। नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५० अ क १-२
(२) हिन्दी के विकास में अपभ्रश का योग, पृ० ७-८
(३) देसी भाषा उभय तडुज्जल। पउम चरिउ, १।२।४
(४) अपभ्रश साहित्य, पृ० १७६ से उद्धृत
(५) क — व्यायरणु देसि सद्दत्थ गाढ। पासणाह चरिउ (पद्म देव)
ख — देसिल बअना सब जन मिट्ठा। कीर्तिलता, पृ० ६
ग — णउ सक्कउ पायउ देस भास। णेमिणाह चरिउ (लखण देव), १।४
घ — पालित्तएण रइया वित्थरओ तह व देसि वयणेहि। पाहुड दोहा, भूमिका पृ० ४१-४२
(पादलिप्त-तरग वती कथा)
— हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास से उद्धृत, पृ० ३१५

इससे स्पष्ट है कि अपभ्रंश के कवियों को अपनी भाषा के लिये अपभ्रंश संज्ञा की अपेक्षा देशी कहना अधिक रुचिकर लगता था। स्वयंभू तो और आगे बढ कर उसे गामिल्ल भास—ग्राम्य भाषा तक कह देते हैं—

छड्डु होन्तु सुहासिय वयणाय
गामिल्ल भास परिहरणाइ।

(पउम चरिउ १।३।११)

इसी स्वर मे स्वर मिलाते हुए आगे तुलसी भी अपनी ग्रामीण भाषा मे लोक-मंगल-कारिणी राम-कथा की रचना करने का उल्लेख करते हैं—

भनित भदेस वस्तु भलि वरणी
राम कथा जग मंगल करणी।[1]
अन्यत्र भी—
श्याम सुरभि पयविशद अति गुणद करहिं तेहि पान।
गिरा ग्राम सिय राम यश गावहिं सुनहिं सुजान।[2]

लोक भाषा की सरलता तथा प्रेषणीयता आदि गुणों के कारण, प्रत्येक युग के प्रतिनिधि कवियों ने उसी मे काव्य करना अधिक श्रेयस्कर समझा।

अपभ्रंश काल में जहाँ लोक-भाषा के हेतु देशी शब्द का प्रयोग होता था, वहाँ हिन्दी के युग में उसे भाषा कहा गया। कबीर ने भाषा को बहता नीर कहा है—

कबिरा संस्कृत कूप जल भासा बहता नीर

तुलसी तो अनेक स्थलों पर मानस को भाषा मे रचित होने की चर्चा करते हैं।[3] केशव ने रामचन्द्रिका के विषय मे भी ऐसा ही उल्लेख किया है।[4]

देशी के अतिरिक्त, अपभ्रंश के लिये अन्य संज्ञाओं का प्रयोग भी मिलता है।

---

(१) राम चरित मानस (रामनरायन लाल, १९२५) पृ० १४
(२) वही, पृ० १५
(३) भासा भणित मोरि मति भोरी।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा भाषा निबधमति मंजुल मातनोति।
(मानस, बालकांड ७)
(४) उपज्यो तेहि कुल मंदमति शठकवि केशवदास, रामचंद्र की चंद्रिका भाषा करी प्रकाश।
(रामचंद्रिका, प्रथम प्रकाश ५)

उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कहा[1] तथा पुष्पदत के महापुराण मे[2] अवहस एव श्रीचन्द के रत्न करड शास्त्र नामक आचार ग्रन्थ में अवभस[3] शब्द का प्रयोग हुआ है।

हेमचन्द्राचाय के पश्चात अपभ्रंश के लिये अवहट्ट का ही निर्देश सामान्यत. प्राप्त होता है। अवहठ, अवहट्ठ, अवहट आदि अवहट्ट के ही रूप हैं। सदेश-रासक[4] मे अवहट्ट, वर्णरत्नाकर[5] मे अवहठ, कीर्तिलता[6] मे अवहट्ठ तथा प्राकृत-पैंगलम्[7] में अवहट शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

अपभ्रंश भाषा की विशेषताए—

भारतीय आर्य भाषाओ की शृ खला मे अपभ्रंश का स्थान एक ओर प्राकृत तथा दूसरी ओर हिन्दी आदि आधुनिक आर्य-भाषाओ को जोडने वाली कडी के रूप मे है। यह ऐसा सधि-स्थल है, जहाँ भाषा में अभूतपूर्व परिवर्तन होते हैं। उसकी व्याकरण सम्बन्धी अनेक मान्यताएँ ढीली पड जाती हैं। भाषा सश्लिष्ट से विश्लिष्ट हो जाती है और उसमें सरलीकरण की प्रवृत्ति प्रधान रूप से दिखाई देती हैं।

सामान्यत अपभ्रश की विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

स्वर तथा व्यजन ध्वनियाँ—अप० स्वर-ध्वनियाँ प्राकृत ध्वनि-समूह के ही अनुरूप है, परन्तु उनमे परिवर्तन की प्रवृत्ति प्राकृत की अपेक्षा अधिक मिलती है। उदाहरण के लिये अप० के शब्दो मे अतिम स्वर को अनिवार्यत ह्रस्व कर दिया जाता है, यथा लेह (लेखा), पावज्ज (प्रवज्या) आदि। इसी प्रकार उपान्त्य स्वर क बनाए रखना, प्राकृत से आये शब्दो मे आदि अक्षर को सुरक्षित रखना, शब्दो के सयुक्त व्यजन मे एक को रखकर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करना आदि अप० की अन्य विशेषताएँ हैं।

---

१) ता किं अवहस होइइ। अपभ्रश काव्यत्रयी (लालचद भगवानदास गाधो) भूमिका पृ० ९७

(२) नउ कउ पायउ पुणु अवहसउ। मपु० ५।८।६

(३) दोहय उवदाहय अवभंसहिं। रत्नाकरड, अपभ्रश साहित्य पृ० ३५१ से उद्धृत

(४) अवहट्टय-सक्कय पाइयमि पेसाइयमि भासाए। सदेश रासक, प्रथम प्रक्रम, ६

(५) पुनु काइनन भाट सस्कृत पराकृत अवहठ पैशाची शौरसेनी मागधी छहु भासाव तत्वज्ञ।

(वर्णरत्नाकर, कल्लोज ६ पृ० ४४)

(६) कीर्तिलता, पृ० ६

(७) प्रकृतपैंगलम् (वंशीधर टीका) गाथा।

अप० में ऋ स्वर अ, इ, उ अथवा रि में परिवर्तित हो जाता है, यथा-रिक्ख (ऋष), रिसि (ऋषि) आदि ।

प्राकृत के शब्दो में एक साथ दो या अधिक स्वर-ध्वनियाँ सामान्यतः जाती है, जैसे-आआस (आकाश)। परन्तु अप० मे दो स्वर-ध्वनियो के स्थान पर य श्रुति आ जाती है, यथा-आयास। आगे चलकर यह प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई देती है।

अप० मे व्यजन-ध्वनियो के परिवर्तन के नियम बहुत कुछ प्राकृत के ही अनुरूप हैं; यथा स्वर मध्यग क्, त् प् का ग्, द्, व् तथा ख् थ् फ् का घ् ध् भ् हो जाता है। उदाहरण के लिये मरगय (मकरत), समिदि (समिति), णरवइ (नरपति) आदि शब्द देखे जा सकते हैं। परन्तु अप० काव्यो मे इस नियम का सर्वथा प्रयोग नही किया गया। शब्दो के मध्य मे व्यजन-ध्वनि लुप्त होकर केवल उसके साथ की स्वर-ध्वनि ही शेष रह जाती है, जैसे-लोइय (लौकिक)। कही विच्छेद के डर से उसके स्थान पर य अथवा व आ जाता है, यथा-अयाल (अकाल), वयण (वदन), रूव (रूप)। कही व्यजन को कोमल भी कर दिया जाता है, जैसे-पुप्फयत (पुष्पदत), कडि (कटि), भडारा (भट्टारक), चिलाअ (किरात) आदि। शब्दो के मध्यवर्ती ख, घ, थ, फ, ध, भ, प्राय. ह हो जाते हैं।

अप० के शब्दो के आरभ में म्ह, ण्ह, और ल्ह के अतिरिक्त अन्य सयुक्त ध्वनियाँ नही आती।[1] यह प्रवृत्ति भी बहुत ही कम दिखाई देती है।

न का रूप अधिकतर ण ही मिलता है।

अप० मे व्यजन परिवर्तन के अन्य उदाहरण भी हैं। ड, न, र प्राय ल हो जाते हैं जैसे पीड-पील, नवनीत-लवणिय तथा सुकुमार सोमाल। इसी प्रकार वाराणसी का वाणारसी, दीर्घ का दीहर आदि विपर्यय भी हो जाते हैं।

मध्यवर्ती व्यजन प्राय. द्वित्व हो जाते हैं। यथा-उपरि (उप्परि तथा एक (एक्क)।

प्रारंभिक य सदैव ज हो जाता है। अप० में वस्तुत य का ध्वन्यात्मक मूल्य कुछ भी नही है।[2] शब्द में आए हुए म का व हो जाता है।

पद-रचना—अप० पद-रचना की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे हलन्त शब्द नही है। प्रत्येक शब्द का अन्त म आ इ ई उ ऊ आदि किसी स्वर से ही होता है। इनमे आ तथा ऊ से अन्त होने वाली सज्ञाएँ प्राय. स्त्रीलिंग होती है।

(१) सिद्धहेमशब्दानुशासन, ८।४ (पृ० ३६८-३६६)
(२) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, अनुच्छेद ५२-५३

अप० मे लिंग की ठीक व्यवस्था नही है। हेमचन्द्र ने अप० के लिंग को अतन्त्र कहा है।[1] फिर उसमे संस्कृत-प्राकृत की भाँति तीन लिंग होते हैं। परन्तु नपुंसक लिंग प्रायः लुप्त होता प्रतीत होता है। आगे चलकर हिन्दी मे तो वह लुप्त ही हो गया। पिशेल ने भी अन्य विभाषाओं की अपेक्षा अप० लिंग-व्यवस्था को परिवर्तनशील माना है।[2]

संस्कृत वचनो में से द्विवचन प्राकृत काल मे ही लुप्त हो गया था। अप० मे भी केवल एक वचन और बहुवचन शेष रह गये। दुगुने का भाव प्राय दो की संख्या द्वारा बतलाया जाता है।

कारक—अप० मे कारको की संख्या बहुत ही कम रह गयी। संस्कृत के सभी कारक अप० तक आते-आते तीन समूहो मे बट गये—

१—प्रथमा, द्वितीया तथा संबोधन

२—तृतीया और सप्तमी

३—चतुर्थी, पचमी और षष्ठी

इनमे भी अंतिम दो समूहो मे प्राय विपर्यय की प्रवृत्ति अधिक मिलती है, जिसके फलस्वरूप सामान्य तथा विकारी दो ही कारक रह जाते हैं।[3] इसके कारण शब्दो के जो रूप संस्कृत में अनेक होते थे, अप० मे अति अल्प हो गये।

अप० मे अनेक परसर्ग स्वतंत्र शब्दो के रूप मे प्रयुक्त होते हैं, जैसे तृतीया के लिये सहुं, तण। चतुर्थी के लिये केहि, रेसि। पचमी के लिए होन्तउ, होन्त, थिउ। षष्ठी के लिए केरअ, केर, कर तथा सप्तमी के लिये मज्झ, मह आदि।

प्रथमा तथा द्वितीया के लिये उ का प्रयोग अप० मे अत्यधिक हुआ है। परन्तु द्वितीया एक वचन के लिये प्राकृत के अ के अनुरूप पुत्त भी मिलता है। इसी प्रकार प्रथमा तथा द्वितीया बहु वचन के लिये पुत्त और पुत्ता दोनों रूप प्राप्त होते है।

सर्वनाम—अप० मे उत्तम पुरुष सर्वनाम के प्रथमा एक वचन मे हउं का प्रयोग होता है। इसका बहु वचन रूप अम्हइं है। अन्य रूपों मे द्वितीया का मइं, तृतीया और सप्तमी एक वचन मे मइं, मइं, मए तथा बहु वचन मे अम्हइं, है। इसी प्रकार चतुर्थी, पचमी एक वचन मे महु, मज्झु तथा बहु वचन मे अम्हहं, अम्हहं, अम्हाण रूप मिलते है।

युष्मत् के प्रथमा एक वचन मे तुम, तहुं तथा बहु वचन मे तुम्हे, तुम्हइं रूप मिलते है। द्वितीया, तृतीया तथा सप्तमी मे सर्वत्र पइं शब्द आया है।

---

(१) लिगम अतन्त्रम्। सिद्धहेम० ८।४।४४५

(२) हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ० ३२२

(३) हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, परिच्छेद ८

धातु-रूप—अप० धातुओं मे आत्मनेपद तथा परस्मैपद दोनो एक रूप हो गये हैं।

संस्कृत के दसो गणो का भेद भी लुप्त हो गया है। भूतकाल के लकारो के स्थान पर कृदंत रूपो का ही व्यवहार होता है। अप० मे अनेक नवीन के विभक्तियो का विकास भी हुआ है। वर्तमान काल के उत्तम पुरुष एक वचन मे उं एव मि के रूप, यथा करउं, पलोयमि तथा बहु वचन मे हु एव मो के रूप यथा-अवयरहुं, गिव-सामो आदि प्राप्त होते हैं। मध्यम पुरुष एक वचन मे सि तथा हि और बहु वचन मे हु के रूप मिलते हैं। अन्य पुरुष के एक वचन मे इ, एइ, (कहइ, करेइ,) तथा बहु वचन मे न्ति एव हुं चिह्न प्राप्त होते हैं।

भविष्य के रूप वर्तमान की भांति होते हैं, परन्तु उनके मध्य में स तथा ह का प्रयोग होता है।

अप० भाषा की उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि उसमे प्राचीन रूढियो के बन्धन से मुक्त होने का प्रयत्न किया गया है। भाषा के प्रत्येक क्षेत्र मे चाहे वह सज्ञा हो अथवा धातु रूप, सरलीकरण की प्रवृत्ति अत्यन्त बलवती प्रतीत होती है।

अपभ्रंश साहित्य का संक्षिप्त परिचय—

यद्यपि काव्य-भाषा के रूप मे अपभ्रंश की प्रतिष्ठा छठी शताब्दी में ही हो चुकी थी, परन्तु उसकी महत्वपूर्ण रचनाएँ ८ वी शताब्दी से पूर्व नही प्राप्त होती। इस काल तक का जो भी अप० साहित्य उपलब्ध है, उसमे कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के अपभ्रंश पद्य उल्लेखनीय हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अंश अप० का आदि-काव्य माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त उद्योतन सूरि (७७८ ई०) की कुवलयमाला कहा मे पद्य के साथ-साथ गद्य के कुछ नमूने भी प्राप्त होते हैं।

ईसा की ८ वी शताब्दी से १३ वी शताब्दी तक अपभ्रंश मे अनेक गौरव ग्रंथ रचे गये। अत. इस काल को हम अपभ्रंश का स्वर्णयुग कह सकते हैं। इसके पश्चात् भी आधुनिक प्रान्तीय भाषाओ के विकास के साथ-साथ अप० की रचनाएँ होती रही। सन १६४३ की भगवती दास रचित मृगांक लेखा चरित नामक चार सन्धियो की एक रचना आमेर शास्त्र भंडार में सुरक्षित है। इसे अप० की अंतिम रचना कह सकते हैं।

अप० मे साहित्य की अनेक विधाओं के माध्यम से मुख्यत: धार्मिक साहित्य ही रचा गया है। इसके प्रणेताओ में जैन तथा बौद्ध प्रमुख हैं। परन्तु इस समय भी जब कि देशी भाषा का प्रभाव अत्यंत व्यापक हो रहा था, ब्राह्मण-सम्मत प्राचीन वैदिक धर्म के श्रद्धालु अनुयायियों की आस्था एकमात्र देववाणी संस्कृत के प्रति पूर्ववत थी। अत उनके निकट अप० का उपेक्षित रहना स्वाभाविक ही था। यही

कारण है कि जहाँ पश्चिम में गुजरात-राजस्थान, दक्षिण मे बरार-महाराष्ट्र तथा पूर्व मे बगाल आदि प्रदेशो मे अप० के विपुल साहित्य का निर्माण हो रहा था, वहाँ वैदिक-धर्मावलम्बी गाहडवाल राजाओ के कान्यकुब्ज प्रदेश मे सस्कृत का ही आधिपत्य था। उनकी राज-सभा में श्रीहर्ष सरीखे विद्वान थे। काशी के दामोदर पडित की उक्ति-व्यक्ति प्रकरण नामक अप० रचना, जो परवर्ती गाहडवालो के समय की है, इसका अपवाद ही मानी जायेगी।

समग्र ज्ञात अप० साहित्य पर दृष्टिपात करने पर प्रतीत होता है कि उसकी अधिकाश रचनाएँ जैन कवियो द्वारा रची गयी हैं। प्राय सभी जैन-ग्रथ, मठो-भडारो से प्राप्त हुए हैं। प्रसगवश यहाँ यह उल्लेख कर देना असगत न होगा कि जैन मतावलम्बियो का यह सामान्य विश्वास रहा है कि उनके महापुरुषो के चरित वर्णन करने वाले अथवा व्रतादि का महत्व प्रतिपादन करने वाले ग्रथो की प्रतियो को श्रावको के पठनार्थ मठो-भडारो मे भेंट करना पुण्य-कार्य है। इसी विश्वास के कारण शताब्दियो तक इन भण्डारो मे विपुल साहित्य सुरक्षित होता रहा। गत कुछ वर्षों मे अनेक देशी-विदेशी विद्वानो के सद्प्रयत्नो तथा अथक परिश्रम के फलस्वरूप कारजा, जैसलमेर, पाटण, अहमदाबाद आदि स्थानो के जैन-भडारो के अनेक ग्रथ रत्नो का परिचय सुलभ हुआ है। इनमे से कुछ ग्रथ सुसम्पादित होकर प्रकाशित भी हुए हैं। भारतीय आर्य भाषाओ के उत्तरकालीन मध्य-युग के साहित्यिक विकास को समझने मे इस साहित्य का विशेष महत्व है।

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अप० साहित्य का वर्गीकरण जैन अप० साहित्य तथा जैनेतर अप० साहित्य के रूप में किया जा सकता है। रचनाशैली की दृष्टि से जैन साहित्य भी प्रबन्ध तथा मुक्तक दो भागो मे विभाजित हो सकता है।

जैन अपभ्रश साहित्य —

(अ) प्रबन्ध साहित्य—अप० के प्राय ग्रथो के रचयिता मुख्यत जैन ही रहे हैं। कुछ इतर कवियो की रचनाएँ भी प्राप्त होती हैं, जिनमे मुलतान के मुसलमान कवि अद्दहमाण (अब्दुल रहमान, १२-१३ शताब्दी) का शृगार-प्रधान काव्य सदेश रासक उल्लेखनीय है।

जैन प्रबन्ध ग्रन्थो की रचना-शैली सस्कृत के रामायण-महाभारत आदि का ही अनुगमन करती है। जैनो ने अपने प्रबन्ध काव्यो को महापुराण, पुराण अथवा चरित प्रभृति सज्ञाएँ दी हैं।

महापुराण मे जैन धर्म के ६३ महापुरुषो (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव तथा ६ प्रति वासुदेव) के जीवन-चरित्रो का वर्णन किया जाता है। इसी कारण इनके नाम त्रिषष्ठि महापुरिस गुणलकार अथवा त्रिषष्टि शलाका

चतुर्मुख अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि थे। अप० काव्य-शैली को निश्चित रूप देने मे इनका महत्व है। प्रबंध-काव्यों मे पद्धडिया (पज्झटिका) छंद को लोक प्रियता सम्भवतः उन्ही के कारण हुई थी। स्वयभू ने आभार प्रदर्शन करते हुए कहा है कि मुझे छड्डणिय, दुवई तथा ध्रुवक से जडा हुआ पद्धडिया छंद चतुर्मुख से ही प्राप्त हुआ है—

छड्डणिय-दुवई-धुवएहिं जडिय।
चउमुहेण समप्पिय पद्धडिय। (रिट्ठणेमि चरिउ, १।१०)

यद्यपि चतुर्मुख की कोई रचना अभी तक प्रकाश में नही आई, परन्तु अन्य कवियो के कथनो के आधार पर उनकी रचनाओ के सबंध मे कुछ निश्चित अनुमान अवश्य किये गये है।

जैन कवियो मे पद्म चरित (रामायण), हरिवंश पुराण (महाभारत-कथा) तथा श्री पचमी कथा अत्यंत लोक-प्रिय रही हैं। अनेक कवियो ने इनके आश्रय से काव्य रचे हैं। जैन होने के कारण चतुर्मुख द्वारा भी इन कथाओ पर काव्य लिखने की कल्पना की गई है। श्री० नाथूराम प्रेमी ने स्पष्ट रूप से चतुर्मुख द्वारा इन काव्यो के रचे जाने का संकेत किया है। स्वयभू छंद मे चतुर्मुख के ४-२,६-८३, ८०, ११२ सख्या वाले छदो मे राम-कथा के प्रसग आये है। चतुर्मुख के पउम चरिउ का अनुमान प्रेमी जी ने इसी आधार पर किया है।[1] इसके अतिरिक्त पुष्पदंत ने महापुराणान्तर्गत अपनी रामायण के प्रारभ मे चतुर्मुख तथा स्वयभू दोनो का स्मरण किया है—

कइराउ सयभु महायरिउ।
तथा—चउमुहहु चयारि मुहाइ जहिं। मपु० ६९।१।७-८

ग्रथारम्भ मे एक बार इनका स्मरण कर लेने के पश्चात् रामायण प्रारम्भ करने के समय पुन. इनका स्मरण करना यह प्रकट करता है कि इन दोनो कवियो ने रामकथा अवश्य लिखी थी। स्वयभू की रामायण-पउम चरिउ की सागानेर वाली प्रति मे भी इसी प्रकार चतुर्मुख की प्रशसा मे तीन छद दिये गये हैं।[2]

चतुर्मुख के हरिवंश पुराण का प्रमाण जैन कवि धवल (१०-११ वी शताब्दी) के हरिवंश पुराण मे उपलब्ध होता है। धवल ने ग्रथ आरम्भ करते हुए कहा है कि मैं चतुर्मुख और व्यास के आधार पर कृष्ण-पाण्डवो की कथा कह रहा हूँ।[3] दूसरा प्रमाण स्वयभू के पउम चरिउ के प्रारम्भ के एक छद से प्राप्त होता है,

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २०९ की पाद टिप्पणी।
(२) वही, पृ० २११
(३) हरिपंडु सुआण कहा चउमुह वासेहिं भासिया जह या।
तह विरयमिलोय पियाजेणण णासेइ दमण पउरं। हरिवंश पुराण १।२
(अपभ्रंश साहित्य, पृ०१०४ से उद्धृत)

जिसमें कहा गया है कि जल-क्रीड़ा वर्णन में स्वयंभू तथा गोग्रहण कथा-वर्णन में चतुर्मुख अद्वितीय हैं।[१] इससे सिद्ध होता है कि चतुर्मुख ने निश्चय ही गोग्रहण-कथा लिखने में अपनी उत्कृष्ट काव्य-कला का परिचय दिया होगा। यह कथा पाण्डवों के राजा विराट् के यहाँ रहते समय दुर्योधन द्वारा गो-हरण करने की है और हरिवंश पुराण में ही आती है।

पउम चरिउ तथा हरिवंश पुराण के साथ ही चतुर्मुख ने श्री पंचमी कथा भी लिखी थी। इसका पता त्रिभुवन स्वयंभू (स्वयंभू के पुत्र) के एक प्रशस्ति-पद्य से लगता है, जिसमें उसने चतुर्मुख अथवा स्वयंभू के पंचमी चरित की काव्य-शैली का अनुकरण न करके स्वतंत्र रूप से पंचमी चरिउ रचने की घोषणा की है।[२]

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि चतुर्मुख एक प्रतिभावान जैन कवि थे, जिन्होंने अपने ग्रंथों द्वारा अप० के भावी प्रबंध-साहित्य को एक निश्चित दिशा प्रदान की। प्रबंध काव्यों की संधि-कडवक शैली उन्हीं की देन मानी जाती है।[३] इनके द्वारा व्यवहृत पद्धडियाछंद प्रबंध काव्यों का एक मात्र प्रधान छंद स्वीकार किया गया है। इनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण ही स्वयंभू-पुष्प० जैसे सर्वश्रेष्ठ कवियों ने इन्हें अपना आदर्श माना है। अनेक परवर्ती कवियों ने अपने ग्रंथारम्भ में चतुर्मुख-स्वयंभू-पुष्पदंत की इस कवि-त्रयी का आदरपूर्वक स्मरण किया है।[४] उन्होंने इस नामावली-क्रम में प्रायः चतुर्मुख को प्रथम स्थान दिया है। अप० के जैन प्रबंध साहित्य के अंतर्गत रामायण (पउम चरिउ) के प्रथम कर्त्ता होने का श्रेय चतुर्मुख को ही है, अतः इन्हें जैन-वाल्मीकि कहा जा सकता है।

खेद है कि ऐसे महाकवि का कोई ग्रंथ अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका, परन्तु भविष्य में जैन-भंडारों के शोध-प्रयास में किसी अनुसंधित्सु को उनके ग्रंथ हाथ लग जाना असंभव नहीं।

स्वयंभू अपभ्रंश के मूर्धन्य कवि थे। अपने जीवन-काल में ही उन्होंने पर्याप्त कीर्ति तथा ऐश्वर्य अर्जित कर लिया था। उनके निकट सम्पन्न एवं सुखी परिवार था

---

(१) जलकीलाए सयंभू चउमुह एवं च गोग्गह कहाए
भद्दं च मच्छवेहे अज्ज वि कइणो ण पावंति। पउम चरिउ १।४

(२) पउम चरिउ, भूमिका पृ० १०८ प्रशस्ति पद्य सं० ४५

(३) जर्नल आफ ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा भाग ७ (१)

(४) हरिषेण (धम्म परिक्खा, १।१) धवल (हरिवंश पुराण, १।३), नयनंदी (सकल विधि निधान काव्य १।५), वीर (जम्बू स्वामी चरिउ) श्रीचंद (रयण करंडु, १।२), लक्खणु (जिणदत्त चरिउ, १।६), देवसेन (सुलोयणा चरिउ, १।३) तथा धनपाल (बाहुबलि चरिउ, १।८)-देखिए-अपभ्रंश साहित्य

आनद, शिष्यों का आदर, समसामयिक जैन विद्वानों का सरक्षण आदि सभी कुछ था। पुष्पदत की यह उक्ति कि वे सहस्रो मित्रो तथा सबंधियो से घिरे रहते थे [1], स्वयभू की लोक-प्रियता की ओर ही संकेत करती है। उनके जीवन मे सासारिक अभावो का कटुता न थी, इसीलिये उनके काव्य मे विलास, उत्साह तथा आनद के सुखमय दृश्यो की झलक मिलती है। डॉ० भायाणी ने इसी आधार पर उनकी तुलना कालिदास से की है।[2]

स्वयभू यापनीय मत के जैन थे। इनका समय ६७७ ई० से ९६० ई० के बीच किसी समय रहा होगा।[3] इन्होंने धनजय तथा धवलइ के आश्रय मे रहते हुए, क्रमश पउम चरिउ एव रिट्ठणेमि चरिउ (हरिवश पुराण) नामक प्रबन्ध काव्यो की रचना की थी। अप० के अब तक के प्राप्त साहित्य मे ये राम तथा कृष्ण काव्य सबधी प्रथम रचनाए हैं।

पउम चरिउ के आरभ मे आत्म-निवदन करते हुए स्वयभू ने बुध-जनो से विनय की है कि मेरे समान कुकवि दूसरा नहीं है, न मैं व्याकरण जानता हूँ, न वृत्ति-सूत्र की व्याख्या ही कर सकता हूँ। न मैंने पच महाकाव्यो (कुमार सभव, मेघदूत, रघुवश, किरातार्जुनीय, माघु) को सुना है, आदि।[4]

पउम चरिउ मे जैन धर्मानुकूल राम-कथा का वर्णन है। जन रामायण का इस परपरा का आदि रूप हमे विमल सूरि के पउम चरिय (प्राकृत) मे प्राप्त होता है। इसके पश्चात् यह परपरा रविषेण (६७७ ई०) से होती हुई स्वयभू मे विकसित हुई है। रविषेण का पद्म चरित्र विमल के ग्रथ का छायानुवाद हो है।[5] आगे चलकर हेमचन्द्र ने अपने त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र मे इसी परपरा का निर्वाह किया है।

पउम चरिउ में राम और सीता को मानवीय गुण-दोषो से पूर्ण चित्रित किया गया है। ग्रथ मे राम-वन-गमन तथा लक्ष्मण-मूर्च्छा के प्रसग अत्यत मार्मिक हैं। जल-क्रीडा वर्णन के अतिरिक्त स्वयभू ने विलाप-वर्णन भी हृदय की सपूर्ण भावुकता के साथ किये हैं। उनके भरत तथा विभीषण के विलाप करुण रस के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

स्वयभू के द्वितीय ग्रथ रिट्ठणेमि चरिउ (हरिवश पुराण) में २२ वें तीर्थंकर नेमि का चरित्र तथा कृष्ण एव महाभारत से सबद्ध कथाएँ हैं।

---

(१) कइराउ सयभु महायरिउ, सो सयण सहासहिं परियरिउ। मपु० ६९ १।७
(२) पउम चरिउ, भूमिका पृ० १३
(३) वही पृ० ९
(४) वही १।३।७
(५) जैन साहित्य और इतिहास, पृ०८९ तथा पउम चरिउ, भूमिका पृ० ८७

त्रिभुवन स्वयंभू इनके पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता के इन ग्रंथो में कुछ न्यूनता देखकर स्वरचित अंश सम्मलित कर दिये। यद्यपि त्रिभुवन भी बड़े विद्वान् थे, परन्तु स्वयभू के समान भाव तथा भाषा का सहज सौंदर्य उनमे नही है।

स्वयंभू के काव्य द्वारा अप० साहित्य को स्थायी शक्ति प्राप्त होने के साथ ही, उसके प्रति लोक-रुचि की वृद्धि भी हुई। चतुर्मुख ने सभवत जिस मार्ग की रूप रेखा प्रस्तुत की थी, स्वयभू ने निश्चय ही उसे प्रशस्त किया, जिसके फलस्वरूप भावी अपभ्रंश के कवियो को उस पर गमन करने मे कोई कठिनाई नही हुई। अप० के परवर्ती कवि नि.सदेह उनके ऋणी रहेगे।

स्वयभू के पश्चात् अपभ्र श के साहित्याकाश मे एक ऐसे प्रकाश-पुंज का उदय हुआ, जिसकी प्रभा से दिक्-दिगन्त आलोकित हो उठा। वे थे—महाकवि पुष्पदंत। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा उत्कृष्ट काव्य-कला की एक स्वर से सराहना की गई है और उन्हे अपभ्रंश का प्रथम श्रेणी का कवि माना गया है।[1]

पुष्पदत ने महापुराण के अतिरिक्त णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ नामक प्रबन्ध काव्य रचे। उनके पश्चात् अनेक प्रबध काव्य लिखे गये। धनपाल (११ वी शताब्दी) कृत भविसयत्त कहा[2] ग्रंथ में श्रुत पचमी व्रत का माहात्म्य वर्णित है। इसका कथानक लौकिक है। कथा के तीन खंडो मे क्रमश श्रृंगार, वीर तथा शान्त रसो की प्रधानता है। ग्र थ का प्रारम्भिक अश स्वयभू के पउम चरिउ से बहुत कुछ प्रभावित है।[3]

कृष्ण कथा पर आधारित तीन हरिवश पुराण और प्राप्त होते हैं। इनके रचयिता हैं—धवल, यशः कीर्ति (१५ वी शताब्दी) तथा श्रुतकीर्ति (१४९६ ई०) इनमे धवल का ग्र थ सबसे विशाल है। उसमे १२२ सधियाँ तथा १८ सहस्र पद हैं। इसका कथानक स्वयभू के अनुरूप है। शेष साधारण रचनाएँ हैं।[4] यश. कीर्ति की एक अन्य रचना पाण्डव पुराण भी है। इसमे पाण्डवो की कथा है।

अपभ्र श चरित ग्रंथो मे कनकामर का करकडु चरिउ, नयनदी का सुदंसण चरिउ, धाहिल का पउम सिरी चरिउ (११३४ ई० से पूर्व) तथा हरिभद्र (११५६ ई०) का सनत्कुमार चरिउ उल्लेखनीय हैं। भगवती दास (१६४३ ई०) का मृगांक

---

(१) (अ) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० १११
(ब) हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २१६ (स) अपभ्रंश साहित्य पृ० ३८
(२) गायकवाड ओरियंटल सीरीज, संपादक दलाल तथा गुणे (१९२३)
(३) डॉ० भायाणी ने भवि० तथा पउम चरिउ के अनेक पदों की तुलना करके यह प्रभाव सिद्ध किया है। देखिए—पउम चरिउ, भूमिका पृ० ३६-३७
(४) विशेष परिचय के लिये देखिए—अपभ्रंश साहित्य पृ० १०७, १२२ तथा १२७

लेखा चरित्र सभवत अपभ्र श का सबसे अंतिम रचना है। भाषा की दृष्टि से इसमे प्राकृत, अपभ्र श तथा हिन्दी-तीनो के रूप स्पष्ट दिखाई देते हैं।[1]

सस्कृत के दशकुमार चरित जैसे ग्रथो की कथा-शैली के अनुरूप जैन-साहित्य मे भी कथा-काव्यो का प्रणयन हुआ है। अप० को यह परपरा प्राकृत से ही प्राप्त हुई। धर्म-प्रचार ही इन ग्रथो का मुख्य उद्देश्य था। कवियो ने लौकिक कथाओ पर जैन धर्म की कलई चढा कर उन्हे उपदेशात्मक बनाने का यत्न किया है। इन ग्र थो मे हरिषेण की धम्म परिक्खा तथा श्रीचद्र का कथा कोश उल्लेखनीय हैं। धम्म परिक्खा ११ सधियो की रचना है। कवि ने ब्राह्मण धर्म पर कठोर व्यग्य किये हैं तथा उनके पुराणो की निंदा करते हुए जैन धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न कराने की चेष्टा की है। कथा कोश ५३ लघु कथाओ का सग्रह है। सभी कथाएँ उपदेशात्मक हैं।

जैन मुक्तक साहित्य—

जैन मुक्तक साहित्य के मुख्य विषय तत्वज्ञान, ब्राह्मणो के विश्वासो का खडन तथा स्वय जैन मत के अतर्गत फैले हुए अन्धविश्वासो एव आडम्बरों का विरोध करना है। इस आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक काव्य की रचना मे कवियो के विशाल-हृदय के दर्शन होते हैं। आत्म ज्ञान के गभीर प्रश्नो को सरल और सुबोध शैली मे स्पष्ट किया गया है। दोहा इन रचनाओ का प्रधान छद है।

इन रचनाओ मे जोइदु (१० वी शताब्दी ई०) के परमात्म प्रकाश तथा योगसार[2] एव रामसिह (११ वी शताब्दी ई०) का पाहुड दोहा[3] प्रमुख हैं। परमात्म प्रकाश मे आत्मा-परमात्मा का स्वरूप, द्रव्य, गुण, पर्याय, सम्यग्दृष्टि के साथ मोक्ष-मार्ग, परम समाधि आदि विषयो का विवेचन है। इन विषयो को देखते हुए कुछ विद्वान् ग्र थ पर उपनिषद् तथा गीता के परब्रह्मवाद के प्रभाव का सकेत करते हैं।[4] इसी प्रकार ग्रथ के शिव-निरजन आदि शब्द भी कवि पर शैव-तान्त्रिक साधकों का प्रभाव सिद्ध करते हैं। योगसार का विषय भी परमात्म प्रकाश के ही अनुरूप है, परन्तु इस रचना की भाषा-शैली अपेक्षाकृत सरल तथा बोध-गम्य है।[5]

---

(१) अपभ्र श साहित्य पृ० २४४

(२) सपादक-डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मडल बम्बई द्वारा प्रकाशित, १९३७ ई०

(३) सपादक—डॉ० हीरालाल जैन, कारजा जैन पब्लिकेशन सोसायटी द्वारा प्रकाशित

(४) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, पृ० ३४६ (भाग १)

(५) उदाहरण-सो सिउ सकरु विण्हु सो, सो रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बभु सो, सो अणतु सो सिद्ध। योगसार, १०५

मुनि रामसिंह के पाहुड दोहा का मुख्य विषय आत्म-ज्ञान संबंधी है । ग्रंथ की शैली भी तान्त्रिक प्रभाव से मुक्त नही है । अचिद्, अजर, रवि-शशि आदि शब्द तान्त्रिको के हैं, जैनो के नही । इसमें तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, तन्त्र-मंत्र आदि के खंडन भी किये गये हैं ।

इसी कोटि की एक अन्य रचना सुप्रभाचार्य (११-१३ शताब्दी) द्वारा रचित वैराग्य सार है । जैसा इसके नाम से ही प्रकट होता है, कवि ने इसमे वैराग्य का महत्व दिखलाया है । प्रारम्भ के दोहे मे ही कहा गया है कि एक घर मे बधाई बज रही है और दूसरे मे दारुण रुदन हो रहा है, अत. वैराग्य क्यो नही धारण करते ।[1]

नीति, सदाचार आदि की शिक्षा देने वाले ग्रंथो मे देवसेन (६३३ ई०) का सावयधम्म दोहा तथा जिन वल्लभ सूरि (१२ वी शताब्दी) का उपदेश रसायन रास उल्लेखनीय हैं ।[2]

जैनेतर अपभ्रंश साहित्य—

इस साहित्य के अन्तर्गत हमें एक ओर बौद्ध सिद्धो का सहज-साधना सम्बन्धी रहस्यवादी काव्य प्राप्त होता है तथा दूसरी ओर धार्मिक आवरण से मुक्त, प्रेम तथा उत्साह की सरस भावनाओ का काव्य भी मिलता है । यह समस्त साहित्य प्रायः मुक्तक शैली मे रचा गया है ।

पूर्वी प्रदेशो के बौद्ध-सिद्धो की संख्या ८४ है[3] परन्तु उनमे काव्य-रचना द्वारा अपने सिद्धान्तो का प्रचार करने वाले बहुत कम थे । प्रसिद्ध सिद्ध कवियो मे सरहपा (७६० ई०), शबरपा (७८० ई०), लुइपा (८३० ई०), कण्हपा (८४० ई०) के नाम उल्लेखनीय हैं ।

सिद्धो का प्रादुर्भाव बौद्ध धर्म की महायान शाखा में हुआ है । तन्त्र-मंत्र तथा मदिरा-मैथुन को ग्रहण करके वही वज्रयान के रूप में विकसित हुआ । नालंदा तथा विक्रम शिला इनके प्राचीन केन्द्र रहे हैं । बंगाल के पाल राजाओ का संरक्षण प्राप्त कर इन सिद्धो ने अपने सिद्धान्तो का पूर्ण शक्ति से प्रचार किया । काया को क्लेश देना

---

(१) इक्कहिं घरे वधामणा अण्णहिं घरि धाहहि राविज्जइ ।
परमत्यइ सुप्पउ भणइ किम वइराय भाउ ण किज्जइ ।
(वैराग्य सार, १), अपभ्रंश साहित्य पृ० ३७६ से उद्घृत ।

(२) देखिए अपभ्रंश साहित्य, पृ० २८३ तथा २८८

(३) विवरण के लिये देखिए—हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ० ७२—७३

तथा मोक्षादि के लिये बाह्य उपकरणो की सहायता लेना इन्हें रुचिकर न था। सहज भाव से चित्त सुस्थिर करके समरसता का दृष्टिकोण रखते हुए निर्वाण प्राप्त करना सिद्धो का प्रधान उद्देश्य था। मानव की स्वाभाविक आवश्यकताओं की पूर्ति साधना के लिये हितकर बताने के कारण, इनका मत सहज मार्ग कहलाता है।

सिद्धो का काव्य दोहा-कोशो तथा चर्यापदो के रूप मे मिलता है। उनके काव्य की दो स्पष्ट धाराएं हैं। प्रथम के अन्तर्गत सहजयानी सिद्धान्तो का प्रचार हुआ है तथा द्वितीय मे ब्राह्मणो के शास्त्र ज्ञान, मन्दिर, तीर्थाटन आदि का उग्ररूप से खडन किया गया है। जैन भी ब्राह्मण-विरोधी थे, परन्तु सिद्धो की भाति उग्र विरोधी नही। जैन तथा बौद्ध साहित्य मे एक सबसे बडा अन्तर यह है कि जैन कवि जहाँ प्राचीन परम्परा के पोषक हैं, वहाँ सिद्ध परम्परा के कठोर विरोधी हैं। जैन-काव्य सस्कृत की वर्णन-शैलो, अलकार आदि काव्यरूपो का अनुगमन करता है, परन्तु सिद्धो का काव्य हृदय की सहज अनुभूति से ही निर्मित हुआ है।

सरहपा तथा कण्हपा प्रसिद्ध सिद्ध कवि थे। इनके दोहा कोश तथा चर्यापदो के सग्रह महामहोपाध्याय प० हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० शहीदुल्ला, डॉ० प्रबोधचन्द्र बागची तथा श्री राहुल साकृत्यायन द्वारा प्रकाशित किये गये हैं।

राहुल जी के अनुसार अपभ्रश का आदि काव्य सरह की रचनाओ के रूप में प्राप्त होता है। इसी आधार पर वे अप० के आदि कवि के रूप मे सरह का नाम लेते हैं।[1] परन्तु सरह के समय के सम्बन्ध मे अभी बडा मतभेद है। डॉ० शहीदुल्ला के अनुसार सरह का समय १० वी शताब्दी है।[2] डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या सिद्धो का काल १००० ई० से १२०० ई० तक मानते है।[3]

सरह ने अत्यन्त कठोर शब्दो मे शास्त्रज्ञ पडितो, ब्राह्मण उपासको, जैन-मुनियो, साधु-सन्यासियो आदि का खण्डन किया है। परम निर्वाण की प्राप्ति उन्होने भोग में ही मानी है।

खाअन्त पिअते सुहहि रमन्ते णित्त पुण्णु चक्का वि भरंते।
अइस धम्म सिज्झइ पर लोअह णाह पाए दलीउ भअलोअह।[4]

कण्ह भी परम-सुख की प्राप्ति के लिये नारी की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनके अनुसार समरसता केवल महामुद्रा से एकाकार हो जाने में ही सभव है—

---

१ दोहाकोश, पृ० ८

२ हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ३५१

३. दि ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बगाली लैंग्वेज, पृ० १२३

४. अपभ्रश साहित्य, पृ० २०, स उद्धृत

जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्त ।
समरस जाई तक्खणे जइ पुणु ते सम चित्त । दोहा ३२[1]

योग-सिद्धान्तो के स्पष्टीकरण के लिये सिद्धो ने अश्लील प्रतीको तथा गूढ पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग किया है। मूलाधार-स्थित कुंडलिनी को जाग्रत करके ब्रह्मरन्ध्र मे ले जाने की हठ-योग सम्बन्धी क्रियाएँ उन्होने रूपको द्वारा व्यक्त की हैं।[2] उन्होने गुरु को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया है।

संक्षेप मे, सिद्ध-साहित्य यद्यपि काव्य-कला की दृष्टि से उच्चकोटि का नही है, परन्तु वह वस्तुत. यथार्थवादी काव्य है। सिद्धो ने जो कुछ भी उचित समझा, नि सकोच सीधे-सीधे शब्दो मे कहते गये हैं।

अपभ्रश-काल के जैन तथा बौद्ध प्रभावो के अन्तर्गत रचे गये साहित्य के विवेचन के पश्चात् हमारी दृष्टि शेष उस साहित्य की ओर जाती है, जो धार्मिक प्रभावो से सर्वथा मुक्त है। यद्यपि इस साहित्य मे अद्यावधि अधिक रचनाएँ उपलब्ध नही हैं, परन्तु युग की प्रवृत्ति को देखते हुए तथा रचनाओ की प्रौढता की दृष्टि से भी, यह अनुमान होता है कि लौकिक साहित्य भी पर्याप्त मात्रा मे लिखा गया होगा और अब उचित सुरक्षा के अभाव मे उसका अधिकाश नष्ट हो गया।

इस कोटि की महत्वपूर्ण रचना सदेश रासक है। इसके रचयिता मुलतान के अद्दहमाण अथवा अब्दुल रहमान हैं। रचना के विषय तथा रचयिता-दोनो ही दृष्टियो से इसका विशिष्ट स्थान है। इस काल के केवल यही एक मुसलमान कवि हैं, जिनका ग्रथ हमे प्राप्त है। इसका विषय किसी धार्मिक महापुरुष का जीवन चरित न होकर एक विरह-व्यथिता नारी का अपने प्रवासी पति को सदेश भेजना है। सदेश प्राप्त होने के पूर्व ही विरहिणी का पति गृह लौट आता है। इस प्रकार कथा का अंत हर्षोल्लास के वातावरण में होता है। रचना मेघदूत की भाँति ही एक दूत काव्य है।

लौकिक साहित्य की एक अन्य रचना विद्यापति (१३५०-१४४७ ई०) की कीर्तिलता है। इसकी रचना अवहट्ट (परवर्ती अपभ्रश) मे हुई है। कवि ने अपने आश्रयदाता कीर्तिसिंह का इसमे चरित्राकन किया है। रचना ४ पल्लवो मे विभाजित है। कही-कही गद्य का भी प्रयोग हुआ है। इसके पद-विन्यास तथा शब्द-योजना पर संस्कृत तथा प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है। अरबी-फारसी के शब्दो का प्रयोग इसकी एक विशेषता है।

अपभ्रश साहित्य के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका विशाल साहित्य अनेक विचार-धाराओ का प्रतिनिधित्व करता है, जिनका परिचय

---

१. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १ पृ० ३५२ मे उद्धृत
२. वही, पृ० ३५३ पर उद्धृत कण्ह का चर्यागान ३

प्राप्त करना, भारत के मध्ययुगीन सास्कृतिक इतिहास को समझने के लिये अति आवश्यक है।

अन्त मे अपभ्रश के उस साहित्य का निर्देश कर देना भी उचित होगा जो सस्कृत-प्राकृत के ग्रथो मे यत्र-तत्र बिखरा हुआ मिलता है, परन्तु उसके रचयिताओ के कोई उल्लेख नही है। यह साहित्य मुक्तक रूप मे है और इसके वर्ण्य-विषय हैं-रति, उत्साह, नीति वैराग्य, अन्योक्ति आदि। इस काव्य के अन्तर्गत हृदय की वास्तविक अनुभूति प्राप्त होती है। विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक का उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके हैं। इसके अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रन्थो मे यह काव्य उपलब्ध होता है—

(१) हेमचन्द्र के शब्दानुशासन का अष्टम् अध्याय, छन्दोनुशासन के कुछ पद्य तथा कुमारपाल चरित (अन्तिम सर्ग, पद्य १४-८२)

(२) सोपप्रभ का कुमारपाल प्रतिबोध

(३) मेरुतुगाचार्य का प्रबध-चितामणि

(४) राजशेखर सूरि कृत प्रबध-कोश

(५) प्राकृत पैगलम्

(६) पुरातन प्रबध सग्रह

इन ग्रन्थो मे सरस काव्य के दर्शन हेमचन्द्र तथा मेरुतुगाचार्य के प्रबध चितामणि मे सग्रहीत मुज के दोहो में होते हैं। इनमे शृगार के दोनो पक्षो के वर्णन अकित किये गये हैं। इन पद्यो मे से सुभाषितो का एक सुन्दर सकलन किया जा सकता है।

अध्याय

२

कवि की समसामयिक परिस्थितियाँ

किसी भी युग का सत्साहित्य अपने समय की कतिपय प्रवृत्तियों को अपने कलेवर मे समाहित करके चलता है। ये प्रवृत्तियाँ तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक आदि परिस्थितियों के अनुरूप ही जन्म लेती है। अपने कवि की समसामयिक इन परिस्थितियों का परिचय प्रस्तुत अध्ययन मे सहायक होगा, अतएव इस अध्याय मे हम उन्ही का विवेचन कर रहे है।

राजनीतिक परिस्थिति (ईसा की ७ वी शताब्दी से १० वी शताब्दी तक)

ईसा की ७ वी शताब्दी मे भारत दो शक्तिशाली साम्राज्यो मे विभक्त था। उत्तर भारत में हर्षवर्धन तथा दक्षिण मे चालुक्य राजकुल के पुलकेशिन द्वितीय अपने अपने भूभाग के अधिपति थे। दोनो के साम्राज्यो की सीमायें नर्मदा पर आकर मिलती थी। अनेक बार दोनो ही राजाओ की तलवारे एक दूसरे की ढालो पर झनझना कर रुक गई थी, परन्तु कोई किसी से विजित न हुआ।

हर्ष की मृत्यु के पश्चात उत्तर भारत में जो विघटन हुआ, उससे देश की सयुक्त शक्ति का बड़ा ह्रास हुआ कश्मीर और सिंध पृथक राज्य बन गये। उधर पश्चिमी राजस्थान तथा मालवा मे गुर्जर-प्रतिहारो ने अपनी शक्ति बढाई। इसी प्रकार मगध मे गुप्त, बंगाल मे गौड तथा प्राग्ज्योतिप (आसाम) मे वर्मन वश के राजाओ ने अपनी सत्ता स्थापित की। फलतः पश्चिम की ओर से अरबो के आक्रमणो को रोकने की शक्ति किसी एक राजा मे न रह गई। इसी अवसर का लाभ उठाकर अरबो ने ७१० ई० मे सिन्ध पर अधिकार कर लिया।

इधर कान्यकुब्ज मे मौखरी वश के राजा यशोवर्मन ने अपनी शक्ति बढ़ाकर दूर-दूर तक ख्याति प्राप्त की। वह विद्वान और कला प्रेमी भी था। उत्तर रामचरित के कर्ता भवभूति तथा गौडवहो (प्राकृत) के रचयिता वाक्पतिराज जैसे विद्वान, उसके दरबार की शोभा बढाते थे। ८०६ ई० में उसकी मृत्यु के पश्चात् आयुध नामान्तधारी-वज्र, इंद्र तथा चक्र राजाओ ने कान्यकुब्ज की लक्ष्मी का भोग किया। इन सभी राजाओ ने कान्यकुब्ज की समृद्धि में बड़ा योग दिया, जिससे उसकी कीर्ति दूर तक फैल गई। देश के अन्य प्रदेशो के शासक इसे हस्तगत करने का स्वप्न देखने लगे।

इस समय भारत में तीन ओर प्रबल शक्तियाँ थी-बंगाल के पाल, मालवा के गुर्जर-प्रतिहार तथा दक्षिण के राष्ट्रकूट। कान्यकुब्ज के लिये इनमे परस्पर होड लग गयी। युद्ध भी हुए, परन्तु अन्त मे गुर्जर प्रतिहार राजा नागभट्ट (द्वितीय) ने कान्यकुब्ज की राज-लक्ष्मी को वरण किया।

कान्यकुब्ज में प्रतिहारो का आधिपत्य होने के पश्चात् उस वंश मे आगे चलकर कुछ बडे प्रतापी राजा हुए। नागभट्ट के पौत्र मिहिर भोज ने समस्त मध्य-देश, मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र आदि जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार किया। उसे पाल तथा राष्ट्रकूटों से भी लोहा लेना पडा, परन्तु कोई उसे न दबा पाया। सुलेमान नामक अरब यात्री ने उसकी समृद्धि का वर्णन किया है।[1] उसका पुत्र महेन्द्र पाल भी प्रतापी राजा था। काव्य मीमांसा, कर्पूर मंजरी आदि ग्रन्थो के रचयिता राज शेखर इसी की राजसभा मे थे। परन्तु महेन्द्र पाल के पश्चात प्रतिहारो की शक्ति क्षीण होने लगी। सन् १०१८ ई० में गजनी के तुर्कों के आक्रमण से त्रस्त होकर राज्यपाल ने उनमे संधि करली। प्रतिहारो की जर्जर शक्ति अधिक दिनो तक न ठहर सकी और सन् १०३६ ई० में इस प्रतापी वंश का अंत हो गया। कुछ समय बाद वहाँ गाहडवाल राजाओ ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया।

परमार—

प्रतिहारो का सूर्य अस्त होने के पूर्व ही अवसर पाकर उनके सामंत मालवा के परमारो ने अपनी शक्ति का विस्तार करना प्रारंभ कर दिया। अहमदाबाद के हरसोला नामक स्थान से प्राप्त अभिलेख के अनुसार परमारो को राष्ट्रकूटो से संबंधित माना जाता है।[2] सन् ६५० ई० के लगभग सीयक (श्री हर्ष) ने इस वंश की स्थापना की। मालवा को अपने अधिकार मे करके, इसने राष्ट्रकूटो से भी युद्ध किये। उस समय मान्यखेट के सिंहासन पर अत्यंत प्रतापी राजा कृष्णराज (तृतीय) आसीन थे। उनके सामने सीयक को दबना पडा। परन्तु वह एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था। चुपचाप अपनी शक्ति अर्जित करता हुआ, अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ समय पश्चात् सन् ६६८ ई० मे कृष्णराज की मृत्यु होने के उपरान्त उनके भ्राता खोटिगदेव सिंहासनारूढ हुए। ये उतने योग्य न थे। अत सीयक ने सन् ६७२ ई० में मान्यखेट पर भयंकर आक्रमण करके उसे नष्टभ्रष्ट कर दिया। राजा उदयादित्य की उदय पुर प्रशस्ति से भी ज्ञात होता है कि श्री हर्ष ने खोटिग की राजलक्ष्मी युद्ध मे छीन ली थी —

'श्री हर्षदेव इति खोटिगदेव लक्ष्मीजग्राह यो युधिनगादसमप्रताप[3]

---

(१) हिस्ट्री आफ इण्डिया-इलियट, भाग १, पृ० ५

(२) एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द १६, पृ० २३६-२४४

(३) वही, जिल्द १, पृ० २३५-२३७ श्लोक १२

उसी वर्ष सीयक के देहांत होने के पश्चात उसका विद्वान् पुत्र मुंज धारा के सिंहासन पर बैठा। वह वीर होने के साथ ही साहित्य प्रेमी भी था। उसके आश्रय मे पद्मगुप्त, धनंजय आदि अनेक विद्वान् रहते थे। परन्तु इस वंश का सबसे प्रतापी राजा भोज हुआ है। उसे अनेक युद्ध भी करने पड़े। उसका दरबार सदैव विद्वानो से भरा रहता था। वह स्वयं भी बड़ा विद्वान् था। साहित्य, अलंकार आदि विषयो पर उसने अनेक ग्रंथ रचे। धारा मे उसने भोजशाला नामक एक विद्यालय की स्थापना की थी। आजकल उस स्थान पर खिल्जी सुल्तानो द्वारा निर्मित मसजिद है। भोज के पश्चात् परमार वंश श्री विहीन हो गया।

राष्ट्रकूट—

हमारे कवि पुष्पदंत राष्ट्रकूट राजधानी मान्यखेट मे १४ वर्ष तक रहे। वहीं पर उन्होने अपने ग्रंथ रचे, अतः इस वंश का इतिहास किंचित विस्तारपूर्वक देना अनुचित न होगा।

हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत की राजसत्ता वस्तुतः दक्षिण मे राष्ट्रकूटो के पास आ गयी थी। जिस पुलकेशिन चालुक्य ने हर्ष के भी दाँत खट्टे कर दिये थे, वही राष्ट्रकूटो द्वारा पराजित हुआ। चोल, गुर्जर-प्रतिहार, पल्लव, गंग आदि राजा सदैव राष्ट्रकूटो से डरते रहते थे। यहाँ तक कि सुदूर सिंहल भी उनकी आज्ञा मानता था। कई बार उत्तर मे गंगा-जमुना के दोआबे तक आक्रमण करके उन्होंने अनेक दुर्गों पर अधिकार कर लिया था।[1]

दक्षिण के प्राचीन अभिलेखो मे राष्ट्रकूट नाम किसी अधिकारी का था, जो राष्ट्र का सर्वोच्च व्यक्ति था। बहुत संभव है कि राष्ट्रकूट वंश का पूर्व पुरुष इसी वर्ग का रहा हो और कालांतर मे इसी कारण उनके वंश के सभी राजा राष्ट्रकूट नामधारी हुए। आगे चलकर पेशवाओ को भी ऐसी ही प्रसिद्धि मिली थी।[2] लगभग २२५ वर्षो तक दक्षिण का शासन-सूत्र इन्हीं राष्ट्रकूटो के हाथ मे रहा। इतने दीर्घकाल तक भारत के किसी भी राज-वंश ने संपूर्ण कीर्ति के साथ राज्य नहीं किया। मौर्य, गुप्त, चालुक्य आदि सभी १०० वर्षो के भीतर ही समाप्त हो गये थे।

लगभग १४ राष्ट्रकूट राजाओ में केवल तीन ही अयोग्य रह जा सकते है। शेष सभी योग्य तथा पराक्रमी शासक थे। इनमे भी ध्रुव (प्रथम) तथा कृष्ण (तृतीय) अत्यन्त प्रसिद्ध हुए।

ध्रुव (प्रथम) ने अपने शासन काल मे साम्राज्य का बड़ा विस्तार किया। उसने भारत के समस्त राजाओ को झुका दिया था। हिमालय से लेकर कुमारी तक

---

(१) हिन्दी काव्य-धारा, राहुल, पृ० ५४—५५

(२) एंशेन्ट इंडिया, आर० सी० मजुमदार, पृ० २६५

के किसी राजा मे उसके विरुद्ध शस्त्र उठाने का साहस न था।[1] गोविंद (तृतीय) ने भी उत्तर भारत पर आक्रमण करके नागभट्ट, धर्मपाल, चक्रायुध आदि राजाओ को समय-समय पर परास्त किया था। उसने दक्षिण के विद्रोही गग, पल्लव, पाण्ड्य तथा केरल के राजाओ को हराकर पल्लव राजधानी काची पर अधिकार कर लिया था।[2]

अमोघ वर्ष (प्रथम) योग्य शासक होने के साथ ही कवि भी था। कविराज-मार्ग नामक रचना उसी की बताई जाती है। अपने ६० वर्ष के दीर्घ राज्य काल मे उसने अनेक राजाओ को परास्त कर साम्राज्य को सुदृढ बनाया। उसमे धार्मिक सहिष्णुता भी थी। वह जैन तथा ब्राह्मणो के देवी-देवताओ की पूजा करता था। कहते हैं कि एक बार महामारी के समय उसने जन-रक्षा के हित अपनी उँगली काटकर देवी को भेंट कर दी थी। अत मे उसने जैन-धर्मानुसार तुगभद्रा मे जीवित जल-समाधि लेली थी।[3]

कृष्णराज (तृतीय) अपने वश के अतिम प्रतापी राजा थे। इनकी बहन गग कुमार बुट्टुग को व्याही थी। दक्षिण अभियान मे यही सेनापति के रूप में राष्ट्रकूट सेना का सचालन करता रहा। उसने अनेक युद्धो में सफलता प्राप्त की, परन्तु उसकी सबसे महत्वपूर्ण विजय चोलकुमार राजादित्य को पराजित करने में हुई। बुट्टुग ने ही हाथी पर सवार राजादित्य को मारा था। इस घटना का उल्लेख पुष्पदत ने भी किया है।[4] सम्राट् ने प्रसन्न हो बनबासी के इलाके उसे प्रदान किये थे।

अपने पिता अमोघ (तृतीय) के वृद्ध होने के कारण, कृष्णराज को युवराज अवस्था में ही समस्त राज-काज देखना पडता था। इसी अवस्था में उन्होने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। युद्ध द्वारा उन्होने चित्रकूट तथा कालिंजर के दुर्ग जीतकर राज्य मे सम्मिलित किये थे। पिता की मृत्यु तक, इस प्रकार वे एक योग्य सेनापति बन गये थे।

यद्यपि कृष्ण ने उत्तराधिकार मे अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित एक विशाल साम्राज्य प्राप्त किया था, फिर भी उन्होने अपने पराक्रम से उसे और सुदृढ बना दिया। उनके आतक से गुर्जर-प्रतिहार राजाओ ने तो जीत की आशा ही छोड दी थी। पाण्ड्य, चोल, चेर तथा सिहल तक के प्रदेश अपने अधीन करके उन्होंने

---

(१) तथा (२) एशेण्ट इंडिया, पृ० ३८९—९०

(३) वही, पृ० ३९१

(४) तोडेप्पिणु चोडहो तणउ सीसु — मपु० ११।३।२

रामेश्वरम् मे राष्ट्रकूट पताका फहराई ।[1] अपने अंतिम समय मे कृष्णराज पुनः उत्तर की ओर गये, पश्चात् गुजरात विजय करके गुर्जरराज की उपाधि धारण की ।[2]

कृष्णराज की मृत्यु के उपरान्त सीयक द्वारा मान्यखेट का पतन होना राष्ट्रकूटो के लिये अत्यन्त घातक सिद्ध हुआ। लगभग संपूर्ण नगर नष्ट-भ्रष्ट कर डाला गया। संभवत महामात्य भरत का गृह भी, जहाँ कवि पुष्पदंत निवास करते थे, धराशायी कर दिया गया था। कवि किसी प्रकार बच गये, परन्तु इस घटना से उन्हे हार्दिक पीडा हुई, जिसको एक प्रशस्ति मे उन्होने मार्मिकता के साथ व्यक्त किया है :—

दीनानाथ धनं सदा बहुजनं प्रोत्फुल्ल वल्ली वन ।
मान्याखेटपुर पुरंदरपुरी लीलाहरं सुंदरम् ।
धारानाथनरेन्द्र कोपशिखिना दग्ध विदग्धप्रियं ।
क्वेदानी वसतिं करिष्यति पुन. श्रीपुष्पदंतः कवि· ।
(मपु० संधि ५० की प्रशस्ति)

९७२ ई० के मध्य मे कर्क (द्वितीय) राजा बना। चालुक्यो ने उसे मैसूर तक भगा दिया, जहाँ वह ९९१ ई० तक एक छोटे से भूभाग पर शासन करता रहा। पश्चात् इंद्र (चतुर्थ) को भी प्रतिकूल परिस्थितियो का सामना करना पड़ा, जिनसे व्यथित होकर अंत मे वह गंगराज मारसिंह के साथ जैन श्रमण हो गया।[3]

इस प्रकार अत्यंत करुण तथा नाटकीय ढंग से साम्राज्य का अंत हुआ। ९६७ ई० मे कृष्णराज नर्मदा से लेकर दक्षिण के समस्त भूभाग के स्वामी थे, परन्तु उनकी मृत्यु के केवल छः वर्ष के भीतर ही उनका साम्राज्य स्वप्न की वस्तु बन गया।

समग्र रूप से राष्ट्रकूट योग्य शासक थे। इनके पूर्ववर्ती आन्ध्रो और चालुक्यो के राज्य बडे अवश्य थे परन्तु इतने प्रतापी वे कभी नही हो सके। किसी समय भी दक्षिण को इतना राष्ट्रीय गौरव नही प्राप्त हुआ, जितना राष्ट्रकूटो के समय मे। उत्तर के राजा सदैव दक्षिण-विजय के स्वप्न देखा करते थे, परन्तु इनके समय मे न तो बंगाल के पालो और न मालवा के परमारो ने अपनी इच्छा पूरी कर पायी। प्रतिहार तो कई बार अपनी ही भूमि पर इनसे पराजित हुए। तीन बार राष्ट्रकूट सेना विन्ध्य मेखला को पार कर उत्तर की ओर गयी, पर बदले मे इनके यहाँ कोई नही घुस सका। सुलेमान ने सत्य ही कहा है कि राष्ट्रकूट भारत के अत्यन्त शक्तिशाली राजा थे।[4]

---

(१) राष्ट्रकूट एन्ड देअर टाइम्स, डॉ० अल्तेकर, पृ० ११९
(२) वही, पृ० १२०
(३) एंशेण्ट इंडिया, पृ० ३९३-९४
(४) राष्ट्रकूट एन्ड देअर टाइम्स, पृ० ४१३-४१४

राष्ट्रकूटो का शासन-प्रबन्ध सुव्यवस्थित था। सारा राष्ट्र विषय तथा भुक्तियो मे बटा हुआ था, जिनका प्रबन्ध विषयपति, भोगपति जैसे अधिकारी करते थे। सम्राट् स्वय इनकी नियुक्ति करता था।[१] राज्य मे अनेक राज्यपाल थे, जिनके अधिकार मे बडी सेनायें रहती थी। यद्यपि इनके पद महामडलेश्वर, महासामताधिपति जैसे होते थे, परन्तु ग्राम-दान तक का अधिकार इन्हें न था। मान्यखेट की केन्द्रीय सरकार इन पर पूर्ण नियन्त्रण रखता ।[२]

प्रत्यक महत्वपूर्ण विषय पर सम्राट् अपनी मन्त्रि-परिषद् को सलाह लेता था। कृष्ण का मन्त्री नारायण उसका दाहिना हाथ था। उसे पच-महाशब्द की उपाधि प्राप्त थी। सामान्यत मन्त्रियो का निर्वाचन असाधारण वीरो मे से किया जाता था। कुछ मन्त्री वशगत भी होते थे। हमारे कवि के आश्रयदाता महामात्य भरत ऐसे ही वश मे उत्पन्न हुए थे। अन्य पदाधिकारियो मे धर्मांकुश, भाण्डारिक आदि होते थे। तलवर (कोतवाल) तथा स्थपितरत्न (सविण्णाणिणा) के उल्लेख पुष्पदत ने भी किये है।[3]

राष्ट्रकूट सेना मे ब्राह्मण, जैन आदि सभी होते थे। ये सैनिक वशपरम्परा से चले आते थे। सेना मे पैदल, हाथी और घोडे होते थे। रथो का प्रयोग नही होता था। प्रधान सैनिक कार्यालय मान्यखेट मे ही था।

राजाओ को युद्ध-यात्रा मे स्त्रियाँ भी साथ रहती थी। अमोघवर्ष (प्रथम) का जन्म विन्ध्य के जगलो मे हुआ था। उस समय उसके पितामह मध्य भारत पर आक्रमण कर रहे थे।[४]

जनता मे राज-भक्ति की भावना बडी प्रबल थी। लोग राजा की मृत्यु होने पर उसके साथ ही चिता मे जलने को उद्यत रहते थे।[५]

सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थिति

मध्य युग के समाज में वर्ण-व्यवस्था वर्तमान थी। यद्यपि जैन तथा बौद्ध इसके विरोधी थे, परन्तु अब तक वे भी कुछ-कुछ उसके निकट आ गये थे। जैन मुनि कहते थे कि गृहस्थ अपनी कन्या अजैनो को न दें।[६] विभिन्न मतावलम्बियो मे पार-

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ० १७६
(२) वही, पृ० १७४-७५
(३) मपु० ८२। १०। ८ तथा १४। ६। ८
(४) राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ० २५३
(५) वही, पृ० १८६
(६) हिन्दी काव्य-धारा, पृ० ३६

स्परिक विवाह सम्बन्ध अब बन्द होने लगे थे। इस प्रकार जैन भी वर्ण-व्यवस्था के कुछ-कुछ समर्थक बन गये।

क्षत्रियो की अनेक जातियाँ अब वाणिज्य-व्यापार करने लगी। जिन्होने कभी अपनी तलवार से शत्रुओ के दाँत खट्टे किये थे वे, अब बाँट तौलने लगे, नगर-सेठ बन गये। उनके यहाँ अब धन की वर्षा होने लगी। उन्ही के प्रयत्नो से दिलवाडा (आबू) जैसे कला-पूर्ण जैन मन्दिर बने।

समाज मे अब जैन-निर्ग्रंथो का भी अनादर होने लगा। अच्छे परिवारो के बालक नग्न रहने मे हिचकने लगे। गृहस्थ भी दिगम्बर साधुओ को देखने मे हिचकते थे।[1] इस प्रकार श्वेताम्बर सम्प्रदाय ऊपर उठने लगा।

धीरे-धीरे जैन भी ब्राह्मणो की सामाजिक रूढियो मे बँधने लगे। तीर्थङ्करो का ईश्वर की सज्ञा दी जाने लगी। उनके पुराण, कथा-वार्ता आदि सभी अंगो पर ब्राह्मणो का प्रभाव परिलक्षित होता था। पुरोहितो एव महन्तो का रहन-सहन राजसी ठाट-बाट का बन गया था।[2]

समाज के प्रत्येक क्षेत्र में ब्राह्मणो का सम्मान था। शिक्षा-विद्या मे वे ही बढ़े-चढ़े थे। अनेक कार्य उनके लिये सुरक्षित रखे जाते थे। वे राज-काज मे भी भाग लेते थे। प्राय मन्त्री ब्राह्मण ही होते थे। पुष्पदन्त के आश्रयदाता भरत मन्त्री ब्राह्मण ही थे।

ब्राह्मणो की भाति क्षत्रियो का भी समाज मे ऊँचा स्थान था। राज्य के शासक होने के साथ ही सेना के योद्धा भी ये ही होते थे। ब्राह्मणो के सम्पर्क मे रहते हुए, इनमे शिक्षा का प्रसार भी अधिक हो गया था। अनेक राजा बडे विद्वान् हुए हैं, जिनमें हर्ष, चौहान विग्रहराज, चालुक्य विनयादित्य, भोज तथा राष्ट्रकूट अमोघवर्ष (प्रथम) के नाम उल्लेखनीय हैं। अलमसऊदी ने लिखा है कि मद्यपान करने वाला राजा शासन के योग्य नही समझा जाता था।[3]

सम्पन्न लोग विशाल भवनों में रहते थे, जिनके भोजन, शयन, अतिथि आदि के कक्ष पृथक् होते थे।

संस्कार तथा रीति-रिवाज

विवाह-यद्यपि इस काल में अनुलोम विवाह होते थे, परन्तु वे अधिक प्रचलित न थे। सामान्यत: समान पक्ष देखकर ही विवाह होते थे।[4] अन्तर्जातीय विवाह

---

(१) हिन्दी काव्य-धारा, पृ० ३७
(२) वही, प० ९५
(३) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ ४४
(४) राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ० ३३६

भी होते थे। स्वय कवि राज शेखर ने एक कायस्थ स्त्री से विवाह किया था।[1] मामा की पुत्री से विवाह करने की प्रथा बहुत प्रचलित थी।[2] कृष्ण (द्वितीय) के पुत्र तथा इन्द्र ने ऐसे ही विवाह किये थे। गुजरात मे यह प्रथा आज भी प्रचलित है।

ब्राह्मण अन्य तीनो वर्णों मे विवाह कर सकते थे, परन्तु उनकी कन्या का विवाह किसी ब्राह्मण के साथ ही होता था। आगे चलकर केवल उपजातियो मे ही विवाह सम्बन्ध बंध माने जाने लगे।[3]

क्षत्रियो मे प्राचीन काल से ही स्वयंवर प्रथा उत्तम समझी जाती रही है, परन्तु इस युग मे कन्यायें अपने मन मे भले ही किसी को चुन लेती होगी, स्वयवर नही हुए। पुत्री के पिता परिवार सहित शुभ लग्न देखकर वर के नगर जाते थे और वहाँ पुर के बाहर किसी उद्यान मे उन्हे ठहराया जाता था।[4] विवाह मण्डप अत्यन्त भव्य बनाया जाता था। वेदी पर वर-कन्या बैठते थे।[5] बारात मे वर घोडे पर चढ़ कर बाजे-गाजे के साथ आता था।[6] कभी-कभी रत्न-जटित शिविका मे भी उसे लाया जाता था।[7] उसके साथ समवयस्क कुमार भी चलते थे।[8] विवाह सस्कार के समय हवन होते थे। वर, कन्या का हाथ अपने हाथ मे लेता था। उपस्थित जन-समुदाय साधु-साधु कहते थे। वर का पिता कन्या को मुद्रिका भेट करता था।[9]

विवाह-स्थल पर मगल कलश रखे जाते थे। जलसिंचन किया जाता था। वर-कन्या के घृत-लेपन करने की प्रथा थी। पुरंध्री इस अवसर पर नृत्य करती थी।[10] भाट स्तुति-गान करते थे तथा वेश्यायें रम्य गीत गाती थी।[11]

वेश-भूषा

इस काल मे दक्षिण के पुरुष सामान्यत दो धोतियो से काम चलाते थे। धोतियो की किनारियाँ सुन्दर होती थी। वे एक धोती पहनते तथा दूसरी शरीर पर डाल लेते थे। कुछ लोग पगडी भी बाँधते थे। व्यापारी-वर्ग रुई के वस्त्र तथा कुरता

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३३८
(२) वही, पृ० ३४३ तथा णाय० ७।६।११
(३) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ४९-५०
(४) जस० १।२६।७-८
(५) मपु० २७।६
(६) जस० १।२६।१६
(७) मपु० ८८।२३।१४
(८) मपु० २७।१
(९) जस० १।२५।२५-२६
(१०) १।१८।२, २७ णाय०
(११) जस० १।२७।१

पहनते थे। वस्त्रों की विभिन्नता तथा सुन्दरता पर भी ध्यान रखा जाता था। मार्को पोलो ने लिखा है कि सारे मलाबार मे एक भी दर्जी न था।[१] वस्तुतः उनसे कम कार्य लिया जाता होगा।

राजा-नरेश आदि रत्न जटित कारण्डाकार मुकुट, केयूर, हार, रेशमी कटि-वस्त्र तथा जरी के काम के परिधान धारण करते थे।

जैन श्वेताम्बर साधु श्वेत अथवा पीत वस्त्र पहनते थे।

ऋतु के अनुसार वस्त्रों मे परिवर्त्तन होते रहते थे, जैसा आधुनिक समय मे भी होता है।

साधारण स्त्रियाँ रगीन साडी पहनती थी, जो आधी पहनी तथा आधी ओढी जाती थी। बाहर जाने के समय वे उत्तरीय धारण करती थी। साधारण वस्त्र भी आकर्षक ढंग से पहने जाते थे।

नृत्य के समय स्त्रियाँ लहंगा जैसा जरीदार वस्त्र पहनती थी। इसे पेशस् कहते थे। दरबारी वेश्याएं महीन तनजेब का कटि-वस्त्र पहनती थी।[२]

विधवाएं श्वेत वस्त्र पहनती थी। पुष्पदंत ने उनके लाल वस्त्र धारण करने का उल्लेख किया है।[३] वे आज कल की भाँति चूडियाँ भी नही पहनती थी। काची (कटि-आभूषण) धारण करना भी उन्हे वर्जित था।[४] प्राय विधवाओ के शिर के केश कटवा दिये जाते थे।[५]

स्त्रियाँ विभिन्न प्रकार के केश-शृंगार करती थी। शिर के पीछे केशो का जूड़ा बाधा जाता था। उसमे सुगधित पुष्प तथा मोतियो की लडें लगायी जाती थी। चमेली पुष्प के तेल का भी व्यवहार किया जाता था।[६]

शृंगार के समय दर्पण मे मुख देखकर नारियाँ घुसिण-पंक लगाती थी।[७] तमिल नारियाँ कटि के खुले भाग मे चन्दन का लेप करती थी।

पुरुष भी वड़े-बडे केश रखते थे। ब्राह्मण शिर तथा दाढ़ी के केश कटवाते थे, परन्तु क्षत्री लम्बी दाढी-मूँछ रखते थे। साधारण लोगो मे भी दाढी रखने की प्रथा थी।[८] अनेक पैरों में जूते भी नही पहनते थे।[९]

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३४८
(२) वही, पृ० ३६४
(३) मपु० ७३।२।३-६
(४) मपु० ८७।१।६
(५) मपु० ७१।२०।१
(६) जस० ३।२१।१५
(७) मपु० ९०।३।१३
(८) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३४९
(९) मध्यकालीन भारतीय संस्कृति, पृ० ५२

स्नान से पूर्व विलेपन (उवटन) किया जाता था, पश्चात् भूषणादि धारण किये जाते थे।[1] आभूषण पहनने का चलन पुरुष-स्त्रियो दोनो मे था। ह्वुएनसाग ने लिखा है कि राजा और सपन्न व्यक्ति मूल्यवान आभूषण धारण करते थे। मणियो, रत्नोके हार, मुद्रिकाए तथा बडी-बडी स्वर्ण मालाए पुरुषो के आभूषण थे। स्त्रियां रत्न-जटित भुजबध तथा मकराकृति स्वर्ण-कु डल पहनती थी। वे कर्ण-बेधन करा कर सोने की कडियाँ तथा पैरो मे सादे या घु घुरूदार पायल पहनती थी। हाथो मे शख या हाथी दात की चूडियाँ पहनी जाती थी। उरस्थल खुले अथवा किसी पट्टी या चोली से ढके रहते थे। नर-नारी दोनो ही पुष्पो को मालाए धारण करते थे।[2]

सामान्य विश्वास

समाज मे ज्योतिष का बडा महत्व था, विशेष रूप से शनि देवता का। लोग शनि-दृष्टि से बचने का उपाय करते थे। राजदरबारो मे ज्योतिषी रहते थे, जो राजा को स्वप्न-फल आदि बतलाते थे।[3] उत्तम लग्न या घडी मे कार्यारम्भ करने का परामर्श देते थे। राजा को उनकी भविष्यवाणी पर बडा विश्वास था।[4]

जीवित सर्प पकडना बडा पवित्र माना जाता था। झाड-फूँक, तत्र-मत्र भी प्रचलित थे। कुछ स्त्रियाँ अपने पराङमुख पतियो पर वशीकरण की औषधियाँ फेंकती थी। लोगो मे स्वामिभक्ति इतनी प्रबल थी कि वे राजा के पुत्र होने के लिये अपना शिर भेट करने की शपथ तक लेते थे।[5]

वृद्ध जन पवित्र दिनो मे अग्नि-प्रवेश करते या जल-समाधि ले लेते थे। चदेलराज धग ने अपनी वृद्धावस्था मे प्रयाग मे जल-समाधि ली थी।[6] हरद्वार, काशी, पुष्कर आदि तीर्थों मे लोगो को बडी श्रद्धा थी।[7]

शत्रु-नाश के लिये राजा जादू-टोने करवाते थे। गौडवहो मे देवी की तुष्टि के लिये मनुष्यो और पशुओ की बलि देने का वर्णन है। इस काल मे भी यह क्रूर प्रथा कुछ-कुछ अवश्य थी।[8] जसहर चरिउ मे भी भैरवानन्द कापालिक देवी कात्यायिनी की तुष्टि-हेतु मनुष्यो तथा पशुओ की बलि देने का प्रस्ताव करता है।[9]

---

(१) वरण्हाण विलेवण भूसणाइ। मपु० १।६।७
(२) मध्य० भार० सस्कृति, पृ० ५५-५६
(३) मपु० ६।३।१३-१४
(४) मपु० ८५।१८।८-१०
(५) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३५२
(६) वही, पृ० ३५३
(७) मध्य भार० सस्कृति पृ० १६८
(८) वही, पृ ६१-६२
(९) जस० १।७।८-१०

आमोद-प्रमोद

इस समय आमोद-प्रमोद के अनेक साधन प्रचलित थे। राजाओं की विलासिता ने विभिन्न कलाओं को जन्म दिया।

राजाओं के मनोरंजन के मुख्य साधन मृगया, जल-विहार, संगीत-नृत्य, साहित्यिक गोष्ठियाँ, द्यूत क्रीडा आदि थे। स्वयंभू ने राष्ट्रकूट सम्राट् ध्रुव के समय देखे हुए जल-विहारों के सुन्दर वर्णन किये हैं।

सामंत अपने मनोरंजन के लिये पानी की भाँति धन व्यय करते थे। उनके स्नान-कुंडों की भित्तियों तथा स्तंभों को रत्नादि से अलंकृत किया जाता था। इसके अतिरिक्त उपवन क्रीडा तथा चित्रकला द्वारा भी मनोरंजन होता था। अनेक प्रकार के पशु-पक्षियों को पिंजड़ों में बंद कर रखा जाता था। भोग-विलास की सामग्रियों को जुटाने में बहुत प्रयत्न किया जाता था। जिस प्रकार भी सुख प्राप्त हो, वह सब करना उन्हें अभीष्ट था।[1]

अन्य देशों की दुर्लभ वस्तुओं का संग्रह भी किया जाता था।

राजदरबारों में कलाकार, नर्तकियाँ, कवि, चित्रकार, संगीतज्ञ तथा विदूषक रहते थे।

नागरिक अपनी सामर्थ्य के अनुसार आमोद-प्रमोद करते थे। जीवन की एकरूपता को समाप्त करने के यत्न में समय-समय पर मेलों के आयोजन होते थे। इन मेलों में अनेक प्रकार के खेल-तमाशे होते थे। दूर-दूर के व्यापारी नाना प्रकार की वस्तुएँ विक्रय हेतु लाते थे।

नगरों में शालाएँ स्थापित की जाती थीं। संगीत शालाओं में नृत्य-गान होते थे। स्त्रियों को नृत्य की शिक्षा दी जाती थी। मन्दिरों में नर्तकियाँ होती थीं। नाट्यशालाओं (प्रेक्षागृहों) में नाटक हुआ करते थे।

लोग शुक-सारिका आदि पक्षी पालते थे। मुर्गों, तीतरों, मेढ़ों तथा हाथियों के युद्ध देखकर बड़ा मनोरंजन होता था। प्रसिद्ध मल्लों की कुश्तियाँ भी होती थीं। इन्हें देखने के लिये विशाल जन-समुदाय एकत्र होता था।[2]

नर-नारी नौकाओं पर जल-विहार करते थे। इसका बड़ा प्रचार था। वर्षा-काल में दोलोत्सव मनाया जाता था। वाटिका-उपवन भी लोकप्रिय आमोद-स्थल थे। इनमें नर-नारी जाते थे। जल यन्त्रों द्वारा कुंकुम-जल का छिड़काव किया जाता था।[3]

शतरंज तथा चौपट के खेलों द्वारा भी लोगों का बड़ा विनोद होता था।

---

(१) हिन्दी काव्य-धारा, पृ० १३-१५

(२) मध्य० भार० संस्कृति, पृ० ५१-५२

(३) मपु० ७२ । १५ । ८, णाय० ३ । १२, ३ । ८ । ११

द्यूत-क्रीडा भी प्रचलित थी। द्यूतगृहो मे सभी को जाने की स्वतन्त्रता थी। राज्य उन पर नियन्त्रण रखता था। उनसे कर भी लिया जाता था। बडे-बडे धनाढ्य वहाँ खेलते थे। राजा-रानियाँ भी परस्पर द्यूत-क्रीडा करती थी।[२]

राजा तथा राजकुमार दल-बल सहित मृगया के लिये जाते थे। उनके साथ कुत्ते भी होते थे।[३] शिकार के लिये वन सुरक्षित रखे जाते थे।

उस समय चौवाण (चौगान) नामक खेल भी अत्यन्त लोकप्रिय था।[४]

नट भी स्थान-स्थान पर अपने प्रदर्शन किया करते थे।[५]

कलाओ का उत्कर्ष

ईसा की ५वी-६ ठी शताब्दी भारतीय कला का मध्याह्न काल था। ७ वी शताब्दी तक उसका स्तर वैसा ही बना रहा, परन्तु ८ वी शताब्दी से उसका ह्रास होना प्रारम्भ हो गया। हमारे आलोच्य काल मे यह पतन स्पष्ट दिखायी देता है विशेषरूप से चित्र तथा मूर्तिकला मे। ६ वी शताब्दी के पश्चात् तो अच्छे चित्र तथा मूर्तियाँ अपवाद स्वरूप ही हैं।[६] प्राचीन मूर्तियो की अपेक्षा इस काल की तीर्थंकरो की प्रतिमाएँ प्राय भाव शून्य ही हैं।

आबू के जैन मन्दिरो मे अवश्य ही कला का भव्य प्रदर्शन है। सगमरमर पर खुदे हुए कमल मधुच्छत्र तथा बेल-बूटे सराहनीय है। मन्दिर की छतों पर खुदी हुई अनेक दृश्यावलियाँ बरबस नेत्रो को आकर्षित कर लेती हैं। परन्तु बाह्यरूप से अलकृत इन्ही मन्दिरो मे स्थापित तीर्थंकरो की मूर्तियाँ देखकर बडी निराशा होती है।

स्थान-भेद से मन्दिरो की निर्माण-शैली मे भेद है। कृष्णा के उत्तर मे आर्य तथा दक्षिण मे द्रविड शैली के मन्दिर है। जैन मन्दिरो मे विपुल धन व्यय किया गया है। खजुराहो, नागदा मुक्तागिरि तथा पलीताना के जैन मन्दिर भारतीय शिल्प के उत्तम नमूने है। मथुरा की कंकाली टीले वाली जैन मूर्तियाँ भी महत्वपूर्ण है।[७]

सगीत की ओर भी इस काल मे बहुत ध्यान दिया गया। वर्तमान समय मे प्रचलित अनेक राग-रागिनियो के नाम तथा वर्गीकरण पूर्व ही होने लगे थे। इस समय उनकी लोकप्रियता खूब बढी।

---

(१) णाय० ३। १२। ४

(२) णाय० ३। १३। ४, मपु० ५० । ६। ६

(३) मध्य० भार० स० पृ० ५३

(४) मपु० ९१ । १५ । १०

(५) मपु० ८२ । १६ । ६—ण दि दिट्ठउ णच्चतु णट्टु

(६) हिन्दी काव्य धारा पृ० ४३-४८

(७) मध्य० भार० सस्कृति, पृ० १७७-७८

राजा-सामत तथा कवि-गण सगीत-ज्ञान को गौरव की वस्तु ही नही, वरन् जीवन के लिये आवश्यक समझते थे। राजकुमारियो की शिक्षा में संगीत अनिवार्य विषय होता था, परन्तु दडो के समय की भाति वे सर्वसाधारण के सम्मुख नृत्यादि के प्रदर्शन नही करती थी। यह केवल वेश्याओ का कार्य था।

वीणा इस समय लोकप्रिय वाद्य मानी जाती थी।[१] दरबारो में इसके प्रदर्शन होते थे। वीणा-वादको के दल इधर-उधर घूमा करते थे।

स्त्री-पुरुषो के युगुल नृत्य इस समय अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे थे। पुरातन रूढियो को मानने वाले राजाओ को यह प्रिय न था। उन्हे ऐसे नृत्य प्रिय थे जिनमे दोनो ही स्त्रियाँ हो अथवा दोनो पुरुष। महापुराण मे राजा वसूपाल ऐसा ही नृत्य देखने का अनुरोध करता है।[२]

चित्रकार भी इस समय थे। वे राजकुमारियो के चित्र बनाकर राजाओ को भेंट करते थे।[३] राजकुमारो के चित्र देखकर राज-पुत्रिया भी मोहित होती थी।[४] चित्रो द्वारा विवाह भी निश्चित किये जाते थे।[५]

नारी का स्थान

समाज मे नारी का स्थान ऊँचा था। पर्दा-प्रथा न थी। रानियाँ राज-दरबारो मे आती थी। वे युद्ध मे राजाओ के साथ भी जाती थी। अतः पुर मे प्रवेश करने के कठोर नियम थे।[६]

सामान्यतः अर्धांगिनी के रूप मे नारी आदर की पात्री थी। यज्ञादि में उसका होना अनिवार्य माना जाता था। स्त्री-शिक्षा पर भी ध्यान दिया जाता था।

शिक्षा

इस समय बडे-बड़े नगरो मे शिक्षा का प्रसार था। मान्यखेट मे अनेक शिक्षा-केन्द्र थे। राज-कुलो मे सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएँ पढाई जाती थीं।[७] उपाध्याय राजपुत्रो को काव्य, साहित्य, नाट्य, ज्योतिष, संगीत आदि विषय पढाते थे। घोडे-हाथी की सवारी करना, धनुष-बाण एवं तलवार चलाना तथा युद्ध-कौशल

---

(१) णाय० ३। ५। ८

(२) विण्णि वि णारिउ विण्णि वि णरवर, जइ णच्चति होंति ता मणहर।
मपु० ३२। ३। १

(३) मपु० ९८। ६। १८

(४) णाय० ८। ५

(५) णाय० १। १६। १-३

(६) मध्य० भार० संस्कृति, पृ० ६५-६६

(७) मपु० ५।१८।६

को शिक्षा भी उन्हें दी जाती थी। जैन मुनि आध्यात्मिक तथा सदाचार की शिक्षा देते थे। राजनीति तथा अर्थशास्त्र भी उनकी शिक्षा के विषय थे।[1]

स्त्री-शिक्षा के सम्बन्ध मे विशेष ध्यान दिया जाता था। बाण ने राज्य श्री को शिक्षा के लिए दिवाकर मिश्र नामक शिक्षक के रखे जाने का उल्लेख किया है। मण्डन मिश्र की पत्नी द्वारा शकराचार्य को निरुत्तर किये जाने की बात प्रसिद्ध ही है। कवि राजशेखर की पत्नी भी विदुषी थी। सामान्यत स्त्रियो को काव्य, गणित, गगीत, चित्रकला आदि विषय सिखाये जाते थे।[2]

अन्य वर्णों के बालको की अपेक्षा ब्राह्मणो के बालको की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था। उच्च शिक्षा के विषय वेद-पुराण, साहित्य, मीमासा, धर्म-शास्त्र आदि थे। राष्ट्रकूट ध्रुव ऐसा ही शिक्षित था।[3]

कृषि, वाणिज्य तथा व्यवसाय

इस समय जनसख्या आज की अपेक्षा कम थी। खेत-जगल अधिक थे। मुख्य उपजो मे ज्वार-बाजरा तथा तिलहन—महाराष्ट्र में, कपास—गुजरात, कर्नाटक, खानदेश तथा बरार मे और नारियल, सुपारी, चावल कोकण मे खूब होता था। सिंचाई के लिए राजाओ के नाम से बडे बडे तालाब थे।[4]

मान्यखेट, मदुरा, वजि (मलावार तट), वातापी, उज्जयिनी आदि बडे नगर तथा व्यापारिक केन्द्र थे। ये नगर सडको द्वारा जुडे हुए थे। व्यापार स्थल तथा जल दोनो मार्गों से होता था। णायकुमार चरिउ में एक वणिक् के नौका द्वारा गिरिनगर जाने का उल्लेख प्राप्त होता है।[5] व्यापारी बहुत धनी थे। वे लका से व्यापार करके प्रचुर धन लाते थे।[6]

आर्थिक स्थिति

मध्यकालीन भारत म कृषि-व्यवसाय उन्नतशील था। पुष्तदन ने मगध आदि के ग्राम्य-जीवन के जो वर्णन किए है, उनमे कुछ अतिरजना भले ही हो, परन्तु वास्तविकता मे भी इनकार नही किया जा सकता। कवि ने लहलहाते हुए धान के खेतो का उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त गोधन-विचरण, गोपाल-बालको के इक्षुरस पीने आदि के वर्णन सुखी ग्राम्य-जीवन की ओर ही सकेत करते हैं।[7]

---

(१) जस० १।२८ (२) मध्य० भार० सस्कृति, पृ० ६५-६६

(३) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ३९९-४००

(४) मध्य० भार० स०, पृ० १६४ (५) णाय० १।१५।५-६

(६) लकाईहि दोविहि सचरिवि, अण्णण्णा पसडिभडु भरिवि। मपु० ८२।७।२

(७) जहि सचरति बहुगोहणाइ ···। जहि पिक्कसालिछेत्ते घणेण ···।
गोवालवाल जहि रसु पियति ···। मपु० १।१४।३, ५-६

सामान्यत: देश आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न था। शिल्प-व्यवसाय आदि उन्नत-शील थे, परन्तु राष्ट्र की सम्पत्ति का वितरण असमान था। आय का अधिकाश राजा-सामन्त भोगते थे। राजधानियो मे विलास की वस्तुओ पर विपुल धन व्यय किया जाता था। राजा के सम्बन्धियो का भार भी राज्य कोश ही वहन करता था।[1]

उस समय प्राय युद्ध होते रहते थे। विशाल सेनाओ के ऊपर अत्यधिक धन व्यय होता था।[2] धनवानो के दास-दासियो की सख्या अधिक थी। ढोरो की भाँति वे अपने स्वामी की सम्पत्ति माने जाते थे।[3]

धार्मिक परिस्थिति

वस्तुतः इस युग मे तीन मुख्य धर्म थे—ब्राह्मण, जैन तथा बौद्ध। इनमे ब्राह्मण तथा जैन दाक्षणी भूभाग मे विशेष महत्व के थे। राज्य की ओर से सभी धर्मों को अपना स्वाभाविक विकास करने की स्वतन्त्रता थी। उनके अपने-अपने मठ-मन्दिर आदि थे। साधु-महात्मा स्वच्छन्दता से घूम-घूमकर अपने मतो तथा सिद्धान्तो का प्रचार करते थे।[4]

जैन तथा ब्राह्मणो के साम्प्रदायिक ग्रन्थो मे अवश्य ही एक दूसरे के खण्डन किये जाते थे, किन्तु सामान्य जनता मे वैसी कट्टरता तथा विषमता न थी। इस धार्मिक समन्वय के फलस्वरूप लोग एक दूसरे के अति निकट आ गये थे। यद्यपि लिंगायत मत द्वारा जैन धर्म को धक्का अवश्य लगा, परन्तु उससे उसके व्यापक प्रसार तथा प्रचार मे कोई अन्तर नही आया।[5]

इस प्रकार जैसे-जैसे जनता कट्टरता त्याग कर धर्म की सामान्य भूमि पर आती गयी, वैसे-वैसे आचार-विचारो मे भेद कम होता गया। ब्राह्मणो की अनेक बातो का जैन धर्म पर प्रभाव पडा।[6] हिन्दुओ के मन्दिरो की भाँति जैनो के मन्दिर भी पूज्य माने जाते थे। तीर्थङ्करो की पूजा, विष्णु अथवा शिव की भाँति श्रद्धा की वस्तु थी। धीरे-धीरे अग-भोग तथा रग-भोग पूजा का उनमे भी प्रचलन हो गया।[7] इस प्रकार परम त्यागियो का जैन धर्म मन्दिरो मे सोने-चादी की विपुल राशि मे जगमगा उठा।

---

(१) हिन्दी काव्य धारा, पृ० १३-१६ (भूमिका)
(२) वही, पृ० १७
(३) वही, पृ० १८
(४) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, साडेसरा, पृ० २५४
(५) राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स पृ० ३०६
(६) द्रष्टव्य इस निबन्ध का अध्याय ४
(७) राष्ट्र० एण्ड देयर टाइम्स पृ० ३१८

दान को तिथियाँ जैनो द्वारा स्मृति-पुराणों के आधार पर रखी जाती थी। सक्रान्ति पर अनेक दान दिए जाते थे। गोविन्द (तृतीय) ने विजय सप्तमी पर, ध्रुव (द्वितीय) ने कार्तिकी पक्ष पर एव कृष्ण (द्वितीय) ने महावैशाखी पर बडे-बडे दान दिए।[1]

यद्यपि बौद्धो की भांति जैन भी जाति-विरोधी थे, पर इस समय वे भी ब्राह्मणो की भांति जाति-व्यवस्था को मानने लगे। एक जैन मुनि ने कहा था कि जैन गृहस्थ अजैनो को अपनी कन्याएँ न दें।[2] इसी प्रकार ब्राह्मणो पर जैनो का भी प्रभाव पडा। प्राचीन काल से हिन्दुओ मे बालको को विद्यारम्भ श्री गणेशाय नम से कराया जाता रहा है, परन्तु जैन प्रभाव के कारण "ओ३म् नमस्सिद्धेभ्य" से विद्यारम्भ कराने की प्रथा चल पडी और यह प्रथा आज भी उत्तर मे वर्तमान है।[3]

तत्कालीन अभिलेखो से ज्ञात होता है कि जिन-स्तवन के साथ विष्णु-स्तवन भी किया जाता था। राजा नागवर्मा ने जिन तथा विष्णु दानो के मन्दिर बनवाये।[4] धार्मिक सहिष्णुता का यह महान उदाहरण है। अन्य नरेश भी ऐसे ही थे। गुजरात शाखा के कर्क सुवर्णवर्ष पक्क शैव थे, परन्तु जैन-विहारो को उन्होने बहुत सी भूमि दान दी था। राष्ट्रकूट अमोघ (प्रथम) भी वैदिक तथा जैन दोनो धर्मो को मानता था। दनिवमन ने हिन्दू होते हुए बौद्ध मठो को ग्राम दान दिए। इसी प्रकार अक्का दवी ने जैन, बौद्ध, शैव तथा वैष्णव मतानुयायियो की बडी सहायता की थी।[5]

वस्तुत दक्षिण के जैन धर्म के इतिहास मे यह युग बडे महत्व का था। राजा प्रजा दानो को जैन धर्म के सदाचार के प्रति श्रद्धा थी। यही कारण है कि अनेक जैन मुनि तथा कवियो को राजाश्रय प्राप्त हुआ। जैन मुनि अन्य धर्मावलम्बियो के साथ वाद-विवाद भी करते थे। ७८० ई० में जैन पडित अकलक देव ने काची नरेश हेमशीतल के सामने एक वाद-विवाद में बौद्धो को हरा दिया। इससे प्रभावित होकर राजा परिवार सहित जैन हो गया।[6]

राष्ट्रकूट तथा गुर्जर-सोलकी राजाओ का जैन धर्म पर बडा अनुराग था, परन्तु उन्होने अहिंसा को ताक पर रखकर शासन के कार्यो में तलवार को कभी नही छोडा।

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स पृ० ३०२

(२) हिन्दी काव्य धारा, पृ० २६।

(३) राष्ट्र० एण्ड देयर टाइम्स पृ० ३१०।

(४) वही, पृ० २७४।

(५) वही, पृ० २७३।

(६) वही, पृ० ३०३-३०६।

अनेक चालुक्य तथा गंग राजा स्वयं जैन हुए। मारि सिंह (द्वितीय) कट्टर जैन था। उसके मन्त्री चामुण्ड राय ने चामुण्ड पुराण नामक जैन ग्रंथ रचा था। उसी ने श्रवण बेलगोल में प्रसिद्ध गोम्मटेश्वर की मूर्ति बनवायी थी।[1]

दिगम्बर जैन श्रमण एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमा करते। वे नगर के बाहर किसी उपवन में ठहरते थे। राजा पुर के नर-नारी सहित उनके दर्शनार्थ जाता था।[2] वे चतुर्मास एक ही स्थान पर व्यतीत करते थे।

ब्राह्मण

ब्राह्मण धर्म के अनुयायियों की संख्या इस समय सबसे अधिक थी, परन्तु वे भी अब प्राचीन वैदिक धर्म से च्युत हो गये थे। शंकराचार्य के मठों तथा पीठों की ओर उनकी अधिक श्रद्धा न रह गयी थी। यज्ञ तथा पशुबलि जैनों के कारण त्याज्य हो गये थे। कई राष्ट्रकूटों ने श्रौत की अपेक्षा स्मार्त्त पद्धति चलाने के लिए ब्राह्मणों को दान दिये। केवल अमोघ तथा गोविन्द (चतुर्थ) इसके अपवाद थे।

राष्ट्रकूटों की सनदों से ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों में वैष्णव तथा शैव प्रधान थे।[3] चालुक्य राजवंश तो परम्परा से शैव था, पीछे उसमें जैन तत्व भी आ गये।[4]

तीर्थों पर लोगों की बड़ी श्रद्धा थी। प्रभास के शिव मन्दिर को जाने वाले भक्त-गण पेट के बल चलकर जाते थे। काशी तथा रामेश्वरम् प्रधान तीर्थ माने जाते थे। गाय को पूज्य माना जाता था। उसका मारना अपराध था।

धार्मिक उत्थान के लिए व्रत तथा दान का बड़ा महत्व था। भूमिदान बहुत बड़ा दान माना जाता था। दान-पत्रों में स्मृतियों तथा पुराणों के वाक्य अंकित किये जाते थे।

इस समय देवी-देवताओं के अनेक मन्दिर थे। लोग वहां पूजा-भजन करने जाते थे। देव-मूर्तियों के आभूषणों पर विपुल धन व्यय होता था। चोलों के राज राजेश्वर के मन्दिर में बहुमूल्य आभूषण थे। एलोरा के मन्दिरों पर कृष्ण (प्रथम) ने बहुत धन लगाया था। गोविन्द (चतुर्थ) ने ४०० ग्राम तथा ३२ लक्ष मुद्राएँ मन्दिरों को दान में दी थी।[5]

वर्णाश्रम व्यवस्था भी इस समय प्रचलित थी। पुष्पदन्त ने अनेक स्थलों पर

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स पृ० ३११।
(२) णाय० १।१६।
(३) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० २८६-८७।
(४) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ११।
(५) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० २८८-९०।

इसका उल्लेख किया है ।[1] जैन साधु चारो वर्णों में भिक्षा माँगते थे । ब्राह्मणों का सम्मान राजा प्रजा दोनो करते थे ।

बौद्ध

देश के पूर्वी भागो मे बौद्ध धर्म का बड़ा प्रचार हुआ । परन्तु दक्षिण मे उतना नही । जैन धर्म के सम्मुख वह प्राय अशक्त ही था । बौद्ध साधना का विकृत रूप कुछ न कुछ जैन धर्म मे भी प्रवेश कर रहा था । तत्कालीन बौद्ध धर्म का आदर्श, ब्रह्मचर्य तथा पवित्र भिक्षु जीवन से हटकर मठो विहारो के गुह्य समाज, भैरवी चक्र एव स्त्री-पुरुषो के मुक्त यौन सम्बन्धो में सीमित हो गया । कन्हेरी, काम्पिल्य तथा डम्बल दक्षिण मे बौद्धो के केन्द्र थे ।[2]

इस्लाम

अरब मे घोडो का व्यापार करने के लिए आने वाले मुसलमान व्यापारी बहुत पहले से ही दक्षिण आते-जाते रहते थे । धीरे धीरे उनमे से अनेक यही बसने लगे । इधर सवर्ण हिन्दुओ की कट्टरता के कारण नीच समझी जाने वाली जातियो के साथ अत्याचार होते ही रहते थे । इस कारण कुछ लोगो ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था ।[3]

राज्य की ओर से उन्हे अपना धर्म मानने तथा मसजिदे आदि बनवाने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी । हिन्दुओ के प्रभाव मे वे भी भारतीय वेश-भूषा में रहते थे तथा भारतीय भाषाए बोलते थे । सदेश रासक (अपभ्रंश काव्य) के रचयिता अब्दुल रहमान (११ वी शताब्दी ई०) के काव्य में भारतीय आत्मा के स्पष्ट दर्शन होते हैं ।[4]

साहित्यिक परिस्थिति

कविता तथा कवि दोनो को उचित प्रोत्साहन के लिये आश्रय की आवश्यकता सदैव रही है । इस सामत युग मे प्रोत्साहन तथा जीविका दोनो ही दृष्टियो से कवियो का राजाश्रय ही एकमात्र अवलब था । फलत राजदरबारो मे कवियो का महत्वपूर्ण स्थान दिखायी देता है । राज-सामत केवल आश्रय ही नही देते थे, वरन् उनकी रचनाओ का समुचित आदर भी करते थे । कुछ राजा तो स्वय विद्वान् थे । गुजरात के सिद्धराज जयसिंह तथा कुमारपाल, मालवा के मुंज तथा भोज एव मान्यखेट के राष्ट्रकूट-सभी कवियो का सम्मान करते थे । राजाश्रय में ही रहकर हेमचन्द्राचार्य

---

(१) चत्तारि वण्ण सप्पिणहिय धम्मि " । णाय० १।८।३ ।
तथा मपु० ६६।२१।७, ६६।२।१७-१८ ।

(२) राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ० ३०८ ।

(३) हिन्दी काव्य धारा, प० ३१ ।

(४) हिन्दी काव्य धारा, पृ० ४३

तथा चदवरदायी ने साहित्य-साधना की था। शान्ति पुराण के रचयिता पोन्न कवि को 'उभय कवि चक्रवर्तिन्' की उपाधि राष्ट्रकूट दरबार से प्राप्त हुई थी।

इस युग मे देश के तीन क्षेत्रो मे अत्यधिक साहित्य निर्माण हुआ। पूर्वी क्षेत्र में बौद्ध सिद्धो ने दोहा कोश तथा चर्यापद रचे। पश्चिमी तथा दक्षिणी क्षेत्रो मे जैन कवि अपनी मधुर वाणी द्वारा सामाजिक मल को धोते हुये अहिंसा एव सदाचार का पाठ पढाते रहे। सिद्धो ने आश्रय को विशेष आवश्यकता नही समझी, परन्तु जैन कवियो मे प्रायः सभी किसी न किसी राज-दरबार अथवा मन्त्री-अमात्यो की छत्र छाया में रहे। साहित्य-प्रेमी राजाओ का उल्लेख पूर्व हा किया जा चुका है। अमात्यो मे धवलक्क के वस्तुपाल बहुत प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होने अनेक ज्ञात-अज्ञात कवियो को आश्रय तथा प्रोत्साहन दिया। इसी कवि वत्सलता के कारण उन्हे लघु भोज भी कहा जाता है।[1] इसी प्रकार राष्ट्रकूट कृष्ण (तृतीय) के महामात्य भरत ने हमारे आलोच्य कवि को आश्रय दिया था। पश्चात् गृहमन्त्री नन्न ने भी अपने पिता का अनुसरण किया।

सस्कृत की प्रधानता—

यद्यपि इस समय तक आते आते सस्कृत जन-सामान्य से दूर हटकर विद्वानो तक ही सीमित रह गयी थी, परन्तु उसका प्राचीन गौरव अभी तक अक्षुण्ण था। अधिकाश राज-काज इसी मे होता था। शिलालेख, दानपत्र तथा ताम्रलेख इसी में लिखे जाते थे।[2] इसी कारण राज-सभाओ मे एक निम्नकोटि के संस्कृत कवि को जो सम्मान प्राप्त था, वैसा उच्चकोटि के प्रतिभावान अपभ्रश के कवि को न था।[3] राजाओ का विश्वास था कि देश भाषा (अपभ्रश) मे रचित उनकी कीर्तिगाथा स्थायी न रह सकेगी। इसके विपरीत सस्कृत पदावली में रचा गया यशोगान स्थायी होने के साथ ही वास्तविक कीर्ति का द्योतक माना जायेगा।[4] सभवतः इसी कारण स्वयम्भ जैसे प्रतिभावान कवि धनजय रयडा नामक किसी अप्रसिद्ध राज-अधिकारी के आश्रय मे रहकर जीवन यापन करते रहे। महाकवि पुष्पदत के साथ भी यही हुआ। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि देश-भाषा के कवियो को कैसी प्रतिकूल परिस्थितियो में रहना पड़ा होगा।

सस्कृत के कवियो के आदर्श परंपरागत थे। अश्वघोष, भास, कालिदास, दण्डी, बाण रुद्रट आदि के ग्रंथ बड़े चाव से पढ़े जाते थे। अपभ्रंश के कवि भी सस्कृत से अनभिज्ञ न थे। अनेक कवियों ने ग्रंथारंभ में उक्त कवियों का श्रद्धापूर्वक

(१) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ३८
(२) मध्य० भार० सस्कृति, पृ ७३
(३) हिन्दी काव्य धारा, पृ० ४६-४७
(४) वही

स्मरण किया है। स्वय पुष्पदत ने भी।[1] उधर सिद्धो में सरहपा, तिलोपा, शान्तिपा आदि सस्कृत के बडे पडित थे, परन्तु भाषा की कविता करते समय वे अपने सस्कृत ज्ञान को भूल जाते थे।[2] अमोघ का कविराज मार्ग ग्र थ दण्डी के काव्यादर्श के आधार पर रचा कहा जाता है। कृष्ण (द्वितीय) के समय का रचित हिलायुध का कवि रहस्य, रावणार्जुनीय की कोटि का है।[3]

इस काल के जैन विद्वानो तथा कवियो द्वारा रचित सस्कृत के मुख्य ग्रथो मे अकलक का अष्टशती भाष्य, विद्यानद का अष्टसहस्रि, जिनसेन का आदि पुराण, गुणभद्र का उत्तर पुराण, शाकटायन का अमोघवृत्ति, सोमदेव का नीतिवाक्यामृत तथा यशस्तिलक चम्पू उल्लेखनीय हैं।

प्राकृत तथा अपभ्र श—

संस्कृत के समान प्राकृत भी इस समय एक प्रकार से मृत भाषा थी। जन-साधारण इन दोनो को ही समझने मे असमर्थ था। परन्तु विद्वानो मे उसका आदर था।[4] राजपुत्रो को सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश तीनो भाषाओ की शिक्षा दी जाती थी।[5] जैन धर्म के प्राचीन सिद्धान्त ग्र थ प्राकृत मे ही लिखे गये थे, अत जैन कवियो मे उसके प्रति श्रद्धा होना स्वाभाविक ही था। पुष्पदत ने कुछ प्रशस्तिया प्राकृत मे लिखी हैं।[6] धाहिल के पउम सिरी चरिउ (अपभ्रश) मे भी कुछ प्राकृत गाथा छद हैं।

१० वी शताब्दी मे अपभ्रश प्रादेशिक भिन्नताओ के साथ लगभग सारे देश मे बोली जाती थी। धार्मिक प्रवृत्तियो वाले तथा लोक-मगल चाहने वाले महात्माओ ने इसे साहित्य का माध्यम बनाया। दक्षिणी पश्चिमी क्षेत्रो के जैन कवियो ने इसकी उन्नति में सर्वाधिक योग दिया।

---

(१) मपु० ११८

(२) हि० काव्य धारा, पृ० ४६

(३) राष्ट्रकूट एन्ड देअर टाइम्स पृ० ४०८

(४) दिव्वगयघव्वय कव्वय पायय। मपु० २६।१।१४

(५) सदकउ पायउ पुणु अवहसउ, वित्तउ उप्पइउ सपससउ। मपु० ५।१८।६

(६) देखिए, मपु० ख ड १, भूमिका पृ० २८, प्रशस्ति सख्या ५,६,१६,३०,३५ तथा ४८

अध्याय

कवि का जीवन-वृत्त

२

जीवनवृत्त की सामग्री

पुष्पदत की जीवन-वृत्त सबंधी निम्नप्रकार की सामग्री हमे उपलब्ध होती है।

१—कवि की रचनाओ मे उपलब्ध आत्म-कथन।

२—परवर्ती कवियो के ग्रथो मे पुष्पदत का उल्लेख।

३—आधुनिक विद्वानो के खोजपूर्ण लेखो तथा ग्रथो की भूमिकाओ मे प्रस्तुत कवि का जीवन परिचय।

उपर्युक्त प्रथम प्रकार की सामग्री मे कवि के तीन ग्र थ-त्रिषष्ठि महापुरिस गुणालकार (महापुराण), णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ आते हैं।

महापुराण मे कवि के जीवन संबधी निम्नलिखित तथ्य प्राप्त होते हैं :—

प्रथम संधि मे कवि की जिन-भक्ति माता-पिता तथा गोत्र का परिचय, पूर्व आश्रयदाता, मान्यखेट आगमन, भरत द्वारा स्वागत, आश्रय-प्राप्ति, काव्य-रचना की प्रेरणा, ग्र थारभ का समय, कवि का व्यक्तित्व तथा स्वभाव आदि बातें ज्ञात होती हैं।

३८ वी सधि मे काव्य-रचना मे कवि की मानसिक शिथिलता, भरत का पुन. प्रेरणा देना तथा कवि की कुछ स्वभावगत विशेषताएं प्राप्त होती हैं।

सधि १०२ मे कवि के परिचित जन, माता-पिता, जीवन के अभाव, धार्मिक भावना, ग्र थ समाप्ति का समय आदि बातें ज्ञात होती है।

इसके अतिरिक्त प्रशस्तियों में कवि की प्रतिभा, आश्रयदाता की कीर्ति तथा मान्यखेट के पतन सबधी उल्लेख हैं। समग्र ग्र थ मे यत्र-तत्र आत्मोल्लेख भी हैं जिनमे कवि के स्वभाव तथा उसकी जिन धर्म मे निष्ठा ज्ञात होती है।

णायकुमार चरिउ की प्रथम सधि मे कवि के माता-पिता, आश्रयदाता नन्न तथा अन्य व्यक्तियो द्वारा काव्य-रचना किये जाने का आग्रह तथा आश्रयदाता की प्रशसा आदि बातें मिलती हैं। ग्र थ की अंतिम पुष्पिका मे नन्न की प्रशंसा, माता-पिता द्वारा जिन धर्म में दीक्षित होना तथा समकालीन सम्राट् के उल्लेख हैं।

जसहर चरिउ की प्रथम संधि में कवि की धर्म भावना एवं चतुर्थ सधि में माता, पिता तथा गोत्र का उल्लेख है।

२—अनेक परवर्ती कवियो ने अपने ग्रंथों में पुष्पदंत का श्रद्धापूर्वक स्मरण किया है। इनमें अपभ्रंश के अतिरिक्त संस्कृत के कवि भी हैं।

(१) हरिषेण (९८७ ई०)

चउमुह कन्नु विरयणि सयमुवि
पुप्फयतु अण्णाणु णिसभवि ।
पुप्फयतु णउ माणुसु वुच्चइ,
जो सरसइए कया वि ण मुच्चइ । (धम्म परिक्खा, १।१)[1]

(२) वीर कवि (१०१९ ई०)

सते सयभूए एवे एक्को कइत्ति विन्नि पुणु भणिया ।
जायम्मि पुप्फयते तिण्णि तहा देवयत्तमि ॥(ज बुसामि चरिउ, ५।१)[2]

(३) नयनदी (लगभग १०५० ई०)

चहुमुहु सयभु कइ पुप्फयतु । (सकल विधि निधान काव्य, १।५)[3]

(४) मुनि कनकामर (१०६५ई०)

करकडु चरिउ (१।२।८-९)

(५) श्रीचद्र (१०६६ ई०)

तह पुप्फयतु निम्मुक्क दोसु, वणिज्जइ कि सुमए वि कोसु
(रत्न करण्ड शास्त्र, १।२)[4]

(६) देवसेन गणि (१०७५-१३१५ के बीच)

पुप्फयतु भुवाल पहाणहे । (सुलोयणा चरिउ, १-३)[5]

(७) पडित लाखू अथवा लक्खण (१२१८ ई०)

पुप्फयतु सुसयभु भल्लऊ । (जिणदत्त चरित, १।६)[6]

(८) धनपाल (१२९७ ई०)

चउमुहु दोणु सयभु कइ, पुप्फयतु पुणुवीरुभणु । (बाहुवलि चरित, १।८)[7]

(९) वाग्भट्ट

य पुष्पदत मुनिसेन (जिनसेन) मुनीन्द्र मुख्यै
पूर्वं कृत सुकविभिस्त दह विधितसु । (काव्यानुशासन)[8]

---

(१) अपभ्रंश साहित्य, डॉ० हरिवश कोछड, पृ० ३४४ से उदधृत
(२) वही, पृ० १४८
(३) वही पृ० १७५
(४) वही, पृ० ३५१
(५) वही पृ० २१६
(६) वही, पृ० २२६
(७) वही, पृ० २६६
(८) जैन साहित्य और इतिहास, प० ३७०

इन कवियो ने प्राय चतुर्मुख तथा स्वयंभू के साथ पुष्पदत का स्मरण करते हुए उनकी काव्य-प्रतिभा की ओर सकेत किया है। इनके द्वारा हमारे कवि के जीवन-वृत्त सबंधी कोई विशेष बात नही ज्ञात होती। इतना अवश्य पता लगता है कि कवि, विशेषत. अपभ्र श कवियो मे लगभग १४ वी-१५ वी शताब्दी तक अत्यधिक आदर और श्रद्धा का पात्र बना रहा। इसके साथ ही कवि के समय निर्धारण करने मे भी कुछ सहायता मिलती है। अत: इन कवियो को केवल पुष्पदत के गौरव तथा ख्याति के साक्षी रूप मे ही उपस्थित किया जा सकता है।

३—इस सामग्री के अंतर्गत आधुनिक विद्वानो द्वारा लिखे गये शोधपूर्ण लेख तथा ग्र थो की भूमिकाएं आती है। इनमे कवि के जीवन-वृत्त को सुव्यवस्थित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि इस प्रकार की सामग्री का मूल आधार स्वयं कवि के आत्मोल्लेख ही है, जिनका विवरण प्रथम प्रकार की सामग्री के अतर्गत पीछे दिया जा चुका है।

सक्षेप मे यह सामग्री इस प्रकार है—

(१) कैटालाग आफ सस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन सी० पी० एण्ड बरार (१९२६ ई०), सपादक रायबहादुर हीरालाल —कवि का जीवन चरित्र।

(२) एलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, खड १ (१९२५) मे डॉ० हीरालाल का लेख—

कवि का समय

(३) जैन साहित्य और इतिहास में स्व० नाथूराम प्रेमी का पुष्पदत शीर्षक लेख—

—कवि के जीवन का खोजपूर्ण विवेचन

(४) महापुराण तथा जसहर चरिउ की भूमिकाए—डॉ० पी० एल० वैद्य

—कवि का विस्तृत जीवन-वृत्त

(५) णाय कुमार चरिउ की भूमिका-डॉ० हीरालाल जैन

—कवि का सक्षिप्त जीवन परिचय

(६) जैन हितैषी, अनेकान्त, जैन जगत, जैन साहित्य संशोधक, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भारतीय विद्या आदि पत्रिकाओं मे समय-समय पर प्रकाशित कवि सम्बन्धी लेख।

उपर्युक्त तीनो प्रकार की सामग्री की परीक्षा करने पर हमें ज्ञात होता है कि कवि का जीवन-वृत्त सुनिश्चित करने में प्रथम प्रकार की सामग्री ही सर्वाधिक उपादेय है। क्योंकि दूसरे प्रकार की सामग्री द्वारा कवि के जीवन के सम्बन्ध मे कोई विशेष बात नहीं मिलती तथा तीसरे प्रकार की सामग्री वस्तुत. प्रथम प्रकार की सामग्री के आधार पर ही प्रस्तुत की गयी है।

आगामी पृष्ठो मे हम पूर्वोल्लिखित समस्त सामग्री का उपयोग करते हुए महाकवि पुष्पदंत का जीवन-वृत्त प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे ।

कवि का नाम

हमारे कवि के अतिरिक्त पुष्पदत नामधारी तीन अन्य कवियो का उल्लेख प्राप्त होता है ।

प्रथम पुष्पदत प्रसिद्ध शिव महिम्न स्तोत्र के रचयिता हैं । इस स्तोत्र का एक श्लोक राजशेखर (१० वी शताब्दी) ने काव्य मीमांसा मे उद्धृत किया है, अत ये राजशेखर से पूर्व हुए होंगे और निश्चय ही हमारे कवि के पूर्ववर्ती हैं ।[१]

दूसरे पुष्पदत षट्खडागम के रचयिता हैं, जिन्होने भूतबलि के साथ अपने गुरु धरसेन (७४८ ई०) से महाकर्म प्रकृति नामक पाहुड के २४ अधिकारो का अध्ययन किया था ।[२] अत ये भी हमारे कवि से पूर्व हुए थे ।

तीसरे पुष्पदत का उल्लेख डॉ० अबा शकर नागर ने अपने शोध-ग्रथ गुजरात की हिन्दी सेवा मे किया है ।[३] ये एक गुजराती कवि थे । इनकी रचना का कोई विस्तृत विवरण प्राप्त नही है । हमारे कवि ने समस्त काव्य-रचना मान्यखेट (दक्षिण) मे रहकर की थी । गुजरात से उसका कभी कोई सम्बन्ध रहा होगा, इसमे सदेह ही है । अत ये कवि निश्चय ही हमारे कवि से भिन्न ठहरते हैं ।

कर्नल टाड के राजस्थान के आधार पर शिवसिंह ने स० ७७० (७१३ ई०) के अवन्ती के राजा मान के एक दरबारी कवि पुष्पभाट का उल्लेख किया है । डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस पर लिखा है कि जान पडता है पुष्पदत जिस राष्ट्रकूट राजा कृष्ण के आश्रित थे, उनकी राजधानी मान्यखेट परसे राजा का नाम मान समझ लिया गया है और सभा-कवि होने के कारण उन्हे भाट कह दिया गया है । आगे द्विवेदी जी ने हेलोकेरटी के शिलालेखो के आधार पर उज्जयिनी (अवन्ती) पर मान्यखेट का शासन सिद्ध करते हुए लिखा है कि हो सकता है कि बाद मे मान-कवि पुष्प का यशमात्र अवशिष्ट रह गया हो और पूरी कहानी भुला दी गयी हो । परन्तु यह अनुमान ही अनुमान है ।[४]

---

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृ २२२

(२) वही, पृ० १३१

(३) भूमिका, पृ० १२ । यह निबन्ध राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा पी० एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत किया गया है ।

(४) हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ७

यद्यपि आचार्य द्विवेदी का यह अनुमान ही है, फिर भी इस विषय मे इतना कहना अनुचित न होगा कि सं० ७७० वि० मे राष्ट्रकूट सिंहासन पर महाराज कर्क आसीन थे, कृष्णराज नही।[1] दूसरे हमारे कवि भाट तो हो सकते हैं, क्योकि उन्होने अपने पिता को केशव भट्ट कहा है, परन्तु वे दरबारी भाट कभी नही रहे। उनके राष्ट्रकूट दरबार में जाने का भी कही उल्लेख नही मिलता। राहुल जी के शब्दो मे वे अपने अभिमानी स्वभाव के कारण महाराज कृष्ण के दरबार मे कभी अपने मन से गये होगे, इसमे सदेह ही मालूम होता है।[2] वास्तव मे पुष्पदत महामात्य भरत के आश्रय मे रहे थे। राजाओ के तो वे कटु आलोचक थे। अत अवती दरबार के पुष्प भाट हमारे कवि से भिन्न कोई अन्य व्यक्ति होगे।

कवि द्वारा स्वय अपने नाम तथा विशेषणो का प्रयोग

मपु० की प्रत्येक सधि के अन्तिम घत्ता मे कवि ने अपना तथा अपने आश्रय दाता का नाम दिया है, जिसके अर्थ पुष्पदत के लिए चन्द्र, सूर्य, पुष्प, तीर्थङ्कर आदि तथा भरत के लिए चक्रवर्ती, भरत खण्ड आदि लिए गये है।

इसी प्रकार णाय० तथा जस० की प्रत्येक सधि के अन्तिम घत्ता मे कवि ने अपना नाम पुष्पदत दिया है, जिसके व्यंग्यार्थ पुष्प, दिशि-वारण, चन्द्र आदि होते हैं।

मपु०, णाय० तथा जस० की प्रत्येक सधि को पुष्पिका मे 'महाकइ पुप्फयत विरइए' अंकित है। इसके अतिरिक्त इन ग्रथो मे कथा-प्रवाह के बीच-बीच भी कवि ने अपने नाम तथा विशेषण (उपाधियाँ) इस प्रकार दिये हैं—

पुप्फयंतु—(मपु० १ । ३ । ५, १ । ६ । ९, ३८ । ४ । ४, १०२ । १३ । १०, प्रशस्ति स० ४, ५, २६, ३६, ३८, ४३ तथा ४५ । णाय० १ । ५ २ । जस० १ । १ । ४)
खड —(मपु० प्रशस्ति स० १, ३, १८, ३०, ३५, ३९, ४०, ४२ तथा ४४, १ । ३ । ९, जस० ४ । ३१ । ७)
पुष्प दशन- (मपु० प्रशस्ति स० ३७)
कुसुम दशन—(मपु० प्रशस्ति स० ६ । णाय० १ । ३ । ९)
अभिमान मेरु—(मपु० १ । ३ । १२, १०२ । १४ । ११ णाय० १ । २ । २ जस० १ । १ । ४, ४ । ३१ । ६)
काव्य पिशाच (कव्व पिसल्ल)—(मपु० १ । ८ । ८, ३८ । ५ । ५, ८१ । २ । ८, णाय० १ । २ । १०, अन्तिम पुष्पिका पद ६)[3]

---

(१) राष्ट्रकूट एण्ड देयर टाइम्स, पृ० १०
(२) हिन्दी काव्य धारा, राहुल, पृ० ५३
(३) इस विचित्र उपाधि के सम्बन्ध मे स्व० नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि शायद अपनी महती कवित्व-शक्ति के कारण ही यह पद उन्होने (पुष्पदन्त ने) पसन्द किया है। (जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३३१)
डॉ० हीरालाल जैन ने आयुध पिशाचिका (बाल रामायण-४) तथा प्राभृत पिशाची (अनर्घ राघव-४) जैसे शब्दों का निर्देश करते हुए कहा है कि संस्कृत में भी पिशाच अथवा पिशाचिका शब्दों के व्यवहार हुए हैं। कवि ने उचित ही अपने लिये काव्य-पिशाच का प्रयोग काव्य के परिमाण तथा उन्मत्तता के अनुरूप किया है। णाय० पृ० २०८

रवि-कुल-तिलक—(मपु० १ । ८ । १, ३८ । ४ । ३, १०२ । १४ । १४ । जस० १ । ८ । १७) ।

ग्रंथों में विशेषणों के प्रयोग इस प्रकार हुए हैं—

महापुराण में

महाकवि (३८ । २ । २), कविवर तथा सकल कलाकर (३८ । २ । ४), सर्व जीव-निष्कारण मित्र (१०२ । १४ । २), विमल सरस्वती जनित विलास (१०२ । १४ । ४), सिद्धि विलासिनि मनहर दूत (१०२ । १४ । १), जन-मन-तिमिरोत्सारण तथा काव्य-रत्न-रत्नाकर (१ । ४ । १०), काव्य-पिण्ड (१ । ६ । १), गुण-मणि-निधान (१ । ६ । ५), जगि विख्यित नाम (१ । ६ । ८), वर वाचा-विलास (१ । ७ । १), सरस्वती-निलय (३८ । ४ । ३) तथा काव्यकार (८१ । २ । ८)

णायकुमार चरिउ में

विशाल चित्त (१ । २ । १), गुण गण महन्त (१ । २ । २), वागेश्वरिदेवा-निकेत (१ । २ । ६) तथा भव्य जीव-पंकरुह-भानु (१ । २ । ७)।

जसहर चरिउ में

सरस्वती-निलय (१ । ८ । १७)

माता-पिता, जाति तथा गोत्र

कवि के पिता का नाम केशव भट्ट तथा माता का मुग्धा देवी था।[1] वे काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे।[2] प्रथमतः वे शैव मतावलम्बी थे, परन्तु बाद में किसी गुरु के उपदेश से जैन धर्म में दीक्षित हो गये। अन्त में उन्होंने जिन संन्यास लेकर शरीर त्याग किया।[3]

वास-स्थान

कवि के कथन से ज्ञात होता है कि उसने अपने तीनों ग्रंथों की रचना राष्ट्रकूट साम्राज्य की राजधानी मान्यखेट में कृष्ण (तृतीय) के महामात्य भरत तथा उनके पश्चात् गृहमन्त्री नन्न के आश्रय में रहकर की थी।[4]

कवि का मान्यखेट से बड़ा महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है, अतः यहाँ उसका संक्षिप्त परिचय देना अनुपयुक्त न होगा।

---

(१) सो मह केसव तणुरुहु । मपु० १ । ४ । १०
मुद्धाएवी तणु तणूए । मपु० १०२ । १४ । १

(२) केसव पुत्तें कासव गोत्तें । मपु० १०२ । १४ । ३

(३) सिव भत्ताइं वि जिण सण्णासें, बेवि मयाइं दुरिय णिण्णासें ।
णाय०, संधि १०, पृ० ११२

(४) भरहहु केरइ मंदिरि णिवसिउ । मपु० ८१ । २ । ७
णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु । णाय० १ । २ । २

मान्यखेट

यह १५७ वर्ष तक राष्ट्रकूट सम्राटो की राजधानी रही है। करहट और देवली (वर्धा) के शिलालेखो के अनुसार सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम) ने इसे ८१५ ई० मे बसाया था। पश्चात् उसने नासिक जिले के मयूरखडी में स्थित अपनी राजधानी को यहाँ स्थानान्तरित किया।[१] वस्तुत राष्ट्रकूटो का सितारा मान्यखेट मे आने के बाद ही चमका। मान्यखेट की कीर्ति भी सौंदर्य-प्रेमी राष्ट्रकूटो के द्वारा ही सुदूर अरब तक फैली। इस दृष्टि से दोनो ही एक दूसरे के ऋणी समझे जायेंगे।

पुष्पदत ने इसे मेपाड, मण्णखड, मान्याखेट आदि नामो से निर्दिष्ट किया है। प्रभाचन्द्र के महापुराण के टिप्पण मे मेदपाटीय नाम दिया गया है।[२] सोमदेव (९५९ ई०) ने इसे मेलपाटी लिखा है।[३] अरब के व्यापारी इसे मानकीर कहते थे।[४] इसका वतमान नाम मलखेड है। यह १७·१० उत्तरी अक्षाश तथा ७७·१३ पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। मनमाड से निजामाबाद जाने वाली मध्य रेलवे का आन्ध्र प्रदेश में एक छोटा सा स्टेशन है। वर्तमान समय मे यह साधारण गाव ही है, परन्तु राष्ट्रकूट प्रासादो के भग्नावशेष आज भी उसके अतीतगत गौरव का स्मरण दिलाते हैं।

डॉ० पी० एल० वैद्य ने सन् १९४० मे इस पुण्यस्थली की यात्रा की थी। उन्होने लिखा है कि प्रासाद की तदूर पत्थर की बनी बाहरी दीवारें अभी तक पूर्ववत् खडी हैं और मुख्य द्वार भी ज्यो का त्यो खडा है। प्रासाद के भीतरी भाग मे एक भूगर्भ मार्ग है। कहते हैं कि यह मार्ग महाराज कृष्ण (तृतीय) द्वारा निर्मित शुभतु ग चैत्यालय (जैन मन्दिर) को जाता था, जो महल से ३०० गज दूर है। प्रासाद के दक्षिणी भाग मे १५० फीट ऊची एक मीनार है, जो सोपान-युक्त आज भी अच्छी-भली दशा मे है। इसके ऊपर चढकर मीलो दूर के दृश्य देखे जा सकते हैं। गुलबर्गा की प्रसिद्ध मसजिद की मीनारें भी यहाँ से दिखाई देती हैं। इसके निकट ही धनुषाकार बहती हुई कागणा नदी का दृश्य अत्यन्त मनोरम है। इसी स्थल पर उसमे दूसरी ओर से एक अन्य जल-धारा आकर मिलती है और सगम का दृश्य उपस्थित करती है। शुभतु ग चैत्यालय आजकल वद पड़ा रहता है, परन्तु उसमें तीर्थङ्करो की प्रतिमाएँ अब भी हैं। मान्यखेट के इन अवशेषो को देखकर इसमे कोई सन्देह नही रहता कि एक समय यह अति भव्य नगर रहा होगा।[५]

(१) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४२९
(२) मपु० खड १, भूमिका पृ० १५
(३) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १७९
(४) मपु० खड ३, भूमिका पृ० २१
(५) वही।

पुष्पदत को यह नगर बहुत भला लगा होगा, तभी वह मनमोजी कवि वहाँ लगभग १४ वर्ष तक रहा। भरत के प्रोत्साहन के अतिरिक्त, कवि को नगर के सौन्दर्य तथा साहित्यिक वातावरण से भी अपने विशाल काव्य की रचना करने मे बहुत कुछ प्रेरणा मिली होगी।

मान्यखेट की विशालता के सबध मे कवि ने एक स्थान पर लिखा है कि उसके गिरिसदृश उत्तु ग महलो द्वारा मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। वह प्रविपुल है और महाराज कृष्णराज के हाथ मे शोभित करवाल रूपी जल-धारा के कारण दुर्लंघ्य है।

सिरिकण्हराय करयलि णिहिय असिजल वाहिणि दुग्गयरि।
धवलहर सिहरि हयमेहउलि पविउल मण्णखेड णयरि ॥

(णाय० १।१।११-१२)

मपु० की एक प्रशस्ति मे कवि ने उसे जन-सकुल तथा कुसुमित लताओ से युक्त कहा है। इन्द्र की अलकापुरी भी उसके सौन्दर्य को देख लज्जित होती थी।[1]

करहट तथा देवली के लेखो मे इसे देवताओ का मान मर्दन करने वाली बतलाया गया है —

यो मान्यखेटममरेन्द्रपुरोपहास्ति गीर्वाणगर्वमिव खर्वयितु व्यधन्त।[2]

पुष्पदत के मान्यखेट-प्रवास के समय राष्ट्रकूट सिंहासन पर कृष्ण (तृतीय) आसीन थे। उन्होने नगर को अत्यन्त भव्य बना दिया था। वहाँ विद्या, कला, सगीत, वाणिज्य आदि के केन्द्र थे। इसी कारण दूर-दूर के विद्वान्, कवि तथा कलावन्त वहाँ अपनी भाग्य-परीक्षा के लिये आते थे। जैन धर्म के बडे-बडे आचार्य यहाँ निवास करते हुए जन-दर्शन पर उपदेश दिया करते थे। अनेक बातो मे यह नगर तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध राजधानियो यथा धवलक्क, अनहिलवाड, उज्जयिनी, कान्यकुब्ज, वलभी, भिन्नमाल आदि स बढी-चढी थी।[3] धारा-नरेश सीयक द्वारा इसके करुण पतन का उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके है।[4] उस आक्रमण के समय के तीर के गोलो के चिह्न आज भी भग्न महल के पूर्वी भाग की भित्तियो पर अकित हैं।

कवि ने अपने मान्यखेट आने का उल्लेख इस प्रकार किया है —

महि परिभमतु मेपाडि णयरु। (मपु० १।३।४)

---

(१) तथा (४) देखिए इस निबन्ध के अध्याय २, पृ० ३४ पर उद्धृत प्रशस्ति श्लोक
(२) मपु० खड ३, भूमिका पृ० २१-२३
(३) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल पृ० २

यद्यपि डॉ० वैद्य[1] तथा डॉ० हीरालाल जैन[2] मेपाडि (अथवा मेलपाटीय) तथा मान्यखेट को एक ही स्थान मानते हैं, परन्तु स्व० प्रेमी ने इन्हे दो भिन्न स्थान बतलाये हैं। उनका कथन है कि सबसे पहले पुष्पदत को हम मेलाडि या मेलपाटी के एक उद्यान मे पाते हैं और फिर उसके बाद मान्यखेट में। मेलाडि उत्तर अर्काट जिले मे है, जहाँ कुछ काल तक राष्ट्रकूट महाराज कृष्ण (तृतीय) का सेना सन्निवेश रहा था और वही उनका भरत मन्त्री से साक्षात् होता है।[3]

महापुराण के अनुसार कवि पुष्पदत मार्ग-श्रम से क्लान्त, भटकते हुए मेपाडि नगर के बाहर किसी उद्यान मे आकर ठहरते हैं। वहाँ अम्मइय तथा इंदराय नामक दो नागरिक आकर उनसे नगर मे भरत मन्त्री के निवास-स्थान पर चलने का अनुरोध करते हैं। पहले तो कवि, जो इसके पूर्व किसी राज-सभा में अपमानित हो चुका था, राज्य-लक्ष्मी की कठोर शब्दो में भर्त्सना करता है और राजाश्रय मे रहने की अपेक्षा अभिमान-सहित मर जाना श्रेष्ठ समझता है,[4] परन्तु अन्त में अपने उचित आदर-सत्कार का आश्वासन प्राप्त कर चल देता है। भरत ने कवि का उत्तम वस्त्र-भोजनादि से सत्कार किया। कुछ दिन विश्राम करने के पश्चात् भरत ने उनसे महापुराण रचने की प्रार्थना की।[5]

इस विवरण से स्पष्ट होता है कि मेपाडि तथा मान्यखेट अभिन्न स्थान हैं। कवि मान्यखेट नगर के निकटवर्ती किसी उद्यान में ठहरा था और वहीं से भरत के यहाँ गया। अब प्रश्न यह है कि पुष्पदत मान्यखेट आने से पूर्व कहाँ रहे अथवा उनका मूल स्थान कहाँ था ?

कवि ने अपनी रचनाओ मे कही भी अपने मूल निवास स्थान का उल्लेख नही किया है, परन्तु अपरिचित नागरिको से राजाओ की भर्त्संना करने का अभिप्राय यही हो सकता है कि किसी राजा द्वारा वह अपमानित हुआ था और उसकी कटु स्मृति अभी तक उसके मानस-पटल पर अंकित थी। इस प्रसग मे भरत के वे वचन भी ध्यान देने योग्य हैं, जिनमे उन्होने कवि द्वारा भैरव राज नामक किसी राजा की प्रशसा करने के कारण मिथ्यात्व दोष उत्पन्न होने की बात कही है और उसके

---

(१) मपु० खड ३, भूमिका पृ० २१

(२) णाय०, भूमिका पृ० १८

(३) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२९।

(४) अहिमाणे सहुँ वरि होउ मरणु। मपु० १।४।६।

(५) मपु० १।३-६।

शमनार्थ महापुराण की रचना करने का प्रस्ताव रखा है।[1] भैरव राज कहाँ के राजा थे, इसके सम्बन्ध मे कुछ भी ज्ञात नही है। परन्तु इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि मान्यखेट आने से पूर्व कवि किसी राजा के यहा अवश्य रहा था।

कवि की भाषा मे प्राचीन मराठी के शब्द-रूपो को देखकर कुछ विद्वानो ने उसे महाराष्ट्र का कवि माना है।[2] इसके साथ ही उसमे कन्नड का एक शब्द 'ढोड्डु' भी आया है।[3] इनसे प्रमाणित होता है कि कवि इन दोनो भाषाओ के मिले-जुले प्रभाव में अवश्य रहा है, परन्तु उस पर अधिक प्रभाव मराठी का ही है।

प्रेमी जी ने कवि का मूल स्थान वरार अनुमानित किया है, जहाँ आजकल मराठी भाषा बोली जाती है। उनका कथन है कि सिद्धान्त शेखर नामक ग्रन्थ के कर्ता श्रीपति भट्ट के पितामह का नाम केशव भट्ट था और यही नाम पुष्पदन्त के पिता का भी है। अत ये दोनो एक ही व्यक्ति हैं। दोनो काश्यप गोत्रीय भी हैं। उनके समय में भी विशेष अन्तर नही है। श्रीपति वरार के बुलढाना जिले के रोहनखेड के रहने वाले थे, अत पुष्पदन्त को भी वरार का रहने वाला मानना चाहिए।[4] डॉ० वैद्य का भी यही मत है।[5]

राष्ट्रकूट राजाओ का भी प्राचीन सम्पर्क वरार से रहा है। मान्यखेट के प्रथम राष्ट्रकूट सम्राट् दन्तिदुर्ग के पूर्वज वरार के किसी क्षेत्र के शासक थे। उनका एक सम्बन्धी राष्ट्रकूट नन्नराज युधासुर ७ वी शताब्दी के मध्य मे एलिचपुर (वरार) का शासक था।[6] परन्तु राष्ट्रकूटो की मातृभाषा कन्नड थी, अत उनका मूल स्थान वरार नही हो सकता। इस सम्बन्ध मे डॉ० अलतेकर ने वीदर (हैदराबाद--अब आन्ध्र प्रदेश) के लाट्टूर (लट्टलूर) नामक स्थान के राठी परिवार के वरार मे जाने का अनुमान किया है।[7]

---

(१) णियनिरिविमेस णिज्जिय मरिंदु, गिरि धीर वीरु भइरव णरिंदु।
पइ मण्णिउ वण्णिउ वीरराउ, उप्पण्णउ जो मिच्छत्त राउ।
(मपु० १।६।१०—११)
प्रथम पद के टिप्पण मे कहा गया है कि—वीर भैरव अन्य कश्चिद्दुष्ट महाराजो वर्तते कथामकरंद नाटके वा कश्चिद्राजास्ति।

(२) देखिए सह्याद्रि मासिक, अप्रैल १९४१ में डॉ० तगारे का लेख।

(३) सत्तम णरइ ढोड्डु णोपाडियउ। मपु० ९०।२।१०।

(४) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२६-२८।

(५) मपु० भाग ३, पृ० ३०८।

(६) राष्ट्रकूट एन्ड देयर टाइम्स, पृ० ११।

(७) वही पृ० ११, २३।

राहुल जी का कथन है कि पुष्पदंत दिल्ली के निकटवर्ती यौधेय के निवासी थे। कान्यकुब्ज दरबार में संस्कृत का अधिक मान होने के कारण वे मान्यखेट चले गये।[1] परन्तु राहुल जी के इस कथन का आधार गन्धर्व कवि (१३०८ ई०) का वह काव्य-अंश है, जो जसहर चरिउ के मूल पाठ की सन्धि ४, कडवक ३० में है। गन्धर्व ने स्वयं को योगिनीपुर दिल्ली का निवासी बतलाया है।

मान्यखेट के पतन के समय (९७२ ई०) तथा उसके कुछ समय पश्चात् तक तो निश्चय ही पुष्पदंत मान्यखेट में रहे, परन्तु उसके बाद कहाँ गये, किसी को ज्ञात नहीं। इतना अवश्य है कि कवि को नगर के नष्ट-भ्रष्ट होने पर अपनी आश्रय-हीन अवस्था को देखकर बड़ी वेदना हुई थी। सम्भव है कि वे संसार से दूर किसी वन्य प्रदेश में चले गये हों और वहीं किसी गिरि-कंदरा के निकट सदा के लिए सो गये हों। कवि ने स्वयं इस प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं।[2]

शरीर तथा वेश-भूषा

पुष्पदंत बाल चन्द्र के समान कृश-काय थे।[3] उनका वर्ण श्याम था तथा वे अत्यन्त कुरूप थे।[4] मुख असुन्दर होने पर भी कवि के दाँत बड़े सुन्दर थे। स्वयं कवि को उनकी धवलिमा पर गर्व था।[5] प्रतीत होता है कि इसी कारण कवि ने अपना नाम पुष्पदंत रख लिया होगा।

मान्यखेट आगमन के समय कवि धन तथा सम्मान दोनों से रहित था, अतः उस समय स्वभावतः उसकी वेश-भूषा दरिद्रों की सी थी। उस दशा का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है कि मेरे शरीर पर फटे-पुराने चिथड़े थे और अंग-प्रत्यंग धूलि-धूसरित था।[6] महामात्य भरत के गृह पर ही उन्हें वर स्नान, विलेपन, आभूषण तथा उत्तम वस्त्र प्राप्त हुए।[7]

---

(१) हिन्दी काव्यधारा, पृ० २६।

(२) तं सुणिवि भणइ अहिमाणमेरु, वरि खज्जइ गिरिकंदरि कसेरु।
णउ दुज्जणभउ हावंकियाइ ·· । मपु० १।३।१२-१३।

(३) णवयंदु जेम देहेण खीणु। मपु० १।३।६
णरवेसे हिंडमि चम्म रुक्खु। मपु० १।८।१२

(४) कसण सरीरे सुट्ठु कुरूवे। मपु० ३८।४।२
उयरुप्पण्णे सामल वण्णें। जस० ४।३१।१

(५) सिय दंतपंति धवलीकयासु। मपु० १।७।१

(६) जरचीवर वक्कल परिहाणें।
धीरे धूली धूसरियंगे। मपु० १०२।१४।६-७

(७) वरण्हाण विलेवण भूसणाइं,
दिण्णइं देवंगइं णिवसणाइं। मपु० १।६।७।

पुष्पदत जिन-भक्त तो थे, परन्तु विरक्त साधु न थे। अत वे जब तक महामात्य भरत तथा नन्न के आश्रय मे रहे, आभूषणादि श्रेष्ठ परिधान धारण करते रहे होंगे।

स्वभाव

साहित्यकार की रचना में उसकी आत्मा का प्रतिबिम्ब होता है। पुष्पदत के काव्य द्वारा भी हमे उनकी अनेक विशेषताओ का परिचय मिलता है। जैसा कि हम पूर्व ही उल्लेख कर चुके हैं, कवि ने अपने लिए कुछ ऐसी उपाधियो का प्रयोग किया है, जो विचित्र होने के साथ ही असाधारण भी हैं। अभिमान मेरु, सब जीव-निष्कारण मित्र, विशाल चित्त आदि उपाधियो से कवि के विशिष्ट स्वभाव का परिचय मिलता है।

पुष्पदत के स्वभाव की सबसे प्रमुख विशेषता उनका स्वाभिमान है। उन्होने अपनी प्रत्येक रचना के प्रारम्भ मे 'अभिमान मेरु' पदवी का प्रयोग किया है।[1] भारतीय साहित्य के इतिहास मे किसी कवि द्वारा अपने लिए ऐसी दर्पपूर्ण उपाधि के व्यवहार करने का उदाहरण शायद ही प्राप्त हो।

इस उपाधि की मूल भावना की पुष्टि महापुराण की उत्थानिका मे वर्णित कवि के उस उत्तर से होती है, जो उसने मान्यखेट नगर मे चलने का अनुरोध करने वाले दो नागरिको को दिया था। एक हृदयहीन राजा की सभा से अपमान की घूँट पीकर चल देने वाला महाकवि जब किसी अन्य राज-मंत्री के यहाँ जाने की बात सुनता है तो उसका हृदय वितृष्णा से और भर जाता है तथा उसकी भावधारा मर्यादा के समस्त बंधन तोड कर इन शब्दो मे फूट पडती है —

'गिरि-कदराओ मे घास-पात खाकर रहना श्रेष्ठ है, परन्तु दुर्जनो की टेढी भौह देखना ठीक नही। माता के उदर से जन्म लेते ही मर जाना अच्छा है, किन्तु किसी राजा के भ्रूकुंचित नेत्र देखना एव दुर्वचन सुनना अच्छा नही। कारण कि राजलक्ष्मी ढुरते हुए चमरो की वायु से गुणो को उडा देती है, अभिषेक के जल से सुजनता को धो डालती है तथा विवेकहीन बना देती है। दर्प से फूली रहती है, मोह से अंधी रहती है, मारणशाला होती है, सप्तांग राज्य के भार से बोझिल रहती है, पिता पुत्र-दोनो मे रमण करती है। विष की सहोदरा और जड रक्त है। इस समय लोग ऐसे नीरस और निर्विशेष हो गये हैं, कि बृहस्पति के समान गुणी व्यक्तियो से भी द्वेष रखते हैं। इसी कारण मैने इस कानन की शरण ली है। अभिमान के साथ यही मर जाना श्रेष्ठ है।'[2]

---

(१) त सुणवि भणइ अहिमाणमेरु, वर खज्जइ गिरि कंदरि कसेरु। मपु० १।३।१२
ताम्बू हा मंदिरि णिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु गुण गण महंतु। णाय० १।२।२
णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु, अहिमाणमेरु कइ पुप्फयंतु। जस० १।१।८
(२) मपु० १।३।१२-१५ तथा १।४।१-६

इस कथन मे कवि के स्वाभिमान के साथ उसकी आत्मिक दृढ़ता तथा निर्भीकता के भी दर्शन होते हैं। बाहुबलि तथा भरत-दूत के संवाद मे भी कवि ने राजाओं पर तीखा व्यंग्य किया है। उनकी व्याख्या करता हुआ कवि कहता है कि पर-द्रव्य हरण करने वाले तथा कलह के कारण राजा होते हैं।[1] जो चोर अधिक बलवान होता है, वही राजा बन जाता है।[2] इसी प्रसंग मे सम्राट् भरत द्वारा प्रेषित अधीनता स्वीकार करने के प्रस्ताव को ठुकराते हुए बाहुबलि कहते हैं कि हे दूत, मेरा यही दृढ निश्चय है कि मान-भंग होने की दशा मे जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु का आलिंगन करना अधिक श्रेष्ठ है।[3] अन्यत्र कवि कहता है कि संध्या-राग की भांति राजा का राज्य भी क्षण-भंगुर है।[4] एक और स्थान पर बाहुबलि के भ्राता भरत-दूत से कहते हैं कि जो राजा जरा-मरण का नाश कर सकता हो, चतुर्गति के दुःख का निवारण कर सकता हो तथा भवसागर से पार करने मे समर्थ हो तो हम उसे शीश झुका सकते हैं, अन्यथा नही।

इस प्रकार कवि को जहाँ भी अवसर प्राप्त हुआ है, उसने अपने स्वाभिमान को अवश्य प्रकट किया है। कवि के उस युग मे राज्य की समस्त शक्ति सम्राट के ही हाथों मे होती थी और वही अपनी प्रजा का भाग्य-विधाता भी होता था। ऐसी अवस्था में राजतंत्रीय शासन-व्यवस्था की इतनी खरी आलोचना करना सामान्य बात न थी। कवि ने तत्कालीन भारत की राजनीति के प्रमुख विधायक और लगभग समस्त दक्षिणी क्षेत्र के एकमात्र शासक, राष्ट्रकूट सम्राट कृष्ण (तृतीय) की ठीक नाक के नीचे-उनकी राजधानी मान्यखेट मे रहते हुए-राज-लक्ष्मी की जैसी भर्त्सना की है, वह उसके अदम्य साहस का ज्वलंत प्रमाण है।

पुष्पदंत जैसे स्वाभिमानी व्यक्ति कभी परतंत्रता मे नही रह सकते। कवि परतंत्रता को हेय समझता है। वह कहता है कि दूसरे के देश मे रहने मे, दूसरे के गृह मे वास करने मे, दूसरे के वशीभूत होकर जीने मे, और दूसरे का अन्न खाने मे आग लग जाय। जहाँ टेढ़ी भौहों से भयभीत किया जाय ऐसे राजा के राज्य मे न रहना ही अच्छा। दूसरे की दी हुई भूमि पर वास करने की अपेक्षा वन के फल खाकर सुख से रहना श्रेष्ठ है। दूसरे के महार्घ-प्रभा-युक्त विशाल महल की अपेक्षा गिरि-कंदरा को मैं श्लाघ्य समझता हूँ।[5] परवशता मे राज्य-भोग भी मिल तो वे तुच्छ

---

(१) जे परदविणहारिणो कलहकारिणो ते जयम्मि राया। मपु० १६।२१।२

(२) जो बलवंत चोरु सो राणउ। मपु० १६।२१।४

(३) माणभंगि वर मरणु णजीविउ, एहउ दूय सुट्ठु मइ भाविउ। मपु० १६।२१।१०

(४) राउ राउ ण संझहि केरउ। मपु० २८।४।७

(५) डज्झउ परदेसु परावयासु, परवसु जीविउ परदिण्णु गासु।
भूभंगभिउडि दरिसिय भयेण, रज्जेण वि किं किर परकएण।
समुयजिजएण सुहु वणहलेण, णउ परादिण्णें मेइणियलेण।
वर गिरिकुहरु वि मण्णामि सलग्घु, णउ परधवलहरु पहामहग्घु।
(मपु० ८१।१५।१-४)

हैं।[1] हमारे कवि का यह कथन गोस्वामी तुलसीदास की—पराधीन सपनेहुँ सुख नाही—उक्ति से लगभग मिलता-जुलता है। पुष्पदंत की भांति ही प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र के प्रधान शिष्य कवि रामचन्द्र भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रेमी थे।[2]

प्रतीत होता है कि ऐसे आत्म-गौरव को सर्वोपरि समझने वाले कवि को पग-पग पर दुष्ट मनुष्यो की प्रताडना तथा अपमान सहन करने पडे होंगे, जिससे कवि का मानस कुंठित हो गया था और उसके हृदय मे दुष्टो के प्रति स्थायी घृणा की भावना घर कर गयी होगी। इसी कारण जहाँ भी अवसर प्राप्त हुआ, कवि ने कठोरतम शब्दो मे उनकी भर्त्सना की है। दुष्टो की निंदा, उसके काव्य मे केवल साहित्यिक रूढि का पालन मात्र नही है, वरन् वह उसके जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम है। इस प्रकार कवि ने खल-संकुल समाज का जो वर्णन किया है, वह अत्यन्त स्वाभाविक है।

पुष्पदंत कहते है कि जहाँ दुष्टो का निवास हो वहाँ रहना क्या? वहाँ जायें, जहाँ गिरि-कंदराओ में वास हो, जहाँ वृक्षो के फल खाने को मिलें, जहाँ निर्झरो का जल पीने के लिये हो, जहाँ गुण निसृत होते हो, और जहाँ दुष्टो की वाणी कान में न पडे।[3]

कवि ने महापुराण के अन्तर्गत आदि पुराण, उत्तर पुराण, रामायण तथा हरिवंश पुराण की कथाओ के प्रारम्भ मे दुर्जनो के प्रति अपने मानसिक क्षोभ को व्यक्त किया है। आदि पुराण की उत्थानिका में कवि कहता है कि जब प्रवरसेन कृत सेतुबंध काव्य भी तिरस्कृत किया जा सकता है, तो मैं, जो बुद्धि तथा सरसगति-रहित एवं निर्बल व्यक्ति हूँ, किस प्रकार काव्य करके कीर्ति लाभ कर सकूंगा।[4]

आगे उत्तर पुराण प्रारम्भ करते हुए कवि, भरत मन्त्री के विषय में कहता है कि उन्होने दुष्ट तथा कुशीलमति व्यक्तियो से पूर्ण इस कुसमय में अपनी विनयशीलता

---

(१) रज्जे भोज्जें किं परवसेण। मपु० ५०। ७। ३

(२) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० १२

(३) किं किज्जइ पिसुणणिवासि वासु, तहिं गम्मइ जहिं कंदरणिवासु।
तहिं गम्मइ जहिं तरुवर हलाइं, तहिं गम्मइ जहिं णिज्झरजलाइं।
तहिं गम्मइ जहिं गुणणिरनिवाइ, सुव्वंति ण खलजणभासियाइं।
मपु० ७०। ३। २-४

(४) जो सुम्मइ पवरसेणविहिय सेउ, तासे वि दुज्जणु किं परिम होउ।
घत्ता—णउ महु बुद्धिपरिग्गहु णउ सुयसंगहु णउ कासु वि केरउ बलु।
भणु किह करमि कइत्तणु ण लहमि कित्तणु जगु जि पिसुणसयसंकुलु।
मपु० १। ७। ८-१०

से उन्हे ढक कर शून्य आकाश मे जाती हुई सरस्वती का उद्धार किया।[1] वस्तुत कवि को अपने जीवन मे अनेक व्यक्तियो द्वारा प्रताडित होना पड़ा था। यही कारण है कि वह समय को कलि-काल द्वारा मलिन तथा विपरीत हुआ कहता है। उसे जो-जो मिलता है, वही दुर्जन है जैसे निष्फल, नीरस तथा शुष्क वन।[2] ससार गुणी पुरुषो के लिये सदैव वंक रहता है जैसे डोर (गुण) चढाने पर धनुष वक्र हो जाता है।[3] इसी प्रसग मे कवि कहता है कि कोई उसे काव्य-पिशाच के रूप में मानता है और कोई थद्धु (अकर्मण्य) कहकर तिरस्कार करता है।[4]

राम-कथा के आदि मे पुन कवि कहता है कि कलि-काल में शुचिता निरथक हो गयी है, लोग दुर्जन हैं, अन्य भी पीडित हैं।[5]

हरिवश पुराण की कथा कहते हुए भी कवि कहता है कि दुर्जन-समूह पर-दोष ग्रहण करता है। मैं उनके अप्रिय वचनो का निवारण न करूगा। मैं काव्य करूं, वे निंदा करें। इनका परिणाम सर्वविदित है। मेरी काव्य-कीर्ति अपने सरस एव सुकोमल पद दुष्टो की ग्रीवाओ पर रखकर तीनो लोको से परे भ्रमण करेगी।[6]

कवि के इन वचनो मे जहाँ निराशापूर्ण भाव हैं, वहाँ स्वाभिमान तथा आत्म-विश्वास भी कम नही। द्रष्टव्य है कि यह स्वाभिमान कोरे अभिमान पर ही आश्रित नही था, वरन् वह गभीर अध्ययन, सतत साधना तथा परिपक्व अनुभव पर आधारित था।

जीवन के अभावो तथा सघर्षो ने कवि के हृदय मे आत्मविश्वास की भावना कूट कूटकर भर दी थी। इसी के बल पर वे कहते हैं कि बडे बडे ग्रन्थो के ज्ञाता तथा दीर्घकाल से काव्य रचना मे प्रवृत्त कवि भी मेरी समता नही कर सकते।[7] एक अन्य

---

(१) खलसकुलि कालि कुसीलमइ विणउ करेप्पिणु सवरिय।
वच्चति वि सुण्णु सुसुण्णवहि जेण सरासइ उद्धरिय। मपु० ३८।२।९-१०

(२) कलिमल मलिणु कालविवरेरउ, णिग्घिणु णिग्गुणुदुण्णयगारउ।
जो जो दीसइ सो सो दुज्जणु, णिप्फलु णीरसु ण सुक्कउ वणु। मपु० ३८।४।५-६

(३) जगु एउ चडाविउ चाउ जिह तिह गुणेण सह वकउ। मपु० ३८।४।१०

(४) केण वि कव्वपिसल्लउ मण्णउ, केणवि थद्धु भणिवि अवगण्णिउ। मपु० ३८।५।८

(५) कलिकालें सुट्ठु गलत्थियउ, जणु दुज्जणु अण्णु वि दुत्थियउ। मपु० ६९।१।५

(६) मपु० ८१।२।९-१२

(७) मपु० सधि ६५ की प्रशस्ति।

स्थान पर वे कहते हैं कि हे देवि, सरस्वती इस खल-संकुल संसार में अभिमान-रत्न-निलय पुष्पदंत के बिना तुम कहाँ जाओगी ? तुम्हारी क्या दशा होगी ?[१]

राज-सुखों तथा भोग सामग्रियों को ठुकरा कर गिरि-कंदराओं में वास करने वाले व्यक्ति विरले ही होते हैं। यह उनके चरित्र और स्वभाव की सबसे कठिन परीक्षा होती है। कवि पुष्पदंत इस परीक्षा में खरे उतरते हैं। धनादि लोभ तो उनके पास फटक ही नहीं सके। उन्होंने एक स्थल पर अपने आश्रयदाता से कहा भी है कि मैं धन को तृणवत् समझ कर तुम्हारे गृह में वास कर रहा हूँ।[२] कवि की दृष्टि में धन सुरधनु के समान क्षणस्थायी तथा अन्यासक्ता प्रणयिनी के समान चंचल है।[३] उनकी कविता जिन-भक्ति हेतु लिखी गयी है, जीविका-वृत्ति के लिए नहीं।[४] जस० में उन्होंने अपनी काव्य-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि मैं धन और नारी की कथा कहने की अपेक्षा (धर्म-निबद्ध) कथा कहना उचित समझता हूँ।[५] इस सम्बन्ध में वे यह भी कहते हैं कि धन तथा नारी, दुर्बल एवं असहाय को कठिनता से प्राप्त होते हैं, परन्तु समर्थ एवं गुणवान के लिए वे सहज ही प्राप्य हैं।[६]

ऊपर से अभिमानी दिखाई देने वाले कवि के अन्तर की भाव-धारा वैसी नहीं है। शुष्कता एवं नीरसता तो दुर्जनों के प्रति है और वह होनी भी चाहिए। कवि वस्तुतः अत्यंत सहृदय है। उसके अन्तस् में करुणा की धारा निरन्तर प्रवाहित रहती प्रतीत होती है। अन्तराल की गहनता में विनयशीलता का सिंधु भरा प्रतीत होता है। गुणवतभक्त होने के साथ ही वे विनय-गम्य भी हैं।[७] विचारणीय है कि

---

(१) लोके दुर्जन संकुले हतकुले तृष्णाकुले नीरसे
सालंकार वचोविचारचतुरे लालित्यलीलाधरे।
भद्रे देवि सरस्वति प्रियतमे कालं कलौ साम्प्रतं
कं यास्यस्यभिमानरत्ननिलयं श्री पुष्पदंतं विना। मपु० संधि ८० की प्रशस्ति।

(२) धणु तणु सम मज्झु ण तं गहणु णहु णिकारिमु इच्छमि।
देवीसुय सुहणिहि तेणहउं णिलइ तुहारइ अच्छमि॥ मपु ३८.५.१०-११

(३) धणु सुरधणु जिह तिह थिरु ण ठाइ, पणइणि पणु अण्णहु पासि जाइ।
मपु० ५६.१.६

(४) मज्झु कइत्तणु जिणपय भत्तिहि, पसरइ णउ णिय जीविय वित्तिहि।
मपु० ३८.६.३

(५) जस० १.१.५-६

(६) मोहलइ दुब्बलहं धणु णारिउ दीणहं दुल्लहु।
उत्तमसत्तहं गुणवंतउ माणुसु सुल्लहु॥ णाय० ३.१३.१५-१६

(७) गुणवंतभत्तु तुहुं विणयगम्मु। णाय० १.८.८

जहां एक ओर वे स्वयं को ऐसा कवि मानते हैं जिसकी समता धुरंधर कवि भी नही कर सकते, वहाँ दूसरी ओर वे अपनी लघुता का वर्णन करते हुए विनय की मूर्ति बन जाते है। एक ही व्यक्तित्व में ऐसी असमान स्वभावगत विशेषताओं का सम्मिलन कठिनता से प्राप्त होता है।

कवि ने अपनी रचना मे अनेक स्थलो पर लघुता के भाव प्रदर्शित किये हैं। महापुराण के प्रारभ मे भरत द्वारा काव्य रचना में प्रवृत्त होने का अनुरोध किये जाने पर कवि कहता है कि न मैं विद्वान् हूँ, न काव्य-लक्षण, छद आदि जानता हूँ और न देशी भाषा (अपभ्रंश) से परिचय है। जिस जगद्वंद्य ग्रंथ की रचना विद्वान् कर चुके हैं, उसे मैं किस प्रकार वर्णन कर सकूँगा।[1]

आगे इसी प्रसंग मे कवि ने अकलक (न्याय कुमुदचन्द्र-कर्ता), कपिल (सांख्य-कार), कणाद (वैशेषिक दर्शनकार), दत्तिल-विसाहिल (संगीतशास्त्र-कर्त्ता), भरत मुनि (नाट्यशास्त्र रचयिता), पतजलि (महाभाष्यकार), भारवि भास, व्यास, कूष्माण्ड, कालिदास तथा चतुर्मुख, स्वयभू, श्रीहर्ष, द्रोण, ईशान, बाण आदि संस्कृत-अपभ्रंश के विद्वानो एवं कवियो के साथ ही वेदान्तियो तथा बौद्धो का उल्लेख करते हुए कहा है कि मैंने इनमे से किसी के ग्रंथो को नही देखा। मैं व्याकरण के धातु, लिंग, गुण, समास, संधि, कारक और विभक्ति भी नही जानता। महाभारत, पुराण, आगम, अलकार शास्त्र तथा पिंगलादि का भी मुझे ज्ञान नही है। हृदय में कला-कौशल भी निहित नही है मैं पूर्ण निरक्षर और जन्मजात मूर्ख हूँ। नरवेश में रूक्षचर्म लिये घूमता हूँ। अतिदुर्गम महापुराण के जल-निधान को कुडप द्वारा नहीं नापा जा सकता। तो भी मैं भक्ति-भावना से प्रेरित होकर यह कथा कहता हूँ। क्या तुच्छ मधुकर नभ मे भ्रमण नही करता ?[2]

कवि कहता है कि मैं निर्लज्ज और पापी हूँ। आज भी मैं धर्म से अनविज्ञ हूँ। मेरा विवेक मिथ्या-रंजित है। और मैं जिन-वचनो का भेद भी नही जानता।[3]

---

(१) णउ होमि वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छन्दु देसि ण वियाणमि।
जा विरइय जयवंदहि आसि मुणिंदहि साकह केम समाणमि।
मपु० १।८।९— २०

(२) मपु० १।९।१-१५

(३) अहवा हउं णिग्घिणु पावयम्मु, ण वियाणमि अज्ज वि किं विधम्मु।
मिच्छाहिराम रंजियविवेउ ण वियाणमि जिणवर वयण भेउ।
मपु० १।११।१-२

मेरा ग्रंथ-रचना तो आकाश का मुष्टि-सहित हाथ से ढँकना है अथवा कलश द्वारा समुद्र को भरना है।[1] अनेक स्थलों पर कवि ने स्वयं को जड कवि, कुकवि और तुच्छ बुद्धि वाला कहा है।[2]

कवि ने अपनी रामायण के प्रारंभ में चतुर्मुख से अपनी तुलना करते हुए, अपनी बुद्धि को विस्तार-रहित बतलाया है और कहा है कि कविता के लिये मेरे पास कोई सामग्री नही है। चतुर्मुख ने चार मुखो द्वारा काव्य मे उच्च स्थान प्राप्त किया, किन्तु मेरे एक ही मुख है, सो भी खण्डित है। विधि ने मुझे दुर्जनता से मंडित बनाया है। मुझे छंद शास्त्र तथा व्याकरण का कुछ भी ज्ञान नही। लोग मेरी कविता पर हँसेंगे। मैं यदि विद्वानो के हृदयो मे प्रवेश करने में असमर्थ रहा तो मेरे काव्य करने को धिक्कार है। विद्वत्समाज मेरी रक्षा करे।[3]

हरिवंश कथा कहने के पूर्व भी पुष्पदंत कहते हैं कि सुकवित्व न होते हुए भी मैं भारत-कथा कहता हूँ। विद्वता के अभाव मे गुण-कीर्ति कैसे प्राप्त कर सकूँगा? मुझे विशेषण-विशेष्य आदि का कुछ भी ज्ञान नही है। मैंने सुकवियो द्वारा निर्देशित मार्ग भी नही देखा।[4]

लघुत्व-प्रदर्शन मे तुलसी ने भी कवि से मिलते-जुलते भाव व्यक्त किये हैं।[5]

इसके अतिरिक्त कवि को हम एक मनमौजी व्यक्ति के रूप में भी पाते हैं।

---

(१) लइ हत्थें झंपमि णहु समाणु, लइ कलसि समप्पमि जलणिहाणु।
मपु० १।११।४

(२) अम्हारिस जडकइ किं मुणंति। मपु० २०।४।७
किं वण्णइ अम्हारिस कुकइ। मपु० ३६।५।११
जडु कव्वपिसाए . । मपु० ४३।११।१३
ता मइ वण्णिज्जइ किं जडेण। मपु० ५८।४।७
तथा मपु० ५६।१।११, ६९।२।६, ७८।४।१०

(३) मपु० ६९।१।१-१२

(४) मपु० ८१।२।१-७

(५) कवि न होउँ नहि चतुर प्रवीना, सकल कला सब विद्या हीना।
आखर अरथ अलंकृत नाना, छंद प्रबंध अनेक विधाना।
मानस, बाल० पृ० १३
(प्रकाशक-राम नरायन लाल, प्रयाग, १९२८)

विचित्र सा फक्कड़पन उसके स्वभाव मे है। वह अपनी तबियत का बादशाह था। आदि पुराण रचने के पश्चात् कवि मे एक प्रकार की उदासीनता आ गयी थी। इसी भावुक अवस्था मे एक दिन देवी सरस्वती ने स्वप्न में दर्शन देकर, उनसे अर्हत् भगवान की प्रार्थना करने को कहा। सुनते ही वे जाग पड़े, परन्तु इधर-उधर देखा तो कोई नही, उन्हे बड़ा विस्मय हुआ। पश्चात् भरत ने उन्हे समझाया, तब वे आगे की कथा लिखने बैठे।[1]

पुष्पदंत जैसे निस्पृह व्यक्ति के हृदय मे सांसारिक चिंताओ को कभी प्रश्रय नही मिल सकता। यही कारण है कि शरीर, संपत्ति तथा पुत्र-कलत्र से रहित होते हुए भी उनके मुख-मंडल पर प्रसन्नता की रेखा सदा अंकित रहा करती थी।[2] वे जब बोलते थे, तो उनकी शुभ्र दंत-पंक्ति की कान्ति से समस्त वातावरण उज्ज्वल हो जाता था।[3]

कवि को काव्य रचना के अतिरिक्त और कोई व्यसन न था। स्थूल भोग-विलास उन्हे छू भी न गये थे। आचरण निष्ठा के साथ जिन-भक्ति के धर्म-परायण मार्ग पर चलते हुए, उन्होने सांसारिक व्यसनो के ताप का शमन कर दिया था।[4]

कवि जैसे स्वाभिमानी, स्पष्टवादी और प्रतिभावान व्यक्ति के प्रति स्वभावत., अनेक मनुष्य द्वेष रखते थे और अनेक उन्हें गुणवान समझ कर आदर भी करते थे। कवि का कथन है कि कोई मेरा सम्मान करता है और कोई आलस्य से भरा हुआ कहकर मेरा तिरस्कार भी करता है।[5]

कवि के हृदय में वात्सल्य का स्रोत भी था। बालको के प्रति उनका सहज स्नेह था। उनका कथन है कि पुत्र-स्नेह को मुनि-वर्ग भी कठिनाई से रोक पाते हैं।[6]

कवि को मिथ्या-भाषण से बहुत चिढ़ थी। पोदनपुर-राज अरविंद के पुत्र कमठ के मिथ्या बोलने पर, कवि ने उसके प्रति अत्यन्त कठोर शब्दों का प्रयोग किया है।[7]

---

(१) मपु० ३८।२ तथा ३८।३।५-१०
(२) पहसिय तुंडि कइणा खंडे। जस० ४।३१।४
(३) सियदंतपंतिधवली कयासु। मपु० १।७।१
(४) णाय० १।३।६
(५) मपु० ३८।५।८
(६) सिसु मोहणउ मुणिहिं दुवारु। मपु० ३९।२।८
(७) दप्पिट्ठु दुट्ठु खलु पावरासि, तं णिसुणिवि भासइ असिममासि। मपु० १३।११।४

पुष्पदत में उपकार के प्रति कृतज्ञता के भी दर्शन होते हैं। अपने आश्रयदाता भरत तथा उनके पुत्र नन्न द्वारा उन्हें जो आश्रय और सम्मान प्राप्त हुआ, उसकी वे वार-बार प्रशसा करते नही थकते ।[1]

जैन धर्म में सदाचार तथा परोपकार की प्रधानता होने के कारण, कवि के काव्य में लोक-कल्याण की भावना होना स्वाभाविक ही है। उनकी रचनाओ मे स्थल-स्थल पर कल्याणकारी उपदेशो तथा जन-हितकारी बातो की योजना मिलती है। उनके धार्मिक विश्वास इसी भावना की भित्ति पर आधारित हैं। जसहर चरिउ मे कवि ने अकाल-पीडित देश मे वर्षा द्वारा धान्य-कण-प्रदायिनी वसुधरा की तृप्ति की कामना की है। वे सर्वत्र लक्ष्मी का निवास, नारियो के नृत्य, वाद्य-वादन, मगलाचार आदि देखना चाहते हैं। शान्ति की स्थापना, दु खो का उन्मूलन तथा अखिल नर-नारियों में धर्म के प्रति उत्साह देखना भी उन्हें अभीप्ट है ।[2]

जीवन के अभाव तथा सघर्ष

पुष्पदत ने महापुराण को समाप्त करते हुए अपने दरिद्र जीवन का अत्यत करुण चित्रण किया है। वे कहते हैं कि सिद्धि विलासिनी के मनोहर दूत, मुग्धादेवी के शरीर से सभूत, निर्धनो-धनियो को समान रूप से देखने वाले, समस्त जीवो के अकारण मित्र, जिनका काव्य-स्रोत एव शब्द सलिल बढा हुआ है, केशव के पुत्र, काश्यप गोत्रीय, विमल सरस्वती के विलासी, शून्य भवनों तथा देवालयो में निवास करने वाले, कलियुग के प्रबल पटलो से रहित गृह-हीन, पुत्र-कलत्र से वचित, नदियो, वापियो, सरोवरो मे स्नान करने वाले, जीर्ण वस्त्र तथा वल्कल धारण करने वाले, धैर्यवान, धूलि-धूसरित अगो वाले, दुर्जनो के सग से दूर रहने वाले, भूमि पर शयन करने वाले और अपने ही हाथो को ओढने वाले, पडित-मरण की कामना रखने वाले, मान्यखेट नगर के निवासी, मन में अर्हत् का ध्यान करने वाले, महामात्य भरत द्वारा सम्मानित, अपने काव्य प्रबन्ध से जन-समूह को आनन्दित करने वाले तथा जिन्होंने पाप-पंक को धो डाला है, ऐसे अभिमान-मेरु नामाकित पुष्पदत कवि ने इस काव्य को भक्ति पूर्वक रचा ।[3]

---

(१) वण्णाणविसेबण भूसणाइ, दिण्णइं देवगइ णिवसणाइ ।
अच्चतरमालइ भोयणाइ, गलियाइ जाम कइवय दिणाइं मनु० १।६।७ ८
अच्चंतरमालइं भोयणाइ जाम कइवय दिणाइ । म०पु० १।६।७–८

(२) होउ चिराउसु वरिसउ पाउसु, तिप्पउ मेइणि घणकणदाइणि ।
विलसउ गोमिणि णच्चउ कामिणि, घुम्मउ मद्दलु पसरउ मगलु ।
सति वियभउ दुक्खु णिलु भउ, धम्मुच्छाहि मइ णरणाहि ।
जस० ४।३१।११–१३

(३) मपु० १०२।१४।१–१३

कवि के इन शब्दो मे उसकी मानसिक व्यथा का स्पष्ट परिचय मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मान्यखेट आने से पूर्व कवि को अपने जीवन-निर्वाह के लिये अत्यधिक संघर्ष करना पडा था। निवास, भोजन तथा वस्त्र तक को सामान्य आवश्यकताएं भी उसे उपलब्ध न थी। सभव है इसका कारण उसका स्वाभिमान ही हो।

ऐसा करुण और हृदय-विदीर्ण करने वाला जीवन था उस व्यक्ति का जो सस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्र श भाषाओ का उद्भट विद्वान्, अनेक भारतीय दर्शनो का ज्ञाता तथा सरस्वती का वरद पुत्र था और जिसने अपनी प्रतिभा के बल पर समग्र अपभ्र श साहित्य में शीर्ष स्थान प्राप्त किया था एव जिसके कारण १४ वी शताब्दी तक के कवि उसका आदरपूर्वक स्मरण करते रहे। सरस्वती तथा लक्ष्मी के वैर वाली किंवदंती हमारे कवि के जीवन मे प्रत्यक्ष दिखाई देती है। भारतीय साहित्य के इतिहास में ऐसे अनेक महापुरुषो के उदाहरण मिलते हैं, जिनका जीवन पुष्पदत के समान ही दयनीय रहा है।

सभवत. उचित आश्रय को खोज मे कवि को स्थान-स्थान पर भटकना पडा होगा। कुछ स्थानो पर तो उन्हे अपमान की कडवी घूंट भी पीनी पडी। इसीलिये उनके स्वभाव मे एक प्रकार की तिक्तता, कटुता, आक्रोश और प्रतिक्रिया की भावना आ गयी थी जिसकी स्पष्ट झलक उनके काव्य में दिखाई देती है।

परन्तु जीवन के अभाव उनके आत्मबल को विचलित न कर सके। उन्होंने जीवन से मुख मोडने का कभी विचार नही किया, प्रत्युत आपदाओ के झंझावात में आशा का दीपक उनके पथ को आलोकित करता रहा और इसीलिये उन्होने गिरि-कंदराओ मे वन्य-फलादि खाकर सम्मानपूर्वक जीवित रहना श्रेयस्कर समझा।

मान्यखेट आने के पश्चात् भरत तथा नन्न के आश्रय मे उनके भोजन, वस्त्र तथा निवास के अभाव अवश्य दूर हो गये, परन्तु ऐसे सुखद आश्रय प्राप्त होने के बाद भी वे एकाकी और नि संग ही रहे। पुष्पदत की यह अवस्था देख कर ही डॉ० भायाणी को उनमें भवभूति के दर्शन होते हैं।[1]

कवि का संप्रदाय

पुष्पदंत जैन मतानुयायी थे। जिन-चरण-कमलो मे उनकी अटूट भक्ति थी।[2] उसी भक्ति-भावना से प्रेरित होकर उन्होंने काव्य-रचना की।

कवि की समस्त रचनाएं जैन महापुरुषो के जीवन-चरित्र सम्बन्धी हैं। महापुराण मे जैन धर्म की समस्त सैद्धांतिक बातो का समावेश है। इन रचनाओ

(१) पउम चरिउ, खंड १, भूमिका पृ० ११

(२) जिण चरण कमल भत्तिल्लएण। मपु० १।८।८

मे जिन-भक्ति की भावना प्राय उसी भाँति व्याप्त है, जिस प्रकार तुलसी के मानस मे राम-भक्ति ।

ग्रन्थो मे आये हुए प्रसगो से ज्ञात होता है कि कवि जैन धर्म के दिगम्बर सम्प्रदाय को मानता था । काव्य के ऋषभ आदि महापुरुष दीक्षा के उपरान्त दिगम्बर मुनि हो जाते हैं ।[1]

काव्य के कथानको का गठन भी दिगम्बर परम्परा मे मान्य विश्वासो के आधार पर ही किया गया है । श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे जिन की माताएँ १४ स्वप्न देखती हैं, परन्तु दिगम्बर उनकी सख्या १६ मानते हैं । कवि ने ऋषभ की माता द्वारा १६ स्वप्न देखे जाने का उल्लेख किया है ।[2] श्वेताम्बर स्वर्गों की सख्या १२ मानते है, परन्तु हमारे कवि ने दिगम्बर मान्यतानुसार १६ स्वर्गों का वर्णन किया है ।[3] एक स्थान पर कवि ने श्वेताम्बरो के इस विश्वास की आलोचना की है कि केवल ज्ञानी मुनि भी भोजन करते तथा वस्त्र धारण करते हैं ।[4]

कवि के अनुसार उसके माता-पिता प्रथमत शैव थे, परन्तु पीछे किसी जैन साधु के उपदेश से उन्होने जैन धर्म ग्रहण कर लिया था और अत मे जिन-सन्यास लेकर शरीर-त्याग किया था ।[5]

कवि की रचनाओ मे अनेक स्थलो पर शिव की चर्चा मिलती है ।[6] इनसे अनुमान होता है कि पुष्पदन्त भी अपने माता-पिता की भाँति पहले शैव रहे होगे, पश्चात् उन्होने भी जैन धर्म ग्रहण कर लिया होगा । महामात्य भरत ने कवि द्वारा भैरव राज की प्रशंसा करने के कारण उत्पन्न हुए मिथ्यात्व के प्रायश्चित-स्वरूप, महापुराण लिखने की जो प्रेरणा दी थी, स्व० नाथूराम प्रेमी ने इस घटना से भी पुष्पदन्त के शैव होने तथा उसी अवस्था मे भैरव राज की यशो-गाथा लिखने का अनुमान किया है ।[7]

---

(१) तासय मुहमो सवरो होइ होमि दियवरो । मपु० ७।१८।२
 भत्ति महामुणि हुवउ दियवरु । मपु० ७।२६।१५

(२) मपु० ३।५

(३) नाययवय हलेण सोलहमउ सग्गु लहइ माणुसु दुहविरमउ । मपु० ११।१०।४

(४) मवर परिहर भोयणु भु जइ, नुवणुणाणु पभणतु ण लज्जइ । णाय० ६।२।५

(५) सिवभत्ताइ मि जिणसण्णासें, बे वि मयाइ दुरिय णिण्णासें ।
 णाय० पृ० ११२ (१०)

(६) मपु० १०।५।१-८, ६५।१२।६-७

(७) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २२६

पुष्पदंत पहले जो भी रहें हो, परन्तु जैन होने के पश्चात् उन्होंने केवल निष्ठा के साथ जिनधर्म का पालन ही नही किया वरन् अपने अमर ग्रंथो द्वारा उसके पवित्र सन्देश को गृह गृह तक पहुँचाने का महान् कार्य भी किया।

कवि की प्रतिभा तथा बहुज्ञता

प्राप्त उल्लेखो के आधार पर यह कहना कठिन है कि पुष्पदत की शिक्षा-दीक्षा कहाँ पर और किन महापुरुषो के श्रीचरणो मे बैठकर हुई थी। परन्तु उनका समग्र काव्य इसका साक्षी अवश्य है कि उनमे असाधारण प्रतिभा थी। उनका अध्ययन गम्भीर तथा विशाल था। विद्वानो के सत्सग भी उन्होने किये होगे। मानव जीवन के विविध रूपो एव जगत् के विभिन्न व्यापारो को उन्होंनें निकट से परखा भी था। इस सबध में कवि की दर्पोक्तियाँ तथा विनय के उद्गार, जिनका उल्लेख हम पीछे कर चुके हैं, द्रष्टव्य हैं।[1]

कवि द्वारा अपनी लघुता का प्रदर्शन तो कवि-प्रथा का पालन मात्र ही है। वस्तुत: वे अनेक विषयो के निष्णात् पडित थे। मपु० मे वर्णित जिन कवियो तथा विद्वानो एव उनके ग्रंथो से कवि ने अपनी अनभिज्ञता प्रकट की है, उन सबका पुष्पदत ने सम्यक् अध्ययन किया था।[2]

जैन होने के कारण वे अपने धर्म से पूर्ण परिचित तो थे ही, साथ ही उन्होंने उसका गहन अध्ययन भी किया था। अकलंक, उमास्वामी आदि विद्वानो द्वारा निरूपित जैन धर्म के सिद्धान्तो को उन्होंने अपने ग्रन्थो मे स्थान दिया है।[3] वे अन्य भारतीय दर्शनो से भी परिचित थे। उन्होंने ब्राह्मणो के वेदान्त तथा बौद्धो के शून्यवाद की तर्क के साथ आलोचना की है।[4] उन्ही प्रसंगो मे कवि ने साख्य, मीमासा, क्षणिकवाद, चार्वाक आदि दर्शनो तथा उनके उन्नायक विद्वानो के खडन भी किये हैं।[5]

---

(१) देखिए—पृ०६१–६६

(२) मपु० १।६।१—१०

(३) देखिए इस निबन्ध का अध्याय ६

(४) मपु० २०।१६ तथा णाय० ६।५—११

(५) मपु० २०।१७।२—५, ६६।३।११ तथा णाय० ६।११

(मपु० ८२।६।१४), कान्यकुब्ज (णाय० ५।२।११), यौधेय (जस० १।३।८) आदि[1]

मपु० मे वर्णित कुछ नगरो के नाम इस प्रकार हैं—

साकेत (८६।१४।१०), पुष्कलावती (६०।८।१), अयोध्यापुरी (६० १४।६), कौशाम्बी (६०।१६।४), काम्पिल्य (९२।८।२), वाराणसी (६४।१२।११), राजगृह (६५।६।१), मथुरा (६५।११।६), वैशाली (६८।६।२), काची (८०।६।१५), प्रभास आदि ।

इन नगरो मे प्राय सभी अति प्राचीन नगर हैं, जिनके उल्लेख पुराणो तथा बौद्ध जातको मे भी प्राप्त होते है ।[2]

मपु० मे कुछ पर्वतो के नाम इस प्रकार हैं—

महाहिमवत् (६।५।४), कैलाश (१५।८।५), गंध मादन (६०।२।१३),

गृह-पालित पशु—

महिष (मपु० २।१८।१३), वसह (वृषभ, मपु० ३।१०।३), तुरग (मपु० ४।४।११) मज्जार (मपु० ७।६।४), खर (मपु० ७।६।६), सुरहि (सुरभि, मपु० ७।८।७), सारमेय (श्वान, मपु० ७।१२।१), छेल (बकरी, जस० १।१०।१) आदि ।

पक्षी (मपु० मे)

बप्पीहय (चातक, २।१३।१३), हस (२।१३।१४), चचरीक (२।१४।८), कोइलु (कोकिला, २।१८।८), भास (उलूक, (४।४।११), तबचूलु (४।४।११), चक्कउल (चक्रवाक, ४।१८।१२) आदि ।

जलचर (मपु० मे)

सालूर (मेढक, २।१३।८), मयर (मकर, ७।६।७), कच्छव (कच्छप, ७।६।७), सिप्पि (शुक्ति, १२।७।१), जलरिट्ठ (जलकाक, १२।७।३), करिमयर (जलहस्ती, ५।१।१२), ओहर (जीव विशेष, ८७।६।१२) आदि ।

वृक्ष (मपु० मे)

ककेल्लि (अशोक, ८६।२।१२), कदंब (८६।२।१२), ताल (८६।१३।११), अबय (आम्र, ८६।२।१२), सल्लइ (शाल, ६३।१४।४), सामरि (शाल्मली, ११।१८।३), मह्ड (नालिकेर, १२।२।३), णग्गोह (वट, ९।१५।१), मालूर (बिल्व, ८।४।२२), आदि ।

पुष्प (मपु० मे)

कुमुद (२।६।६), नलिन (२।६।६), चंपउ (चंपा २।१३।१५), कुंद (२।२०।३)

---

(१) पतजलि के महाभाष्य मे कुछ प्रदेशो के नाम आये हैं । देखिए बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी जर्नल, खंड २७, भाग २ पृ० ५१—५२

(२) प्राचीन भारतीय परंपरा, डॉ० रागेय राघव, पृ० ४१०-४१२

मालइ (मालती, ४।१।५), कणिकार (६।१५।३), सिंधुवार (६।२८।१-२) बउल(बकुल, २२।२।५-७), किंशुक (१६।२३।४), आदि ।

फलादि (मपु० मे)

हिंताल (पिण्ड खजूर, ८६।१३।११), घोसायइ (कोषातकी फल, ८६।१७।११), कपित्थ (६५।११।१०), जंबू(१००।२।११) आदि ।

सरिताएं (मपु० मे)

वंगवइ (वेत्रवती, १४।४।११), गगा, सिन्धु (६५।४।१२). इरावइ (इरावती, ६८।११।१६), कालिंदि (८२।५।६), रेवाणइ (नर्मदा, ८८।१८।१७), मदाइणि (म दाकिनी, ३।२१।६) आदि ।

देशी-विदेशी मानव जातिया (मपु० मे)

शवर (मपु० ७।३।५), चिलायउ (किरात,) हूण, चीण (चीनी), उज्जवउल (आर्यकुल), मेच्छ, (म्लेच्छ), (७।६।१५-१६), आदि ।

मपु० के ऋषभ-विवाह (४।१७—१८) तथा नीलजसा नृत्य (६।५—८) के प्रसगों मे कवि ने सगीत तथा नृत्य के सविस्तार वर्णन किये हैं । राजकुमार ऋषभ के विवाह के अवसर पर सगीत-गोष्ठी मे कवि ने गायको-वादको के यथास्थान बैठने का उल्लेख किया है । मडप की पूर्व दिशा में अनेक वाद्य-यन्त्र रखे गये हैं । उसके दाहिनी ओर उत्तर दिशा मे तु बरु गायक हैं । उनके सम्मुख मृदु गायिकाएं सरस्वती के समान बैठी हैं । उनके दाहिनी ओर वशी-वादक हैं और उनके भी वाम पार्श्व मे वीणाकारो का समूह है । इस प्रबन्ध को पच्चाहार कहते हैं ।[1]

इसी प्रसग मे कम्मारवी अर्थात् वाद्य यन्त्रो के साफ करने की विधि का वर्णन करते हुए कवि ने, हिंडोल राग के गायन के साथ वण्ण, छड्य तथा धारा नामक तालो का प्रदर्शन करती हुई नर्तकियो के आगमन का वर्णन किया है। आगे नर्तकियो द्वारा ३२ प्रकार के पद-प्रचार, १०८ प्रकार के शरीरावयव-सचालन, १४ प्रकार के शीश-सचालन, ७ प्रकार के भ्रू-सचालन, ६ प्रकार का ग्रीवा-सचालन तथा ३६ प्रकार के दृष्टि-सचालन का उल्लेख है । इसके अतिरिक्त अष्ट-रस-जनित हावो, ४६ भावों तथा अनेक अपूर्व अनुभावो के वर्णन हैं ।[2]

---

(१) मपु० ४।१७।४—८

(२) कवि ने अनेक प्रकार के वाद्य-यत्रो का उल्लेख किया है, जिनमे कुछ तो अति प्राचीन हैं तथा आधुनिक समय मे उनका उपयोग नही होता । मपु० के कुछ वाद्य-यंत्र-झल्लिरि, पटह, मुइंग (मृदग), तूर, आलावणि (आलापिनी-वीणा), भेरि, काहल, हुडुक्क, भभा, आउज्ज (आतोद्य), दुंदुभि, पुष्कर, वंसताल आदि ।

इसी प्रकार नीलंजसा के नृत्य में अनेक प्रकार के वाद्य, लय, यति, गति, प्रचार, सयोग, मार्जनक, २० अलकार, उनकी वाद्य-क्रियाएँ वर्णित हैं।[१]

इन प्रसंगों द्वारा कवि के विस्तृत सगीत शास्त्र के ज्ञान का परिचय मिलता है।

कवि ने राजकुमारो को सिखाई जाने वाली अनेक विद्याओ तथा कलाओ का वर्णन किया है। णाय० मे नागकुमार को अनेक विद्याओ की शिक्षा दी जाती है। उनमे कुछ इस प्रकार हैं :—

१८ लिपियाँ, गणित, गाधर्व, व्याकरण, छद, अलकार, निघटु, ज्योतिष, काव्य, नाट्यशास्त्र, तंत्र-मत्र, वशीकरण, व्यूह-रचना, शिल्प, चित्रकला, इंद्रजाल, रिपु-स्तभन, नर-नारी-लक्षण आदि।[२]

इसी प्रकार राजकुमारियो को सिखाई जाने वाली विद्याओ में गद्य, अगद्य, काव्य, सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाएँ, नाट्य, गीत आदि के वर्णन कवि ने किये हैं। वात्स्यायन के कामसूत्र में इनमें से कुछ विद्याओ के उल्लेख हैं।[३]

राजाओ की द्यूत-क्रीडा तथा विलास के वर्णन[४] एव राज-सभा की व्यवस्था, अनुशासन तथा सम्राट् के सम्मुख सभा के शिष्टाचार के उल्लेख[५] कवि के विस्तृत ज्ञान के परिचायक हैं।

पुष्दत, कामदकीय नीति शास्त्र तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी परिचित थे। तीन बुद्धि, तीन शक्ति, पचाग मत्र, राजा के सप्त व्यसन, राज्य के सप्ताग आदि बातें उन्होने इन्ही ग्रथो से ली हैं।[६]

वात्स्यायन के कामसूत्र मे वर्णित नारियो के लक्षणो के अनुरूप कवि ने भी उनका विवेचन किया है।[७]

अपने समय में स्त्रियो द्वारा धारण किये जाने वाले आभूषणो से भी कवि परिचित था। मपु० में वर्णित कुछ आभूषणो के नाम इस प्रकार हैं—

कुडल सिरि, कर कंकणु, णेउर (नूपुर), मणिहार, दोर बह्मसुत्तु (ब्रह्मसूत्र), कडिसुत्तु (कटिसूत्र), वलय, केयूर आदि।

(१) मपु० ६।५–८
(२) णाय० ३।१, इनमे कुछ कलाएँ विष्णु पुराण तथा शुक्रनीति सार मे भी मिलती हैं।
(३) मपु० ५।१८
(४) जस० १।२८, २।११
(५) मपु० ६।१—२
(६) णाय० १.८
(७) मपु० ७१।६।६—१०

मानव शरीर के आकार-प्रकार, उनकी जातियाँ, आयु आदि के वर्णन भी कवि ने किये हैं।[१] उन्होंने नाग कुमार के शरीर के जो लक्षण गिनाये हैं,[२] वराहमिहिर के ग्रंथ से वे मिलते जुलते हैं।

कवि ने एक स्थान पर कातन्त्र नामक व्याकरण ग्रंथ का उल्लेख किया है।[३] डॉ० हीरालाल के मत से सर्व वर्मन ने इसकी रचना ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो में की थी।[४]

तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों तथा विश्वासो पर भी कवि की दृष्टि गई है। उसने बाधाओ को दूर करने के लिये लवण उतारने तथा शव को कुशासन पर रखने का उल्लेख किया है।[५]

गोस्पर्श, पीपल-स्पर्श आदि शुभ फल-दायक[६] तथा काक के शिर पर बैठने के अशुभ फल-दायक विश्वासों का भी[७] कवि ने उल्लेख किया है।

कवि को ज्योतिष का भी सामान्य ज्ञान था। उसने ग्रहो की गति तथा अन्य ग्रहों पर उनके प्रभाव की चर्चा की है।[८] कुछ वैज्ञानिक तथ्य भी उसके काव्य में प्राप्त होते हैं। एक उपमा मे धरित्री के नृत्य करने की बात कही गयी है।[९] आकाश-मार्ग से देखे गये अनेक देशो का वर्णन भी एक स्थल पर मिलता है।[१०]

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि पुष्पदंत एक प्रतिभावान व्यक्ति होने के साथ ही अनेक विषयो के पंडित भी थे। अपनी प्रतिभा तथा बहुज्ञता के बल पर ही वे महापुराण सरीखे उच्चकोटि के विशाल ग्रंथ की रचना करने में समर्थ हो सके।

कवि के आश्रयदाता

पुष्पदंत के जीवन का महत्वपूर्ण अंश उनके आश्रयदाताओ के यहाँ व्यतीत हुआ। प्राप्त सामग्री के आधार पर हमें कवि के तीन आश्रयदाताओं का पता लगता

---

(१) मपु० ११।८—९
(२) णाय० ३।४।८—१५, तुलना कीजिए—बृहत्संहिता (वराह मिहिर) अ० ६७।८५—८८
(३) कातंत पिंव कयविजएण। णाय० ६।६।८
(४) णाय० पृ० १६६
(५) तुर्यहि लवणु जसु उत्तारिज्जइ, सो पुणरवि तणि उत्तारिज्जइ। मपु० ७।६।११
(६) गोफंसणपिप्पलफंसणइं, मपु० ६९।२३।८
(७) मा रसउ काउ चप्पिवि कवालु। मपु० ५२।७।३
(८) मपु० ३।१२, ३।१७, ६।१३, ५२।१७
(९) रोमंचिय णच्चइ ण धरत्ति। मपु० १०।३।५
(१०) मपु० ६२।७।८ से ६२।१०।२ तक।

है। ये थे – भैरव राज महामात्य भरत तथा नन्न । इनमे से अंतिम दो आश्रय-दाताओं के सम्पर्क में ही कवि की प्रतिभा को विकसित होने का समुचित अवसर प्राप्त हुआ।

भैरव राज

महापुराण में इनका केवल उल्लेख मात्र है। वहाँ कवि को ग्रथ-रचना की प्रेरणा देते हुए भरत कहते है कि अपनी श्री विशेष से सुरेन्द्र को भी जीतने वाले तथा गिरि के समान धीर-वीर मानकर आपने भैरव राज की प्रशसा की है, इस कारण जो मिथ्यात्व उत्पन्न हुआ है, उसका प्रायश्चित यदि आप कर डालें तो आपका परलोक बन जाय।[1]

इससे स्पष्ट होता है कि कवि भैरव राज के आश्रय मे कुछ समय तक रहे तथा उसकी प्रशंसा मे उन्होने किसी ग्रन्थ की रचना भी की थी। मपु० के इस स्थल के टिप्पण मे (मपु० १।६।१०) प्रभाचन्द्र ने उसे 'कथा मकरन्द' नामक ग्रन्थ का नायक बतलाया है। सम्भवत: कवि ने यही ग्रंथ रचा होगा। बाद मे अपमानित होने पर कवि वहाँ से चला आया। इसी कारण मान्यखेट के नागरिको द्वारा नगर मे चलने का अनुरोध करने पर कवि ने राजाओं की कटु आलोचना की है।

महामात्य भरत

कवि जिस समय मान्यखेट के बाहर किसी उद्यान मे ठहरे थे, अम्मइय तथा इदराय नामक दो नागरिको ने आकर उनसे महामात्य भरत के यहाँ चलने का अनुरोध किया। प्रथम तो कवि तैयार न हुए, परन्तु अन्त में जब उन्होने इन शब्दो मे भरत का परिचय दिया, तब कवि ने उनके अनुरोध को माना। नागरिको ने कहा—

ब्रह्माण्ड मे जिनकी कीर्ति फैली है, जो जिन-भक्ति मे अनवरत लीन रहते हैं, जो शुभतुंग देव (कृष्ण राज) के चरण-कमलो के भ्रमर हैं, समस्त कलाओं तथा विद्याओं मे कुशल है, प्राकृत कवियो के काव्य-रस का मर्म जानते हैं जिन्होने सरस्वती-सुरभि का दुग्ध-पान किया है जो लक्ष्मी के प्रिय, मत्सर-रहित तथा सत्सघ है, जिनके स्कध रण-भार को ढोते हुए घिस गये हैं, जो सुप्रसिद्ध महाकवियों के हेतु कामधेनु है, जो दीन-दुखियो की आशा पूर्ण करने वाले हैं, जिनका यश दशो दिशाओं मे फैला है, जो पर-रमणी से विमुख रहते है, जो गुरुजनो के चरणो मे सदैव नत रहते है, जो श्री देवी के पुत्र, दानवीर एव महामात्य-वंश के ध्वज-पट को ग्रहण करते है, जिनका शरीर लक्षणो से लक्षित है, जो दुर्व्यसन-सिंह का सघात करने मे शरभ के समान है, ऐसे भरत का नाम क्या आप नही जानते? आइए, उन्ही के

(१) देखिए—प्रस्तुत निबन्ध के पृष्ठ ५६ का पाद टिप्पण (१)

निवास पर चलें, जो नेत्रों को आनन्दित करने वाले है तथा सुकवि के कवित्व को जानते है। ऐसे गुण-गण-चिंतक एवं त्रैलोक्य के भले (भरत) निश्चय ही आपका सम्मान करेंगे।[१]

भरत ने पुष्पदंत का यथोचित अभिनन्दन किया। कवि के आगमन पर वे ऐसे प्रसन्न हुए जैसे वागेश्वरी-सरिता उल्लास से कल्लोल कर रही हो।[२] उन्होंने कवि से कहा कि आपका आगमन मेरे लिये वैसा ही है, जैसा कमल के लिये सूर्य का।[३]

कुछ दिन व्यतीत होने पर भरत ने कवि को महापुराण रचने की प्रेरणा दी। कवि का नवनीत-हृदय उनके अनुरोध को न टाल सका और वे काव्य-रचना मे प्रवृत्त हो गये।

भरत प्रसिद्ध तथा धन-सम्पन्न कोडिल्ल गोत्र मे उत्पन्न हुए थे।[४] उनके पिता का नाम ऐयण और माता का नाम देवी अथवा श्रीदेवी था।[५] पितामह का नाम अण्णइय था।[६] कुंदव्वा उनकी पत्नी थी।[७] उनके तीन पुत्र थे—देविल्ल, भोगल्ल तथा नन्न। कवि ने देविल्ल को समस्त भूमण्डल पर महापुराण का प्रसार करने वाला कहा है, भोगल्ल को चतुर्विध-दान-दाता, भरत का परम मित्र, अनुपम चरित्रवान तथा यशस्वी बतलाया है। नन्न को गुणवंत, कुल-बल-वत्सल, सामर्थ्य-महत आदि कहा है। सोहण तथा गुणवर्म संभवत नन्न के पुत्र थे।[८] इन्हें एक स्थान पर महोदधि के शिष्य कहा गया है। णाय कुमार चरिउ की रचना करने की प्रेरणा इन्होंने भी कवि का दी थी।[९]

भरत के किसी अन्य भ्राता अथवा सम्बन्धी का उल्लेख नही मिलता। सन्तान-क्रम से चली आने वाली लक्ष्मी, कुछ काल से उनके कुल से चली गयी थी, जिसे भरत ने आपत्तियाँ सहकर, अपनी तेजस्विता तथा प्रभु-सेवा से पुन प्राप्त कर ली थी।[१०]

---

(१) मपु १ ५।१-१३
(२) आवंत् दिट्ठ् भरहेण केम, वाईसरि सरिकल्लोलु जेम। मपु० १।६।२
(३) तुहुं आयउ ण पकयहो भाणु। मपु० १।६।५
(४) कोंडिल्ल गोत्त णह दिणयरासु। जस० १।१।३
(५) सिरिदेवियव गब्भुब्भवगु। (मपु १।५।८)। अइयणदेवियव्वतणुजाएं।
मपु० ३८।३।१
(६) मपु० १।५।६
(७) कुंदव्व भरह दिय तणुरुहेण। णाय० १।३।८
(८) मपु० खंड ३, पृष्ठ २६८
(९) णाय० १।२।१-४ तथा १।३ १
(१०) मपु० सन्धि १३ की प्रशस्ति

भरत का शरीर श्याम वर्ण का था, परन्तु गठन मनोहर तथा मुखाकृति सुन्दर थी।[1] उनका शरीर बलिष्ट था, भुजाएँ हाथी की सूँड के समान तथा नेत्र कमलवत् थे।[2]

महामात्य जैन धर्मानुयायी थे। कवि से वे कहते है कि आप कुसुम-शर-विदारक अर्हंत् (जिन) भट्टारक की सद्भाव से स्तुति क्यो नही करते?[3] इससे प्रकट होता है कि वे एक धार्मिक पुरुष थे और अपने संरक्षण में त्रिषष्टि महापुरुषो के चरित्र वर्णन करने वाले ग्रंथ की रचना होना पुण्य-कार्य समझते थे। कवि ने इसी कारण उन्हें अनवरत-रचित-जिननाथ-भक्ति वाले तथा जिनवर-समय-प्रासाद-स्तंभ कहा है।[4] भरत ने अपना धन वापी, कूप, सरोवर आदि के निर्माण में व्यय करने की अपेक्षा जैन-धार्मिक-साहित्य की रचना तथा उसके प्रसार में लगाया।[5]

मपु० में भरत के संबंध में पुष्पदंत ने बहुत कुछ लिखा है। लगभग सभी प्रशस्ति-पद भरत की प्रशंसा मे ही रचे गये हैं। स्व० प्रेमी जी लिखते हैं कि उनका सारा गुणानुवाद, हो सकता है कि कवित्वपूर्ण होने के कारण अतिशयोक्तिमय हो, परन्तु कवि के स्वभाव को देखते हुए उसमे सत्यता भी कम न होगी।[6]

भरत बडे बुद्धिमान तथा नीति-कुशल थे। अपने मृदु भाषण तथा विनयशील स्वभाव द्वारा ही वे पुष्पदंत जैसे स्वाभिमानी कवि को अपनी ओर आकर्षित कर सके। फिर कवि से मपु० जैसे ग्रंथ की रचना कराना तो और भी दुष्कर था। जब भरत ने देखा कि कवि का मानस दुर्जनो के कारण अति खिन्न है और वे उसी कारण कविता नही करते, तो उन्होंने बडी तर्क पूर्ण युक्तियो द्वारा कवि को प्रोत्साहित किया। उन्होने कहा कि विवेक-नष्ट मसि-कृष्ण काक कही सुन्दर प्रदेश मे रह सकते हैं? दुर्जन तो निष्कारण क्रोध करके अपने स्वभाव के कारण दोष लेते हैं। अन्धकार को नष्ट करने वाले सूर्य का उदय उलूक को कभी भला नही लगता। विकसित कमल-युक्त सरोवर उसे कभी रुचिकर नही लगते। तेज-हीन पिशुन को कौन गिनता है? वह तो चंद्रमा पर भूंकने वाले श्वान के समान होता है।[7]

---

(१) मपु० सन्धि १९ की प्रशस्ति

(२) मपु सन्धि ७ की प्रशस्ति

(३) जइ कुसुमसर वियारउ अरहुभडारउ सब्भावें ण थुणिज्जइ। मपु० १।६।१६

(४) मपु० १।५।१ तथा ३८।३।२

(५) मपु संधि ४५ की प्रशस्ति

(६) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २४०

(७) मपु १।८।२—७

आदि पुराण समाप्त करने के पश्चात् कवि एक बार फिर अड गये। उनको उदास-चित्त देख कर भरत ने पूछा कि आप इतने दुर्मन क्यो दिखाई दे रहे है? ग्र थ-रचना करने में आपका चित्त क्यो नही लगता? क्या मुझसे कोई अपराध हो गया है, अथवा कोई अन्य कारण है। कृपया सब कुछ बतलाइए। क्या इस अस्थिर ससार से आपको मोह हो गया है? आप सिद्ध-वाणी धेनु का नवरस-क्षीर क्यो नही दुहते?[1]

भरत के इन शब्दो ने कवि पर जादू सा प्रभाव डाला। उनको लेखनी पुन गतिमान हो गयी। पुलकित हृदय से कवि ने इस प्रसग मे भरत की प्रशसा करते हुए लिखा है कि राजा शालिवाहन से भी बढ कर उनकी कीर्ति फैली थी। कालिदास को अपने कधो पर उठाने वाले श्रीहर्ष के समान दूसरे भरत ही हैं। इसके अतिरिक्त, कवि-वत्सल, कवि-क्रीडा-गिरिवर तथा कवि-राजहस-मानस सर आदि विशेषणो द्वारा पुष्पदत ने भरत को साहित्य-प्रेमी तथा कवियो को सरक्षण देने वाला कहा है।[2]

भरत सतो के समान रहते थे। विद्या ही उनका व्यसन था। उनके निवास-स्थान पर सगीत-काव्य की गोष्ठियाँ हुआ करती थी। लिपिक ग्र थो की प्रति-लिपियाँ किया करते थे। पुष्पदत के आगमन के पश्चात् उनका गृह विद्या-विनोद का केंद्र बन गया था।[3] लक्ष्मी तथा सरस्वती का अपूर्व सयोग उनमे था।[4]

कवि ने एक स्थल पर उन्हे वल्लभराज (कृष्ण) के कटक का सेनापति कहा है।[5] सभवत वे सम्राट् के दान-मत्री भी थे।[6]

सन् ९६५ ई० मे महापुराण की समाप्ति तक तो भरत अवश्य ही जीवित थे, परंतु उसके पश्चात् रचे हुए ग्र थों को कवि ने नन्न के नाम से अकित किया है। इससे अनुमान होता है कि उक्त वर्ष के कुछ समय पश्चात् ही उनकी मृत्यु हो गयी होगी।

राजाओ तथा राज-मत्रियो द्वारा स्वय साहित्य-सृजन करने अथवा कवियो को प्रेरित कर काव्य रचना कराने के उदाहरण भारतीय साहित्य के इतिहास मे प्रचुर हैं। मुद्राराक्षस नाटक के रचयिता विशाखदत्त (५ वी शताब्दी), सामत वटेश्वरदत्त

---

(१) मपु० ३८।३।९-१०
(२) मपु० ३८।५।२-६
(३) मपु० सधि ६७ की प्रशस्ति
(४) मपु० सधि २१ की प्रशस्ति
(५) श्रीमद्वल्लभराज-कटके यश्चाभवन्नायक। मपु० सधि ४२ की प्रशस्ति
६) हहो भद्र प्रचडावनिपतिभवने त्यागसख्यान कर्ता। मपु० सधि ७ की प्रशस्ति

के पौत्र तथा महाराज भास्करदत्त के पुत्र थे ।[1] परमर्दि देव का मन्त्री वत्सराज तथा उसका पुत्र त्रैलोक्यवर्म देव, १२ वी शताब्दी के बड़े प्रसिद्ध साहित्यिक थे । इसी समय मे धवलक्क (गुजरात) के राजा वीर धवल के जैन मंत्री वस्तुपाल अपने विद्या-प्रेम के लिये बडे प्रसिद्ध थे । आचार्य हेमचन्द्र द्वारा बाल-कवि उपाधि से अलंकृत जगद्देव भी एक मंत्री-पुत्र थे ।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत की यह परपरा थी कि उच्च पदस्थ व्यक्ति अपने समय के सास्कृतिक नेता भी होते थे । अपने जीवन मे महान् कार्य करने के पश्चात् उनकी यह अभिलाषा रहती थी कि अतिम समय मे समस्त सासारिक बधनो को त्याग कर धर्म-कार्य करते हुए मृत्यु का आलिंगन करें । संभवत: महामात्य भरत के सम्मुख भी ऐसा ही उद्देश्य था, जिसकी पूर्ति उन्होंने हमारे कवि को सरक्षण देकर की । अपना पार्थिव शरीर त्याग करने के पूर्व ही अपने जीवन की महत् अभिलाषा पूर्ण हुई देख उनकी आत्मा को कितनी शान्ति मिली होगी, इसका अनुमान करना कठिन है । वस्तुत: धर्म तथा साहित्य दोनो ही क्षेत्रो मे भरत का योग चिरस्मरणीय है ।

आश्चर्य की बात है कि राष्ट्रकूटो के इतिहास मे जहाँ महाराज कृष्ण के साहित्य प्रेम के साथ ही उनके एक नारायण नामक विद्वान् एव राजनीतिज्ञ मन्त्री की चर्चा की गयी है, वहाँ भरत जैसे व्यक्ति का कोई भी उल्लेख नही है ।[3] संभवत राष्ट्रकूटो की शासन-पद्धति मे मन्त्री का स्थान अमात्य से अधिक महत्व का होगा, जैसाकि प्राचीन ग्रन्थो मे कहा गया है । शुक्रनीति सार के अनुसार नीति कुशल राज-सहायक को मन्त्री कहते थे । अमात्य एक प्रकार का राजस्व-मंत्री होता था ।[4] भरत अमात्य ही थे । दूसरे जैन होने के कारण संभव है कि अजैन व्यक्तियो द्वारा उन्हे उचित सम्मान न दिया गया हो । किन्तु हमारे कवि ने उस महापुरुष की कीर्ति को अक्षुण्ण रखकर, इतिहासकारो को अपनी भूल सुधार करने का स्वर्ण अवसर प्रदान कर दिया है ।

गृहमन्त्री नन्न

नन्न भरत के कनिष्ट पुत्र थे । भरत के पश्चात् हमारे कवि इन्ही के आश्रय

---

(१) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ४२

(२) वही

(३) सालोटगी का शिलालेख, जैन साहित्य और इतिहास पृ० २२६ पर उद्धृत ।

(४) शुक्रनीति सार; अ० २ श्लोक ६४-६५

मे रहे। योग्य पिता के योग्य पुत्र होने के कारण, उन्हे राष्ट्रकूट सम्राट् के गृह-महत्तर (गृहमन्त्री) होने का गौरव प्राप्त हुआ था।[1]

पुष्पदत नन्न के सौजन्यपूर्ण व्यवहार से अत्यन्त सन्तुष्ट रहते थे। नन्न के आग्रह से उन्होने णायकुमार चरिउ की रचना की। जसहर चरिउ को भी कवि ने नन्न को समर्पित किया है।

कवि ने उनके दो पुत्रो, सोहण तथा गुणवम्म का उल्लेख किया है, जिन्होने कवि को णाय० की रचना करने का, (अपने पिता नन्न की ही भाँति) प्रोत्साहन दिया था।[2]

णाय० मे कवि ने नन्न की बडी प्रशंसा की है। उन्हे कलिविलसित-दुरित-कृतान्त, कोडिण्ण गोत्र-नभ-शशधर, लक्ष्मी-पद्मिनि मानसःसर आदि विशेषणो से सबोधित किया है। वे अपनी कुल की कीर्ति का विस्तार करने वाले थे। इधर-उधर बिखरी हुई सरस्वती को बाँधने वाले थे। वे अनेक दीन-दुखियो की सहायता करते थे तथा विपक्षियो को पराजित करने की क्षमता भी रखते थे।[3]

नन्न भी पिता की भाँति जैन धर्म के पोषक तथा उन्नायक थे। कवि को प्रोत्साहित करते हुए वे कहते हैं कि आप तन्द्रा त्याग कर मनोहर काव्य-रचना कीजिए जिससे जिन धर्म का कार्य मन्द न हो।[4]

मान्यखेट की लूट के पश्चात् पुष्पदत ने अपने भावी निवास की जो चिंता प्रकट की है[5], उससे ज्ञात होता है उस आक्रमण मे राष्ट्रकूटो के प्रासादो के साथ ही नन्न का गृह भी नष्ट कर दिया गया था।

कवि का समय

यद्यपि पुष्पदत ने स्पष्ट रूप से अपने समय का उल्लेख नही किया है, तथापि डॉ० वैद्य ने कवि के ग्रन्थो की निम्नलिखित बातो के आधार पर उनका समय निश्चित किया है —

(१) कवि द्वारा अपने पूर्ववर्त्ती विद्वानो के उल्लेख- जिनमे वीरसेन, जिनसेन तथा रुद्रट सबसे बाद के हैं। वीरसेन ने धवला की रचना ८१६ ई० मे तथा जिनसेन ने जयधवला की रचना ८३७ ई० मे की थी। रुद्रट का समय ८०० से ८५० के मध्य मे निश्चित है।

---

(१) वल्लहणरिंद घर महयरासु। जस० १।१।३

(२) णाय० १।२।४–१०

(३) णाय० १।३।१—६

(४) करि कव्वु मणोहरु मुयइ तदु, जिणधम्मकज्ज मा होहि मदु। णाय० १।३।१०

(५) मपु० सधि ५० की प्रशस्ति (देखिए पृ० ३४)

(२) सम्राट् कृष्णराज द्वारा चोलराज के वध की घटना, जो ९४९ ई० मे हुई थी।

(३) महापुराण रचना का सिद्धार्थ वर्ष मे प्रारम्भ तथा क्रोधन वर्ष मे आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष की दशमी को ग्रन्थ समाप्ति का निर्देश।

(४) ९७२ ई० मे खोटिग्ग देव के शासनकाल मे धारा नरेश सीयक द्वारा मान्यखेट पर हुए आक्रमण का मपु० संधि ५० की प्रशस्ति में उल्लेख।

उपर्युक्त तथ्यो के अनुसार जयधवला की रचना (८३७ ई०) एव रुद्रट (८५० ई०) के पश्चात् तथा मान्यखेट की लूट (९७२ ई०) के समय तक पुष्पदंत का वर्तमान होना निश्चित् हो जाता है। तिथियो की इन सीमाओ के अन्तर्गत सिद्धार्थ वर्ष दो बार आता है। प्रथम ८९९ ई० मे तथा द्वितीय बार ९५९ ई० मे। इनमे प्रथम तिथि तो इस कारण मान्य नही है कि इस समय कृष्णराज वर्तमान नही थे तथा उन्होंने चोल-विजय ९४९ ई० मे की थी। दूसरी तिथि अर्थात् ९५९ ई० का सिद्धार्थ वर्ष ही इस प्रकार मपु० की रचना के प्रारम्भ होने का वर्ष ठहरता है। क्रोधन संवत्सर सिद्धार्थ संवत्सर के छः वर्ष बाद आता है, अतः उक्त तिथि के ६ वर्ष बाद क्रोधन सवत् की आषाढ सुदी दशमी तद्नुसार ११ जून ९६५ ई० को ग्रन्थ की समाप्ति हुई थी।[१]

---

(१) देखिए मपु० खड ३, भूमिका पृ० १८-१९

अध्याय
४

कवि की रचनाएँ-उनका परिचय तथा वर्ण्य विषय

कवि की प्रामाणिक रचनाएं—

पुष्पदन्त रचित तीन काव्य-ग्रथ प्राप्त हुए है—तिसट्ठि महापुरिस गुणालकार (महापुराण), णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ। डॉ० रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास मे कवि के एक अन्य ग्रथ कोश-ग्रथ का भी उल्लेख किया है[1], परन्तु यह रचना उपलब्ध नही है।

उक्त रचनाओ मे सबसे विशाल एव महत्वपूर्ण महापुराण है। अन्य दो अपेक्षाकृत लघु रचनाएं हैं।

रचना शैली—

कवि ने समस्त काव्य-रचना प्रवध शैली मे की है। प्रभाव की दृष्टि से प्रबध काव्य मुक्तक की अपेक्षा अधिक महत्व रखते हैं। परन्तु कवि का अपने धर्म के प्रति विशेष आग्रह होने के कारण, उसकी रचनाएं धार्मिक सिद्धान्तो के भार से बोझिल प्रतीत होती हैं।

अपभ्रश कवियो ने अपनी रचनाओ का सस्कृत-प्राकृत की भाँति सर्गों-आश्वासो के स्थान पर संधियो मे विभाजित किया है। प्रत्येक सधि मे अनेक कडवक होते हैं। सधि का शीर्षक उसमे वर्णित मुख्य घटना के आधार पर रखा जाता है।

कडवक की रचना पद्धडिया आदि किसी छद के १६ पदो (अर्धालियो) अथवा ८ यमको द्वारा की जाती है[2]। इसके आदि मे दुवदी, हेला आदि कोई छद कभी-कभी रख दिया जाता है। परन्तु अन्त में घत्ता का होना अनिवार्य है। स्वयभू के पउम चरिउ मे कडवक के पदो की सख्या क नियम का पालन कही-कही है, सर्वत्र नहीं।

---

(१) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा, १९४८, पृ० ११३

(२) पद्धडिया पुणु जेई करेंति, तें सोड (ल) ह मत्तउप धरेंति।
विहि पअहि जमउ ते णिम्मअति, कडवप (उ) अट्ठहि जमअहि रअति।
स्वयभू छदस्, ८।३० (पउम चरिउ, खड १, भूमिका पृ० ९३ से उद्धृत)

परन्तु उनके पश्चात् के कवियो में इस नियम की शिथिलता सी हो गयी। पुष्पदंत के काव्य मे हम यही देखते हैं। उनके महापुराण की संधि ४० के १२ वें कडवक मे जहाँ ४६ पद हैं, वहाँ संधि ४७ के ७ वें कडवक मे केवल ८ ही पद हैं।

इस प्रकार प्रबंध काव्य-रचना मे संधि-कडवक शैली का विधान अपभ्रंश की अपनी विशेषता है। यह परंपरा हिन्दी के भक्तिकालीन कवियो मे भी प्राप्त होती है। जायसी तथा तुलसी के प्रबंध काव्य इसी शैली मे रचे गये हैं, उनके काव्यो मे कडवक के पदो की संख्या वाले नियम का पालन किया गया है तथा अंत मे घत्ता के स्थान पर दोहा अथवा सोरठा आदि कोई छन्द रखा गया है।

पुराणो की भाँति जैन प्रबंध काव्य भी श्रोता-वक्ता के प्रश्नोत्तरो से गतिमान होते हैं। कवि के महापुराण की कथा महाराज श्रेणिक के अनुरोध पर वर्धमान महावीर के गणधर गौतम सुनाते हैं।

ग्रंथ परिचय तथा वर्ण्य विषय—

महापुराण

सामान्य परिचय—कवि ने इस ग्रंथ की रचना राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय (उपनाम तुडिग, ९३९-९६८ ई०) के राज्यकाल मे[1], उनके मन्त्री भरत की प्रेरणा से[2] तथा उन्ही के आश्रय में रहते हुए, मान्यखेट नगर में की थी।

कवि ने ग्रंथ-रचना के प्रारम्भ तथा समाप्ति की तिथियो का इस प्रकार उल्लेख किया है :—

त कहमि पुराणु पसिद्ध णामु, सिद्धत्थ वरिसि भुवणाहिरामु।

(मपु० १।३।१)

तथा—कोहण संवच्छरि आसाढइ, दहमइ दियहि चंदरुहरूढइ।

(मपु० १०२।१४।१३)

इसके अनुसार कवि ने इस ग्रंथ की रचना सिद्धार्थ शक सं० ८८१ (९५९ ई०) मे आरंभ करके क्रोधन शक सं० ८८७ की आषाढ शुक्ल दशमी (रविवार ११ जून, ९६५ ई०) को समाप्त की थी।[3]

कवि ने ग्रंथ को दो भागों-आदि पुराण तथा उत्तर पुराण—में विभाजित किया है। आदि पुराण मे ३७ तथा उत्तर पुराण में ६५ संधियाँ हैं। इस प्रकार

---

(१) भुवणेक्करामु रायाहिराउ, जहिं अच्छइ तुडिगु महाणुभाउ।

म०पु

(२) मपु० १।६।९-१६

(३) जस० भूमिका, पृ० २०-२४

संपूर्ण ग्र थ १०२ सधियो मे समाप्त हुआ है। ग्रथ मे सब मिलाकर १९०७ कडवक तथा २७९०७ पद हैं।

ग्र थ की प्रत्येक सधि के अन्तिम घत्ता मे कवि ने अपना तथा आश्रयदाता भरत का उल्लेख किया है—

जय णिहयणियामय भरहणियामय पुप्फयततेयाहिय।

(मपु० ११९८।१५)

प्रत्येक सधि की पुष्पिका मे भी भरत का नाम अकित करने के साथ ही सधि का शीर्षक तथा उसकी सख्या का निर्देश किया गया है। यथा—

'इय महापुराण तिसट्ठिमहापुरिसगुणालकारे महाकइ पुप्फयत विरइए महाभव्वभरहाणुमण्णिए महाकव्वे सम्मइ समागमो णाम पढमो परिच्छेओ समत्तो।'

इसमे 'महाभव्व भरहाणुमण्णिए' विशेषण भरत द्वारा कवि को ग्र थ-रचना की प्रेरणा दिये जाने की ओर सकेत करता है। सधियो के अन्त मे अपनी नाम मुद्रा का अकन अपभ्र श कवियो का सामान्य नियम रहा है। स्वयभू के पउम चरिउ मे भी ऐसा ही है।

महापुराण की अनेक सधियो के आरभ मे संस्कृत-प्राकृत की प्रशस्तिया प्राप्त होती हैं। इनकी सख्या ४८ है।[1] इनमे सरस्वती-वदना, कवि का आत्मकथन, ग्रथ का विस्तार, कवि तथा भरत का मैत्री-भाव, भरत की प्रशसा आदि अनेक बातो का उल्लेख किया गया है। इनसे कवि के जीवन, उसके आश्रयदाता आदि से सबधित तथ्य ज्ञात होते हैं। प्रतीत होता है कि कवि ने ग्र थ रचना के पश्चात् समय-समय पर इन्हे लिखकर उसमे जोड दिया है। प्रमाणस्वरूप सधि ५० की प्रशस्ति मे धारा नरेश सीयक द्वारा मान्यखेट की लूट का वर्णन है।[2] यह घटना महापुराण की समाप्ति के लगभग ७ वर्ष पश्चात् सन् ९७२ ई० में हुई थी।[3]

प्रशस्ति लेखन की पद्धति अति प्राचीन है। इसका आदि रूप वेदों, ब्राह्मणो तथा उपनिषदो मे सुरक्षित है। पश्चात् शिलालेखो मे यह पद्धति चली। प्रयाग स्तभ (३७९-३९० ई०), स्कन्द गुप्त का गिरिनार का शिला लेख (४५० ई०) तथा मालवा के सूर्य मदिर मे वत्स भट्टि की प्रशस्तियाँ इसी परपरा में हैं।

कथा-स्रोत

जैनो के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सप्रदायो मे तीर्थङ्कर आदि महापुरुषो के चरित्र-वर्णन की दो भिन्न परपराएँ प्रचलित हैं। दिगबरों का समस्त धार्मिक साहित्य प्रथ-

(१) देखिए-मपु० खड १, भूमिका पृ० २०- २८

(२) देखिए-अध्याय २, पृ० ३४

(३) राष्ट्रकूट एण्ड देअर टाइम्स, पृ० १२४

मानुयोग (महापुरुषो की कथाएँ). करणानुयोग (सृष्टि का भौगोलिक वर्णन), चरणानुयोग (मुनियो-श्रावको के आचार वर्णन)—इन चार अनुयोगो मे विभाजित है। इस प्रकार जैन महापुरुषो का चरित्र वर्णन करने वाला ग्रंथ महापुराण, प्रथमानुयोग की एक शाखा है। जिनसेन-गुणभद्र तथा पुष्पदत के महापुराण इसी परपरा में हैं।

श्वेताम्बर परपरा के महापुराण स्थानाग सूत्र के आधार पर हैं। हेमचन्द्र का महापुराण (त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र) इसी के अन्तर्गत आता है।

हमारे कवि के महापुराण का कथानक जिनसेन-गुणभद्र के महापुराण का प्राय. पूर्णरूपेण अनुगमन करता है। इसी प्रकार कवि, स्वयभू से भी प्रभावित हुआ प्रतीत होता है। डॉ० भायाणी ने स्वयभू के 'पउम चरिउ' तथा 'स्वयभू छदस्' एवं पुष्पदत के 'महापुराण' के अनेक स्थलो का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करते हुए यह सिद्ध किया है कि उनके शब्द-विन्यास, तुकान्त तथा विषय-वर्णन मे कितनी अधिक एकरूपता है।[1] इस प्रकार स्वयंभू तथा जिनसेन-गुणभद्र हमारे कवि के काव्य के प्रेरणा-स्रोत माने जा सकते हैं।

महापुराण-लक्षण

भारतीय जन जीवन के उत्थान मे पुराणो का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ब्राह्मणो के १८ पुराण प्रसिद्ध हैं। जैनो ने भी उन्ही के अनुरूप अपने पुराण रचे। यद्यपि धार्मिक मतभेद के कारण ब्राह्मणो तथा जैनो के पुराणो मे बहुत कुछ अन्तर है, परन्तु आधार भूत सामग्री दोनो मे प्राय. एक सी है। पुराणो के पंच लक्षण बतलाये गये हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च
वशानुचरितं चैव पुराण पञ्चलक्षणम्।

(वायु पुराण, १।२०१)

जैनाचार्य जिनसेन २४ तीर्थङ्करो के चरित वर्णन करने वाले ग्रथो को पुराण कहते है तथा उन सबका सकलन महापुराण है—

पुराणान्येवमेतानि चतुर्विंशतिरर्हताम्।
महापुराणमेतेषा समूहः परिभाष्यते।

(जिनसेन, आदिपुराण, २।१३४)

महापुराण मे लोक (लोक व्युत्पत्ति, दिशाओ तथा अंतरालो के वर्णन), नगर (राजधानियो के वर्णन), राज्य (विभिन्न राज्यो के वर्णन), तीर्थ, दान-तप, गति तथा

---

(१) पउमचरिउ, भाग १, भूमिका, पृ० ३१-३६

फल-इन आठ विषयो का होना आवश्यक माना गया है।[1] अन्यत्र, महापुराण के विषय की सविस्तार चर्चा करते हुए जिनसेन कहते हैं कि समस्त द्वादशाग ही पुराण के अभिधेय विषय हैं, क्योकि इसके बाहर न तो कोई विषय है और न शब्द ही हैं। तीर्थङ्कर आदि की सपदाओ तथा मुनियो की ऋद्धियो का इसमे वर्णन होता है। इसके अतिरिक्त ससारी मुक्त जीव, बध मोक्ष के कारण, ससार की उत्पत्ति तथा विनाश, रत्नत्रयी धर्म, अर्थ, कर्म, पुरुषार्थ आदि अनेक विषय इसमे होते हैं।[2]

जिनसेन की उपर्युक्त परिभाषा हमारे कवि के महापुराण पर अक्षरश घटित होती है। बूलर ने जैन-प्रबन्धो को ऐतिहासिक रूढियो मे सुरक्षित रहते हुए वृद्ध परम्परा से लिखे जाने का जो सकेत किया है[3], कवि के ग्रथ से उसकी पुष्टि होती है।

निष्कर्ष यह है कि कवि का महापुराण अपभ्रश काव्य क्षेत्र मे एक अभिनव प्रयास होते हुए भी जैन परम्परागत महापुराण के लक्षणो के आधार पर ही रचा गया है।

महाकाव्यत्व

सस्कृत महाकाव्य के लक्षणो के सम्बन्ध मे कहा गया है कि किसी देवता, सद्वशोद्भव नृपति अथवा किसी प्रसिद्ध व्यक्ति का वृत्तान्त लेकर अनेक सर्गो मे जो काव्य लिखा जाता है, वह महाकाव्य है। पुराण-इतिहास उसके आधार होते है। उसमे कोई एक रस प्रधान तथा अन्य रस गौण होते हैं। उसमें विविध प्रकार का प्रकृति चित्रण तथा अनेक छदो का उपयोग किया जाता है।[4]

आचार्य जिनसेन ने भी कवि तथा काव्य की सुन्दर व्याख्या करते हुए कहा है कि शृ गारादि रसो से युक्त, अलकारपूर्ण, सौदर्य से ओत-प्रोत तथा मौलिक काव्य, सरस्वती के मुख के समान होता है। जो अनेक अर्थो को सूचित करने वाले पद-विन्यास सहित, मनोहर रीतियो से युक्त, प्रबन्ध काव्य की रचना करते हैं, वे महा-

---

(१ लोको देश पुर राज्य तीर्थं दान तपोन्वयम्
पुराणेष्वष्टधाख्येय गतय फलमित्यपि। (आदिपुराण, जिनसेन, ४।३)
पुष्पदत ने भी इन्ही आठ विषयो को पुराण के लिये आवश्यक बतलाया है—
तेल्लोक्कु देसु पुरु रज्जु तित्थु, तवु दाणु गईहलु सुहपमत्थु।
अट्ठवि पारभिय पुराणठाणि, साहेवा होंति महापुराणु।
(मपु० २०।१।४५)

(२) आदिपुराण जिनसेन, २।११५-१२०

(३) लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल, पृ० ५४

(४) काव्य दर्पण, पृ० ३२७

कवि कहलाते है, एव किसी प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित, तीर्थङ्कर आदि के चरित्र वर्णन करने वाला तथा धर्म, अर्थ, कामादि के फल का दर्शन कराने वाला काव्य महाकाव्य कहलाता है।[1]

इन परिभाषाओ के सदर्भ मे जब हम पुष्पदत के महापुराण का परीक्षण करते है, तो हमे ज्ञात होता है कि उसमे न्यूनाधिक महाकाव्य के प्राय सभी लक्षण उपस्थित हैं। उसमे वर्णित सभी महापुरुष राजवशोत्पन्न प्रसिद्ध व्यक्ति हैं। वह सधियो मे विभाजित किया गया है। उसकी आधारभूत सामग्री परम्परागत है। उसका पर्यवसान शान्त रस मे होता है। कथा के बीच-बीच अन्य रस उसका उत्कर्ष बढाते रहते हैं। अनेक प्रकार के प्राकृतिक वर्णन तथा विविध छन्दो का उसमे नियोजन किया गया है।

परन्तु निर्धारित लक्षणो को सीमाओ मे पूर्णतः रहना प्रतिभावान कवियो के लिए कठिन होता है। वे परिभाषाओ मे बधकर नही चल सकते। यही कारण है कि महाकवियो के काव्य उनके आदर्शों तथा अनुभूतियो का आधार लेकर चलते है। हमारे कवि के ग्रथ मे अनियमित कथा-प्रवाह का यही कारण है। २४ तीर्थङ्करो के जीवन चरित एक दूसरे से असबद्ध है। अत काव्य मे कथा-प्रवाह की योजना संभव नही हो सकती। फिर भी आदि पुराण मे ऋषभ के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त को, अनेक स्तुतियो तथा सैद्धान्तिक विवेचनो के होते हुए भी, महाकाव्य कहा जा सकता है।

तुलनात्मक दृष्टि से महापुराण तथा महाभारत मे बहुत कुछ समानता है। जिस प्रकार महाभारत में अनेक कथाएँ तथा अन्तर्कथाएँ है एव सृष्टि की अनेकानेक बातो का समावेश करके उसे विश्वकोश सा बनाने का यत्न किया गया है, उसी प्रकार हमारे कवि ने भी अपने ग्रथ की रचना की है। महाभारत की विशालता की ओर सकेत करते हुए महर्षि व्यास ने लिखा है कि जो यहाँ है, वही अन्यत्र मिलेगा तथा जो यहाँ नही, वह कही नही है—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्

इसी स्वर मे पुष्पदत भी अपने ग्रथ के विषय मे कहते हैं कि इस रचना मे प्राकृत के लक्षण, समस्त नीति, छंद, अलङ्कार, रस, तत्वार्थ-निर्णय आदि सब कुछ हैं। यहाँ तक कि जो यहाँ है वह अन्यत्र कही नही है। धन्य हैं वे पुष्पदन्त तथा भरत जिन्हे ऐसी सिद्धि प्राप्त हुई—

अत्र प्राकृतलक्षणानि सकला नीति स्थितिश्छदसामर्थालङ्कृतयो रसाश्च विविधास्तत्वार्थनिर्णीतय।

---

(१) आदि पुराण, जिनसेन, ४। ६३-६६

किं चान्यद्यदिहास्ति जैनचरिते नान्यत्र तद्विद्यते द्वावेतौ भरतेशपुष्पदशनो सिद्धं ययोरीदृशम् । (मपु० संधि ५९ की प्रशस्ति)

इसी प्रकार जिनसेन भी अपने महापुराण के सम्बन्ध मे कहते हैं—

यतो नास्माद्बहिर्भूतमस्ति वस्तु वचो अपि वा । (आदि पुराण, २ । ११५)

अर्थात् इसके बाहर न तो कोई विषय ही है और न शब्द ही हैं।

वर्ण्य विषय

महापुराण मे जैन धर्म के तीर्थंकर आदि महापुरुषो के जीवन चरित हैं। इसके दो भागो (आदि पुराण तथा उत्तर पुराण) मे क्रमश ऋषभ तथा अन्य महापुरुषो की गाथाएँ हैं। रामायण तथा कृष्ण-चरित उत्तर पुराण मे हैं।

आदि पुराण की ३७ संधियो का संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है—

प्रथम संधि मे ऋषभ तथा सरस्वती की वन्दना करने के पश्चात् कवि अपने मान्यखेट नगर आने का वर्णन करता है। वहाँ दो नागरिक कवि से भरत मन्त्री के निवास पर चलने का अनुरोध करते हैं। इस पर कवि राजाओ की तीव्र भर्त्सना करता है तथा उनकी शरण मे जाने की अपेक्षा अभिमान सहित मृत्यु का आलिंगन करना श्रेष्ठ समझता है। अन्तत उचित सत्कार का आश्वासन प्राप्त कर वह भरत मन्त्री के निवास स्थान पर जाता है। वहाँ भरत पुष्पदन्त का हार्दिक स्वागत करते हैं।

कुछ दिन पश्चात् भरत, कवि से भैरव नरेन्द्र नामक किसी दुष्ट स्वभाव वाले राजा की कीर्ति-वर्णन करने के कारण उत्पन्न मिथ्यात्व के प्रायश्चित-स्वरूप महापुराण रचने का परामर्श देते है। कवि पुन भरत से दुर्जनो की निंदा करता है, परन्तु समझाने-बुझाने पर ग्रंथ रचना मे प्रवृत्त होता है।

कवि अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए कालिदास, भारवि आदि कवियो के ग्रंथो तथा व्याकरण, छंद आदि काव्यांगो के न जानने का वर्णन करता है तथा जिन-भक्ति के कारण ग्रंथ-रचना करने का उल्लेख करता है।

मगध तथा उसकी राजधानी राजगृह के विस्तृत वर्णन के साथ कथा आरम्भ होती है। एक समय वर्धमान महावीर अपने गणधरो के साथ राजगृह आते हैं। मगधराज श्रेणिक उनकी अभ्यर्थना तथा स्तुति करने के पश्चात् महापुराण की कथा सुनने की जिज्ञासा प्रकट करते हैं। गौतम गणधर वर्धमान की आज्ञा से कथा सुनाते हैं।

द्वितीय संधि मे १४ कुलकरो (मनुओं) के वर्णन के पश्चात् अन्तिम कुलकर नाभि तथा उनकी पत्नी मरुदेवी का वृत्तान्त है। मरुदेवी के गर्भ मे ऋषभ का जन्म होना ज्ञात कर इन्द्र कुबेर को जिन-जन्म के अनुकूल नगर को भव्य बनाने की आज्ञा देते हैं। तृतीय संधि मे मरुदेवी के १६ स्वप्न, ऋषभ-जन्म, मेरु पर जिन-अभिषेक आदि के वर्णन हैं।

चतुर्थ संधि मे जसवई तथा सुनन्दा के साथ ऋषभ का विवाह तथा उसके उत्सवों के वर्णन हैं। पाँचवी सन्धि मे जसवई के भरत आदि सौ पुत्र तथा सुनन्दा के बाहुबलि उत्पन्न होते हैं। ऋषभ राजा होते है। छठवी सन्धि मे इन्द्र द्वारा प्रेरित नीलजसा अप्सरा राज-सभा मे नृत्य करते हुए मृत हो जाती है। यह देखकर ऋषभ के हृदय मे वैराग्य उत्पन्न होता है। सातवी सन्धि मे ऋषभ राज्य त्यागकर वैराग्य ले लेते हैं। भरत को अयोध्या का तथा बाहुबलि को पोदनपुर का राज्य प्राप्त होता है।

आठवी सन्धि मे नमि विनमि को नागराज द्वारा वैतढ्य पर्वत के क्षेत्र दिये जाने के वर्णन हैं। नवी सधि में ऋषभ द्वारा इक्षु—रस पान, कठोर तप द्वारा केवल ज्ञान-प्राप्ति, देवताओं द्वारा समवसरण रचना एव जिन-स्तुति के वर्णन है। दसवी तथा ग्यारहवी सधियो मे भरत की आयुधशाला मे चक्ररत्न का प्रकट होना तथा ऋषभ द्वारा भरत को अनेक जैन सिद्धान्तो के उपदेश एव पृथ्वी के द्वीप-समुद्रो का सविस्तार वर्णन किया गया है। जिन-उपदेश से विशाल जन-समुदाय दीक्षा ग्रहण करता है।

बारहवी से पन्द्रहवी सन्धियो में भरत की दिग्विजय का वर्णन है। वे एक विशाल सेना के साथ भूमडल के छ खडो के राजाओ को अधीन करके, ऋषभ के दर्शनार्थ कैलाश जाते हैं। सोलहवी सन्धि मे भरत का चक्र रत्न अयोध्या मे प्रवेश नही करता। पुरोहितो ने बतलाया कि भाइयो द्वारा अधीनता न स्वीकार किये जाने के कारण दिग्विजय अभी अपूर्ण है। भाइयो के पास भरत का दूत जाता है। अन्य भाई वैराग्य ले लेते हैं। बाहुबलि युद्ध के लिए तत्पर होते हैं।

सत्रहवी तथा अठारहवी सधियो मे भरत-बाहुबलि के द्वद्व युद्ध का वर्णन है। भरत नेत्र, जल तथा मल्ल युद्धो मे पराजित होते है। ज्येष्ठ भ्राता को पराजित करने के कारण बाहुबलि आत्मग्लानि से भर जाते हैं और वैराग्य धारण कर लेते है। घोर तप के उपरान्त उन्हे केवल ज्ञान होता है। भरत उनकी स्तुति करते हैं।

उन्नीसवी सधि मे भरत ब्राह्मणो को दान देते हैं। उनके प्रश्न करने पर ऋषभ भावी जन-समुदाय के नैतिक पतन का वर्णन करते हैं। बीसवी से सत्ताइसवी सधियो मे ऋषभ अपने पूर्व जन्मो का वर्णन करते हैं। इनमे राजा महाबल— मत्री स्वय बुद्ध, वज्रजघ-श्रीमती आदि की कथाये हैं।

अट्ठाइसवी से छत्तीसवी सधियो मे बाहुबलि के पुत्र जय तथा उसकी पत्नी सुलोचना की कथायें हैं। सैंतीसवी संधि मे भरत एक स्वप्न देखते हैं। ज्योतिषी उसका फल ऋषभ-निर्वाण बतलाते हैं। भरत शीघ्र ही कैलाश जाते हैं। वहाँ स्वप्न सिद्ध ठहरता है। अनेक देवी-देवता ऋषभ का निर्वाण-कल्याणक मनाते हैं। अयोध्या

लौटकर भरत भी पुत्र को राज्य देकर जिन-दीक्षा ग्रहण करते हैं। अन्त में केवल ज्ञान प्राप्त करके निर्वाण लाभ करते हैं।

उत्तर पुराण—

उत्तर पुराण की ६५ सन्धियो मे शेष २३ तीर्थङ्करो तथा अन्य महापुरुषो की जीवन-गाथायें हैं।

आदिपुराण समाप्त करने के पश्चात् कवि कुछ समय के लिए ग्रथ रचना का कार्य स्थगित कर देता है। परन्तु एक दिन स्वप्न मे सरस्वती देवी उसे अर्हंत की स्तुति करने की आज्ञा देती हैं। भरत मत्री भी कवि को पुन रचना कार्य में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देते हैं।

सधि ३८ मे दूसरे तीर्थ कर अजित तथा सधि मे ३९ मे सगर (द्वितीय चक्रवर्ती) एव उनके साठ हजार पुत्रो के चरित वर्णित किये गये हैं।

सधि ४० से ४७ तक सभव, अभिनदन, सुमति, पद्मप्रभ, सुपार्श्व, चद्रप्रभ एव नवम् तीर्थ कर सुविधि (पुष्पदत) के जीवन चरित हैं।

सधि ४८ में सीतलनाथ (दसवें तीर्थं) के वर्णन के पश्चात् कुछ समय तक जैन धर्म की अधोगति होने का उल्लेख किया गया है। ४९ से ५२ सधि तक श्रयास (११ वें तीर्थं) एवं विजय (प्रथम वलदेव), त्रिपृष्ठ (प्रथम वासुदेव) तथा अश्वग्रीव (प्रथम प्रतिवासुदेव) के चरित्र हैं।[1] १२ वें तीर्थङ्कर वासुपूज्य का चरित्राकन सधि ५३ में हैं।

५४ से ६५ तक की सधियो में निम्नलिखित महापुरुषो के वर्णन हैं—

तीर्थंकर—

विमल, अनत, धम, शान्ति नाथ, कुन्थु, अर, मल्लि तथा सुव्रत।

वलदेव—

अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नदिषेण तथा नदिमित्र।

वासुदेव—

द्विपृष्ठ, स्वयभू पुरुषोत्तम, पुरुष सिंह, पुण्डरीक तथा दत्त।

प्रतिवासुदेव—

तारक, मधु, मधुसूदन, मधुक्रीड, निशुम्भ तथा वलि।

---

(१) वलदेव तथा वासुदेव भ्राता होते हैं। प्रतिवासुदेव से किसी न किसी कारण से उनका विरोध होता है। अन्त में युद्ध मे वासुदेव द्वारा प्रतिवासुदेव मारा जाता है। वासुदेव अर्धचक्रवर्ती पद प्राप्त करते हैं तथा मरणोपरान्त नरक जाते हैं। उनके शोक मे वलदेव का भी निधन हो जाता है।
प्रत्येक वलदेव आदि के जीवन चरित इसी प्रकार के हैं।

सधि ६९ से ७९ तक रामायण की कथा है, जो इस प्रकार है—

राम तथा लक्ष्मण अपने तृतीय पूर्व जन्म में क्रमशः राजा प्रजापति तथा उसके मन्त्री के पुत्र चद्रचूल तथा विजय थे। अपनी युवावस्था मे उन्होंने वणिक् पुत्री कुबेरदत्ता का अपहरण किया था। राजा के दण्ड से बचकर वे जैन मुनि हो जाते हैं और भावी जन्म मे देवता होते है। वहाँ से आगामी जन्म मे वे राजा दशरथ की सुबला रानी के गर्भ से राम तथा कैकेयी के गर्भ से लक्ष्मण होते हैं।

रावण नामक विद्याधर राजा की मन्दोदरी रानी से सीता का जन्म होता है, परन्तु अनिष्ट ग्रहो के कारण उसे एक मजूषा मे रखकर मिथिला मे छोड दिया जाता है। वहाँ से वह राजा जनक के यहाँ पहुँचा दी जाती है। जनक यज्ञ-रक्षा के पुरस्कार स्वरूप सीता का विवाह राम से कर देते हैं।

नारद द्वारा राम-सीता का विवाह समाचार ज्ञात कर रावण सीता को प्राप्त करने के लिए लालायित होता है। वह अपनी बहन चद्रनखी को सीता के पास भेजता है, परन्तु उसकी दृढ पति-निष्ठा ज्ञात कर स्वय उसका अपहरण करने की योजना बनाता है।

रावण अपने मन्त्री मारीच के साथ पुष्पक विमान पर चढकर काशी के उस उद्यान मे जाता है, जहाँ राम तथा सीता विहार कर रहे थे। मारीच कपट मृग का रूप धारण कर राम को अन्यत्र ले जाता है। इसी बीच रावण अवसर पाकर राम के रूप मे सीता के पास जाता है और उसे पुष्पक विमान मे बैठाकर लका ले जाता है। राम, सीता के विरह मे व्याकुल होकर वन-वन भटकते हैं।

दशरथ एक स्वप्न देखकर अयोध्या मे राम के पास एक सन्देश भेजते हैं कि सीता का हरण लकेश रावण ने किया है। इसी समय सुग्रीव तथा हनुमान नामक विद्याधर अपने भाई बालि के विरुद्ध राम से सहायता प्राप्त करने आते है। पारस्परिक मैत्री होने के पश्चात् हनुमान राम का पत्र तथा मुद्रिका लेकर लका जाते हैं। वहाँ अवसर देखकर सीता को ये वस्तुएँ देकर अपना परिचय देते हैं। पुनः काशी लौटकर वे राम से सीता की दशा का वर्णन करते हैं।

राम और लक्ष्मण विद्याधरो की विशाल सेना के साथ लका पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान करते है। मार्ग मे लक्ष्मण, वालि का वध करके, सुग्रीव को उसका राज्य दिला देते हैं।

लङ्का पर आक्रमण करने के पूर्व, राम हनुमान को रावण के पास उसे समझाने के लिए भेजते हैं, परन्तु हनुमान रावण द्वारा अपमानित होकर लौट आते हैं। विभीषण भी भाई से असन्तुष्ट होकर राम से जा मिलता है।

अन्त मे राम-लक्ष्मण से रावण का तुमुल-युद्ध होता है, जिसमें लक्ष्मण, रावण का वध करते है। इस प्रकार उन्हे अर्ध चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है।

दीर्घकाल तक राज्य-सुख भोगने के उपरान्त लक्ष्मण किसी दुःसाध्य रोग के कारण मर कर (रावण वध के कारण) नरक जाते है। तत्पश्चात् राम भ्रातृ शोक मे व्याकुल होकर वैराग्य ले लेते है। अन्त मे वे भी निर्वाण लाभ करते हैं।

जैन महापुरुषो की शृ खला मे राम, लक्ष्मण तथा रावण क्रमशः अष्टम् बलदेव, वासुदेव तथा प्रति वासुदेव हैं।

सधि ८० मे नमि (२१ वे तीर्थ०) की कथा है।

इसके पश्चात् सधि ८१ से ९२ तक हरिवश पुराण की कथा है, जिसमे २२वें तीर्थंकर नेमि के साथ ही कृष्ण जरासध आदि के वृत्तान्त हैं।

सक्षेप मे यह कथा इस प्रकार है —

शौरिपुर के राजा शूरसेन के दो पुत्र अधक वृष्णि तथा नरपति वृष्णि थे। अधक वृष्णि के समुद्र विजय, वसुदेव आदि पुत्र एव कुन्ती, माद्री पुत्रियाँ थी। नरपति वृष्णि के उग्रसेन पुत्र तथा गाधारी पुत्री हुई।

हस्तिनाग पुर के राजा हस्ति के पराशर नामक पुत्र था। उसकी पत्नी सत्यवती से व्यास का जन्म होता है। व्यास का विवाह सुभद्रा से हुआ, जिससे तीन पुत्र-धृतराष्ट्र, पाण्डु तथा विदुर हुए।

एक समय शौरि पुर मे पाण्डु कु ती के रूप पर मुग्ध हो किसी प्रकार उसके आवास मे प्रवेश कर उससे भोग करते हैं। पुत्र होने पर कु ती उसे मजूषा मे रखकर यमुना मे प्रवाहित कर देती है। वह शिशु चपा के राजा आदित्य को प्राप्त होता है। उसका नाम कर्ण रखा जाता है, क्योंकि प्राप्त होने के समय वह कान पर हाथ रखे था।

आगे चलकर पाण्डु के साथ कु ती तथा माद्री का विवाह हो जाता है। कु ती के युधिष्ठिर आदि पाँच पुत्र होते हैं। गाधारी का विवाह धृतराष्ट्र से होता है। जिसस दुर्योधन आदि सौ पुत्र उत्पन्न होते हैं।

वसुदेव अत्यत सुन्दर था। उसे स्त्रियो की दृष्टि से पृथक् रखने के लिये, नगर प्रवेश के लिये मना कर दिया गया। इस पर व्यथित होकर वह चुपचाप गृह त्याग कर चल देता है। लगभग सौ वर्षा तक घूमते हुए वह अपनी वीरता तथा कला का प्रदर्शन करके अनेक राजकुमारियो से विवाह करता है। अन्त मे रिष्ट नगर के राजा की पुत्री रोहिणी अपने स्वयवर मे उसे चुनती है, तो मगधराज जरासध के साथ समुद्रविजय आदि राजा रोहिणी के पिता पर आक्रमण करते है। वसुदेव उनका सामना करता है। युद्ध-क्षेत्र मे वसुदेव अपने ज्येष्ठ भ्राता समुद्र विजय को पहचान लेता हैं। युद्ध बद हो जाता है।

वसुदेव- रोहिणी से बलराम (नवम् बलदेव) का जन्म होता है।

वशिष्ठ नामक एक तपस्वी मथुरा के राजा उग्रसेन से पीडित होकर, भावी

जन्म मे पुत्र बनकर उसे बदीग्रह मे डालने का निदान करता है। गर्भवती होने पर उग्रसेन की रानी को अपने पति का मास खाने की इच्छा होती है। ऐसे अशुभ-कारी पुत्र के जन्म लेने पर, उसे यमुना मे प्रवाहित कर दिया जाता है। म जोदरी नामक स्त्री को वह शिशु प्राप्त होता है। उसका नाम कस रखा जाता है। वसुदेव से वह धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त करता है।

एक बार पोदन पुर के राजा को पराजित करने के कारण जरासंघ अपनी पुत्री जीवंजसा का विवाह कस से कर देता है। वह कस को मथुरा का राज्य भी दे देता है। कंस अपने पिता उग्रसेन को बदीगृह मे डालकर मथुरा पर राज्य करने लगता है। गुरु दक्षिणा के रूप में वह अपनी बहन देवकी का विवाह वसुदेव से कर देता है। कंस का भाई अतिमुक्तक साधु हो जाता है।

एक बार जीवजसा से अपमानित होकर अतिमुक्तक उसे श्राप देता है कि देवकी का पुत्र तुम्हारे पति का संहार करेगा। इस पर कंस, वसुदेव से देवकी के सभी पुत्रो को प्राप्त करने का वचन ले लेता है।

देवकी की तीन युग्म सतानो को नैगम देव ले जाते हैं। कस उनके स्थान पर अन्य बालकों का वध करता है। अंत मे देवकी के गर्भ से कृष्ण (नवम् वासुदेव) जन्म लेते हैं।

वसुदेव अपने ज्येष्ठ पुत्र बलराम की सहायता से चुपचाप नद की पुत्री लेकर कृष्ण को उसे दे देते हैं। कस उस पुत्री का मुख विकृत कर देता है। अत मे वह साध्वी हो जाती है।

नद के गृह मे कृष्ण बडे होते हैं। इसकी सूचना एक ज्योतिषी द्वारा कस को प्राप्त होती है। कस उन्हे मारने के लिए अनेक व्यक्तियो को भेजता है, परन्तु सभी असफल रहते हैं। कृष्ण बडे पराक्रमी थे। वे गोवर्धन पर्वत उठाकर सबको चकित कर देते हैं। वे मथुरा जा कर कंस के सम्मुख भी अपने पराक्रम का प्रदर्शन करते हैं।

एक बार कंस के निमन्त्रण पर कृष्ण मल्ल युद्ध देखने मथुरा जाते हैं। कस उन पर मत्त हाथी छोड़ देता है, परन्तु कृष्ण उसे मार डालते हैं। अन्त में वसुदेव के सकेत पर कृष्ण कंस का भी वध कर देते है। जरासघ कस की मृत्यु का समाचार प्राप्त कर कृष्ण को मारने के अनेक प्रयत्न करता है। कृष्ण आदि यादव पश्चिमी समुद्र तट पर बस जाते हैं। अन्त में स्वयं जरासघ कुरुक्षेत्र के रणक्षेत्र में कृष्ण से युद्ध करता है, जिसमे कृष्ण उसका वध करके अर्ध-चक्रवती पद प्राप्त करते हैं।

समुद्र विजय की रानी शिवदेवी के गर्भ से नेमि (२२ वें तीर्थंकर) का जन्म होता है।

कृष्ण के प्रयत्न से वे वैराग्य धारण करते हैं।

सधि ९३ ९४ म पार्श्व (२३ वें तीर्थंकर) तथा सधि ९५-९७ तक अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर के वर्णन हैं।

सधि ९८-१०२ तक राजा श्रेणिक आदि की कथाएँ हैं।

चरित-काव्य

परपरा – भारतीय साहित्य मे कथाओ का महत्वपूर्ण स्थान है। ये कथाएँ अति प्राचीन काल मे लिखी जाती रही हैं। सस्कृत से प्राकृत तथा अपभ्रश मे होती हुई आधुनिक भारतीय भाषाओ तक कथा-साहित्य की यह धारा अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित है। कथा का व्यापक अर्थो मे प्रयोग हुआ है। प्राय सभी चरित ग्रथ अपने को कथा ही कहते है।

पुराणो के आख्यान भी कथाएँ है, रासोकार चद ने भी अपने ग्रथ को कीर्ति कथा कहा है। विद्यापति अपनी कीर्तिलता को काहाणी कहते हैं। तुलसी की रामायण भी कथा ही है।

विद्वानो का मत है कि ईसा की छठी शताब्दी से पूर्व अनेक कथाएँ वर्तमान थी, जिनका समावेश महाभारत तथा पुराणो में किया गया है।[1] पैशाची प्राकृत में रचित गुणाढ्य की वृहत्कथा को प्राकृत कथाओ को परपरा का प्रथम पुष्प माना जाता है।[2] अन्य विद्वान चद्रगुप्त मौर्य के समकालीन जैन आचार्य भद्रबाहु के 'वसुदेव चरित' को सबसे प्राचीन मानते हैं।[3]

प्राकृत के चरित ग्रथो की परपरा मे अन्य ग्रथ भी प्राप्त होते हैं। इनमें पादलिप्त की तरगावली, धर्मसेनगणिन् का वसुदेवहिण्डि, हरिभद्र की समराइच्च कहा, उद्योतन सूरि की कुवलयमाला कहा आदि ग्रथ उल्लेखनीय है।

जैनो का भी विशाल चरित साहित्य उपलब्ध होता है। उन्होने अपने धर्मग्रन्थो की गूढ विचारधारा को सरलतापूर्वक जन-साधारण तक पहुँचाने के उद्देश्य से चरित ग्रन्थ लिखे। ये ग्रन्थ सस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रश —तीनो भाषाओं मे रचे गये हैं। इनमे ऋषभ पार्श्व, महावीर आदि तीर्थंकरो तथा यशोधर, नागकुमार, करकडु आदि राजपुरुषो के चरित्रो का अंकित किया गया है। इसके अतिरिक्त जैन रामायण तथा हरिवश पुराण के पात्रो को लेकर भी रचनाएँ हुई है।

हमारे कवि से पूर्व रचित जैन चरित साहित्य मे विमलसूरि का पउमचरिय (प्राकृत), चतुर्मुख के पउमचरिउ आदि ग्रन्थ, रविषेण का पद्म चरित (सस्कृत) तथा स्वयभू की अपभ्रश रचनाएँ परमचरिउ तथा रिट्ठणेमि चरिउ उल्लेखनीय है।

---

(१) मध्य० भार० सस्कृति, पृ० ७८-७९

(२) आदिकाल, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५६

(३) एनल्स आफ भडारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, खड १६, भाग १-२ (१९३४-३५, पृ० २६-२७

पुष्पदंत के पश्चात् चरित ग्रन्थो की परम्परा लगभग १७ वी शताब्दी तक चलती रही। इस समय की प्रसिद्ध रचनाएँ भविसयत्त कहा (धनपाल), सुदसण चरिउ (नयनंदी), करकंडु चरिउ (मुनि कनकामर), पउमसिरी चरिउ (धाहिल), सुलोयणा चरिउ (देवसेनगणि), बलभद्रपुराण (रयधू), संदेश रासक (अब्दुल रहमान) हैं।

रचना शैली—

चरित काव्यो मे प्राय नायक के पूर्व-जन्मो के विवरण, वर्तमान जन्म के कारण, जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ, देश-नगर आदि के वर्णन होते हैं। शास्त्रीय प्रबन्धो की भाँति अनेक घटनाओ को एक ही कथानक मे गुंफित करने की प्रवृत्ति इनमे नही मिलती। वर्णनात्मक अशो की न्यूनता के कारण ये कथापरक अधिक होते हैं। सामान्यत. चरित-काव्य का कवि मूल कथा को छोड़ वस्तु या प्रकृति वर्णन करने मे अधिक समय तक नही रुकता। इस दृष्टि से ये काव्य के अधिक निकट तथा प्रबन्ध काव्यो की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक, सरल एव लोकोन्मुख होते हैं।

सामान्यत चरित ग्रन्थो में अलौकिक, अप्राकृतिक तथा अतिमानवीय शक्तियो, वस्तुओ एव व्यापारो का समावेश अवश्य किया जाता है। यह पौराणिक अथवा रोमासिक शैली के कथा-काव्यो की देन है।

जैन चरित काव्य तथा पुराणो की रचना-शैली मे कोई भेद नही है। केवल चरित काव्यो मे विषय-विस्तार मर्यादित होता है, जिसके कारण सधियो की सख्या कम हो जाती है, परन्तु वह सख्या भी निर्धारित नही है, धनपाल का बाहुबलि चरित १८ सधियो मे रचा गया है, जबकि पुष्पदत का जसहरचरिउ केवल ४ सधियो में है। महापुराण की सधि-कडवक शैली का प्रयोग इसमें भी होता है। कभी-कभी श्रोता-वक्ता की योजना भी की जाती है, जिसका उद्देश्य सभवत. यह रहा होगा कि कथावस्तु मे असभाव्य प्रसगो को पर-प्रत्यक्ष बनाकर उनकी असभाव्यता कम कर दी जाये। णायकुमार चरिउ मे गौतम गणधर राजा श्रेणिक को कथा सुनाते है।

णायकुमार चरिउ

सामान्य परिचय

कवि के इस खड-काव्य की रचना महापुराण के पश्चात् हुई है। ग्रंथ से ज्ञात होता है कि कवि ने इसकी रचना महामात्य भरत के पुत्र गृहमन्त्री नन्न के आश्रय मे तथा उन्ही के निवास स्थान पर रह कर की थी। इसका उल्लेख इस प्रकार है—

णण्णहो मंदिरि णिवसंतु संतु
अहिमाणमेरु गुणगणमहंतु। (णाय० १।२।२)

नन्न के अतिरिक्त गुण धर्म, नाइल्ल आदि व्यक्तियों ने भी कवि को ग्रथ रचने की प्रेरणा दी थी।[1]

कवि ने ग्रथ-रचना के समय का कहीं उल्लेख नहीं किया है, परन्तु सम्राट् कृष्ण[2] तथा नन्न के उल्लेखों से प्रतीत होता है कि इसकी रचना महापुराण के पश्चात् अर्थात् सन् ६६६ से ६६८ ई० के मध्य किसी समय हुई थी।

ग्रथ की रचना का उद्देश्य श्री पचमी उपवास का फल बतलाना है। नागकुमार के चरित्र द्वारा इस उद्देश्य की पूर्ति की गई है।

इस रचना में ९ संधियाँ हैं, जिनमे २२०६ पद तथा १५० कडवक हैं। प्रत्येक सधि के शीर्षक मुख्य घटना के आधार पर रखे गये हैं। आश्रयदाता नन्न को सम्मानित करने के अभिप्राय से प्रत्येक संधि की पुष्पिका में उनका नाम अङ्कित किया गया है। यथा—

'इय णायकुमारचारुचरिए णण्णणामकिए महाकइ पुप्फयतविरइए
महाकव्वे जयधरविवाह कल्लाणवण्णणो णाम पढमो परिच्छेउ समत्तो।'

सधियों मे न तो कडवकों की सख्या ही निश्चित है और न कडवकों मे पदों की सख्या। सधि ३ तथा ४ मे प्रत्येक कडवक का आरम्भ द्विपदी (दुवई) छद से हुआ है। कडवक का अत नियमानुसार घत्ता के ध्रुवक से होता है। सधियों मे प्रधान छद पद्धडिया, वदनक, पारणक आदि हैं, परन्तु एकरसता के परिहार के लिये कहीं-कहीं भुजगप्रयात, सोमराजी आदि छदों की योजना की गयी है।

पुष्पदन्त ने महापुराण जैसे महान ग्रथ के पश्चात् णायकुमार चरिउ रचा, अत स्पष्ट है कि कवि की काव्य-प्रतिभा इसकी रचना के समय अत्यत प्रौढ हो चुकी थी। यही कारण है कि इस ग्रथ मे भावानुकूल वर्णन-सौष्ठव, रस-परिपाक, अर्थ-गाम्भीर्य, शब्द-सामंजस्य तथा अलकार, भाषा एव छन्दों का वैचित्र्य हमें प्राप्त होता है।

कथानक—

ग्रथारम मे कवि ने पचपरमेष्ठि तथा सरस्वती की वदना करने के उपरान्त नन्न आदि के द्वारा ग्रथ रचना की प्ररणा दिये जाने का उल्लेख किया है। नन्न की प्रशसा तथा सज्जन-दुर्जन स्मरण के पश्चात् कथा प्रारम्भ करते हुए मगध तथा राजगृह का सुन्दर वर्णन किया है।

वर्धमान महावीर के आगमन पर मगधराज श्रेणिक उनकी वदना करने के उपरान्त श्रीपचमी व्रत का फल पूछते हैं। वर्धमान की आज्ञा से गौतम गणधर कथा प्रारम्भ करते हैं।

---

(१) णाय० १। २। ४-१०, १। ३। १२, १। ५। १

(२) ता वल्लहराय महतएण, कलि विलसिय दुरिय कयतएण। णाय० १। ३। २

प्राचीन काल में मगध के कनक पुर नगर मे राजा जयधर अपनी रानी विशाल नेत्रा तथा पुत्र श्रीधर के साथ राज्य करता था। एक समय वासव नामक वणिक् द्वारा गिरिनगर की राजकुमारी पृथिवी देवी का चित्र देखकर राजा ने उससे विवाह करने की इच्छा प्रकट की। वासव के प्रयत्न से उसका विवाह सपन्न होता है।

सधि मे दो मे विशाल नेत्रा के ऐश्वर्य को देखकर पृथिवी देवी की ईर्ष्या का वर्णन है। एक मुनि उसके पुत्र होने की भविष्यवाणी करता है। वह यह भी बतलाता है कि उस बालक के चरण-स्पर्श से जिन-मदिर के लौह-कपाट खुल जायेगे और वह कूप मे गिरकर नागो द्वारा रक्षित होगा।

पुत्र उत्पन्न होने पर मुनि द्वारा कथित घटनाएँ घटित होती हैं। उसका नाम नागकुमार रखा जाता है।

सधि ३ मे नागकुमार को अनेक कलाओ की शिक्षा देने का वर्णन है। वह वाणा वादन द्वारा किन्नरी तथा मनोहारी से विवाह करता है। इधर विशाल नेत्रा राजा के हृदय मे पृथिवी देवी के प्रति सदेह उत्पन्न करने का प्रयत्न करती है परन्तु वह सफल नही होती।

नागकुमार के सौन्दर्य को देखकर पुर-नारियाँ व्याकुल होती हैं। राजा उसे नगर मे जाने से रोक देता है। परन्तु उसके न मानने पर राजा, पृथिवी देवी के समस्त आभूषण छीन लेता है। नागकुमार द्यूत क्रीडा द्वारा माता के आभूषण पुन: प्राप्त कर लेता है। श्रीधर भी नागकुमार से ईर्ष्या करता है एव उसे मार डालने का प्रयत्न करता है। परन्तु राजा उसके पृथक् आवास की व्यवस्था कर देते हैं।

सधि ४ मे व्याल तथा महाव्याल के नागकुमार की सेवा में आने तथा श्रीधर के कुचक्र के कारण नागकुमार के नगर त्याग देने के वर्णन हैं।

सधि ५ मे नागकुमार के अनेक महान् कार्यों का वर्णन है। वह मथुरा के राजा को परास्त करके कान्यकुब्ज की वदिनी राजकुमारी को छुड़ाता है। पश्चात् कश्मीर की राजकुमारी से विवाह करके, पाताल मे भीमासुर से शबर-पत्नी को मुक्त कराता है।

सधि ६ मे नागकुमार को अनेक विद्याएँ प्राप्त होने की कथा है। वह वनराज-पुत्री से विवाह करता है। अछेय तथा अभेय-दो राजकुमार भी उसकी सेवा मे आते है।

सधि ७ मे विपाक्त आम्र-वन में नागकुमार के ठहरने, चडप्रद्योत नामक राजा को पराजित करके गिरि नगर-राज अरिदमन को अभय प्रदान करने एव उसकी पुत्री से विवाह करने के वर्णन हैं। इसी प्रकार वे अन्य राजकुमारियों से भी विवाह करते है।

सधि ८ मे नागकुमार उज्जैन की गर्विता राजकुमारी से विवाह करता है तथा पवनवेग राजा को परास्त करके पाण्ड्य राज्य मे चला जाता है।

सधि ९ मे नागकुमार मदनमजूषा तथा लक्ष्मोमती से विवाह करता है।

वह एक मुनि से लक्ष्मीमती के प्रति अपने अधिक प्रेम होने का कारण पूछता है। मुनि उसके पूर्व जन्मो का कथा सुनाकर उसकी जिज्ञासा शान्त करते हैं।

नागकुमार कनकपुर लौटकर वहाँ के राजा बन जाते हैं। दोर्घकाल तक राज्य करने के उपरान्त, अपने पुत्र को राज्य देकर अनेक साथियो के साथ दिगम्बर मुनि हो हो जाते हैं और अत में निर्वाण प्राप्त करते है।

इस प्रकार श्रो पचमी कथा समाप्त होतो है।

जसहर चरिउ

सामान्य परिचय

जसहर चरिउ कवि को अन्तिम रचना है। कवि ने इसे भी नन्न के आश्रय मे लिखा था —

णण्णहो मन्दिरि णिवसतु सतु
अहिमाणमेरु कइपुप्फयतु

(जस० १।१।४)

कवि ने इस ग्रथ मे भी रचना काल नही दिया है। परन्तु निश्चय ही इसकी रचना मान्यखेट के पतन (९७२ ई०) के पूर्व तथा णायकुमार चरिउ की रचना के पश्चात् हुई थी।

जसहर (यशोधर) की कथा जैनो मे अत्यत लोकप्रिय रही है।

सस्कृत, प्राकृत, अपभ्र श, गुजराती, तमिल, कन्नड आदि भाषाओ में इस ग्रंथ की रचना हुई है। डा० पी० एल० वैद्य ने लगभग ७५ ग्र थो के सकेत किये हैं तथा २९ ग्र थ-कर्त्ताओ के परिचय भी दिये हैं।[1] इनमे पुष्पदत का ग्र थ अधिक प्रसिद्ध है। उनके पूर्व सस्कृत के दो यशोघर चरित्रो का प्रमाण मिला है। इनमे एक सोमदेव का यशस्तिलक चपू है, जिसकी रचना सन् ९५९ में हुई थी। दूसरा वादिराज (१० वी शताब्दी का उत्तरार्घ) का यशोघर चरित्र है।

इस ग्र थ मे ४ सधियाँ हैं, जिनमें १३८ कडवक एव २१४४ पद है।

इस प्रकार यह रचना कवि के णायकुमार चरिउ से कुछ ही छोटो है। सधि ३ तथा ४ (१-२२ कडवक तक) मे प्रत्येक कडवक का आरभ दुवई छद से हुआ है। कडवक के अत मे घत्ता का ध्रुवक दिया गया है। सधि २, ३ तथा ४ के आरभ मे

---

(१) जस० भूमिका, २४-२८

नन्न की प्रशसा मे सस्कृत की प्रशस्तियाँ हैं। सधियो की पुष्पिकाओं मे ग्रंय को नन्नके कर्ण का आभरण कहा गया है —

'इय जसहर महाराजचरिए महामल्ल गण्ण कण्णाहरण महाकइ पुप्फयत विरइए महाकव्वेजसहर राय पट्टबधो णाम पढमो सधी समत्तो ।'

ग्रथ मे कुछ प्रक्षिप्त स्थल भी हैं। इन्हे किसी गोविन्द कवि ने लिखकर ग्रथ में जोड दिया है। ये स्थल इस प्रकार हैं —

१—सधि १ के कडवक ५।३ से १।८।१७ तक (कापालिक भैरवानद का राजा मारिदत्त के यहाँ आगमन)

२—सधि १।२४ ६ से १।२७।२३ तक (जसहर विवाह वर्णन)

३— सधि ४।२२।१७ से ४।३०।१५ तक (विशिष्ट पात्रो के भावी जन्मान्तरो का वर्णन)

ग धर्व कवि ने ग्रंथ मे अपनी कविता को जोडकर, उसके अत मे अपना नाम देकर यह कह दिया है कि अब आगे पुष्पदत रचित वर्णन है :—

गंधव्वु भणइ मइ कियउ एउ···· ·।
अग्गइ कइराउ पुप्फयतु सरसइ णिलउ।
(जस० १।८।१५-१६)

इस प्रकार हमारे कवि के मूल ग्र थ से इन पाठान्तरो को पृथक् करने मे बडी सुविधा हो गई है। गधर्व कवि ने अन्त मे अपना परिचय तथा इन प्रक्षिप्त स्थलो को सम्मिलित करने का कारण भी दे दिया है। जो इस प्रकार है—

गधर्व, कण्हड (कृष्ण) के पुत्र थे। उन्होंने वैशाख शुक्ल द्वितीया रविवार सवत् १३६५ वि० (१३०८ ई०) को पट्टण के वीसल साहु (खेला साहु के पुत्र तथा छगे साहु के पौत्र) की प्रार्थना पर, उन्ही के निवास स्थान योगिनो पुर (दिल्ली) मे रहते हुए, ये स्थल सम्मिलित करके सुनाये। उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि जसहर विवाह का प्रसंग वासवसेन के यशोधर चरित (पर्व २) से तथा शेप प्रसगों के सूत्र किसी वत्सराज नामक प्राचीन कवि के ग्र थ से ग्रहण किये थे।[1]

ग्रंथ का प्रधान उद्देश्य कौल मत पर जैन धम की विजय सिद्ध करना है। परन्तु प्रसंगवश अनेक स्थलो पर याज्ञिको हिंसा तथा ब्राह्मणो के ख डन भी किये गये हैं। ग्र थ का कथानक अत्यंत जटिल है। कदली के पात में पात की भाँति कथाओं मे कथाए

(१) जस० ४।३०।१-१५

उलझी हुई है। पात्रो के अनेक जन्म-जन्मान्तरो के वर्णनो की भूलभुलैया मे मुख्य कथानक परोक्ष मे रह जाता है।

सक्षेप मे ग्र थ का कथानक इस प्रकार है—

ग्र थ के मगलाचरण मे २४ तीर्थङ्करो का स्तवन करके कवि यौधेय देश तथा उसकी राजधानी राजपुर का वर्णन करता है। वहाँ का राजा मारिदत्त है।

एक समय भैरवानद नामक कापालिक राज-सभा में आकर अपनी सिद्धियो तथा चमत्कारो का वर्णन करता है। राजा मारिदत्त आकाशगामिनी विद्या प्राप्त करने की प्रार्थना करते है। इस पर भैरवानद उसे देवी के सम्मुख अनेक जीव-मिथुनो की बलि देने की सलाह देता है। राजा की आज्ञानुसार उसके कर्मचारी अनेक जीवो के साथ सुदत्त नामक मुनि के दो क्षुल्लक शिष्य बालक अभयरुचि तथा बालिका अभय-मति को बलिदान हेतु पकड कर लाते है। मारिदत्त उनके रूप को देखकर चकित रह जाता है और उनसे अपना परिचय देने की प्रार्थना करता है।

अभयरुचि अपनी जीवन-गाथा सुनाते हैं—

अभयरुचि पूर्व जन्म मे अवन्ती के राजा यशोर्ह के पुत्र जसहर (यशोधर) थे। उनका विवाह अमृतमती से हुआ था। पिता के पश्चात जसहर राजा हुए।

सधि २ मे रानी अमृतमती का एक दरिद्र कुबडे से प्रेमालाप करने का वर्णन है। जसहर उनकी प्रेमलीला से क्षुब्ध होकर वैराग्य लेना चाहते है। माता के निषेध करने पर भी वे अपने निश्चय पर दृढ रहते हैं। इसी समय रानी अमृतमती, जसहर तथा उनकी माता को विष देकर मार डालती है। आगामी जन्म मे माता और पुत्र, सर्प-नेवला होते हैं। उनका पुत्र जसवई राजा बनता है।

सधि ३ मे जसहर तथा उसकी माता के अनेक जन्मो की कथाए हैं। अन्त मे दोनो के जीव जसवई की रानी के गर्भ से अभयरुचि तथा अभयमति के रूप में उत्पन्न होते हैं।

सुदत्त नामक मुनि द्वारा जसवई को ज्ञात होता है कि उनके पिता तथा माता-मही, उनके पुत्र-पुत्री के रूप मे अवतरित हुए हैं।

सधि ४ मे अभयरुचि तथा अभयमति अपने पूर्व जन्मो का स्मरण करके मुनि-व्रत लेने का विचार करते है, परन्तु अल्पवयस्क होने के कारण सुदत्त मुनि उन्हे क्षुल्लक के रूप मे ही कुछ समय तक रहने का उपदेश देते हैं।

अपनी कथा समाप्त करते हुए अभयरुचि उसी क्षुल्लक रूप में राज-सभा में उपस्थित किये जाने का उल्लेख करते हैं।

यह वृत्तान्त सुनकर राजा मारिदत्त को अत्यत पश्चाताप होता है और वह जिन-दीक्षा लेने का निश्चय करता है।

सुदत्त मुनि, राजा मारिदत्त आदि के पूर्व जन्मो की कथाए सुनाते है। देवी चडमारि तथा भैरवानद भी जैन धर्म मे दीक्षित हो जाते है।

———

अध्याय

पौराणिक प्रभाव

५

पुराणो का महत्व—

रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणादि वर्णाश्रम व्यवस्था के अनुयायी हिन्दुओ के पूज्य ग्रंथ है। प्राचीन काल से ही ये ग्रंथ अपने जीवत साहित्य के द्वारा भारतीय जन-समुदाय के आध्यात्मिक तथा क्रियात्मक जीवन को प्रभावित करते हुए, उनकी विशृंखलित भावनाओ को धर्म की एकसूत्रता मे बाधते चले आ रहे है। वस्तुत. समाज के वर्गगत वैषम्य तथा उसके सकीर्ण विचारो का परिहार कर मनुष्य को मानवता की सामान्य भूमि पर ले आने मे ही पुराणो का महत्व निहित है।

सभी पुराणो का उद्देश्य भारतीय महापुरुषो के गौरवमय इतिहास को प्रस्तुत करना तथा उसके साथ ही उनकी त्रुटियो को भी प्रकाश में लाना रहा है। इस प्रकार ये पुराण हमारे सामने उच्च जीवन का आदर्श रखने मे समर्थ हुए। पुराणो का एक उद्देश्य यह भी था कि भारतीय विचार-धारा के साथ धर्म के मूलभूत सत्य लाये जायँ।[1] पुराणो में समाविष्ट विविध विषय यथा-राजनीति, समाज-शास्त्र, धर्म, दर्शन, कला-कौशल, वास्तु, मूर्ति-कला आदि भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति को अकित करने मे अत्यत सहायक सिद्ध हुए हैं। यही कारण है कि पुराणो को विश्व साहित्य की सज्ञा दी गयी है।[2]

इन्ही मानव-कल्याणकारी विविध तत्वो के निरूपण के कारण समग्र भारत में रामायण, महाभारत तथा पुराणादि अत्यत लोक-प्रिय हुए तथा उनसे प्रेरणा प्राप्त कर अनेकानेक काव्य रचे गये। महाभारत में तो यहाँ तक कहा है कि जैसे भोजन विना शरीर धारण करना सभव नही, वैसे ही इस इतिहास का आश्रय लिए विना कोई

---

(१) जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च, मदरास, खड २२, पृ० ७६-८०

(२) स्टडीज इन इपिक्स एण्ड पुराण आफ इण्डिया, डॉ० ए० डी० पुसालकर, भारतीय विद्या भवन, पृ० २६६ तथा हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग १, पृ० ४८६

कथा लिखना सभव नही।[1] रामायण से भी प्रत्येक युग के आचार्य, कवि तथा नाटककार चालित हुए हैं। कालिदास-भवभूति की रचनाओ पर इसका प्रभाव है।[2] कालिदास के अभिज्ञान शाकु तल तथा रघुवश सरीखे ग्रथो का आधार पद्म पुराण भी माना गया है।[3] मध्यकालीन साहित्य के विषय मे डॉ० गोरी शकर हीराचद ओझा का यह कथन यहाँ उल्लेखनीय है कि इस समय उपलब्ध तत्कालीन साहित्य से पता लगता है कि उस समय का बहुत सा ऐसा साहित्य रामायण और महाभारत की घटनाओ के भरा हुआ है। यदि हम रामायण तथा महाभारत की कथाओ से सबद्ध सब पुस्तको को अलग कर दें तो अवशिष्ट पुस्तकों की सख्या बहुत थोडी रह जायेगी।[4]

प्रभाव—

रामायण तथा महाभारत के रचना-काल के विषय मे अभी तक कोई विश्वस्त प्रमाण उपलब्ध नही हैं। भारत के उत्तर-दक्षिण आदि क्षेत्रो मे इन ग्रथो के भिन्न भिन्न रूप प्रचलित हैं, जिनमे समय-समय पर सम्मिलित किये गये प्रक्षिप्त अश भी प्रचुर मात्रा मे हैं। अत कहा जाना है कि इनकी रचना किसी एक समय मे न होकर भिन्न-भिन्न कालो मे हुई हैं। परन्तु उत्तरी बौद्ध धर्म की कुछ पस्तको के चीनी भाषा मे सुरक्षित अनुवादो से यह प्रमाणित होता है कि सन् ३२० के लगभग भारतीय समाज मे महाभारत पर वडी श्रद्धा थी।[5] कुछ अन्य प्रमाणो के आधार पर विद्वानो ने निश्चित रूप से स्वीकार किया है कि ईसा की ५ वी शताब्दी मे महाभारत का वर्तमान रूप बन चुका था। रामायण का वर्तमान रूप तो इससे बहुत समय पूर्व ही भारतीय समाज मे प्रचलित था।[6]

पराणो के सबन्ध में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री का यह मत सर्वमान्य समझा जाता है कि उनमे से अधिकाश पुराण ईसा की ५ वी शताब्दी में वतमान थे[7] अत तत्वत हमे यह स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नही है कि ई० सन् के पश्चात निर्मित होने वाले प्राकृत-अपभ्रश के साहित्य पर रामायणादि लोकप्रिय ग्रथो का यथेष्ट प्रभाव पडा है।

---

(१) महाभारत पर्व सग्रह पर्व, २।३७

(२) हिन्दी साहित्य को भूमिका, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० १७१

(३) स्टडीज इन इपिक्स एण्ड पुराण आफ इडिया, पृ० १९९

(४) मध्यकालीन भारतीय सस्कृति (१९२८ ई०), पृ० ७५

(५) हिन्दी साहित्य की भूमिका पृ० १६९

(६) वही, पृ० १७२

(७) वही, पृ० १५३

मध्यकाल का प्राय समस्त अपभ्र श साहित्य जैन-बौद्ध सरीखे अवैदिक धर्मों के मनीषियो द्वारा रचा गया है। इनमे भी जैनो की रचनाए सर्वाधिक हैं। ये रचनाएँ मुख्यत प्रबध-काव्यो के रूप मे जैन-धर्म के तीर्थङ्कर आदि ६३ महापुरुषो के जीवन चरित वर्णन करने के हेतु लिखी गई है, जिनमे अनेक पात्र पौराणिक ही हैं। परन्तु अतर केवल यह है कि यहाँ उनके कार्य नितान्तत जैन मतानुसार चित्रित किए गये हैं। विंटरनिट्ज का कथन है कि अत्यत प्राचीन काल से जैनो ने ब्राह्मणो के प्रत्येक महापुरुष को अपनी कथाओ मे स्थान देने का प्रयत्न किया है।[1]

पौराणिक पात्रो मे राम तथा कृष्ण सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं। अवतारवाद की भावना के समन्वय से इसमे ईश्वरत्व का जो आरोप किया गया, उसके द्वारा धर्म-प्राण जनता को अत्यधिक सबल प्राप्त हुआ। रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि ग्र थो मे वर्णित इनके धर्म सस्थापन के महत् कार्यों तथा अनुपम शील, शक्ति एव सौन्दर्य-मय व्यक्तित्व की कल्पना से जन-जन का मानस उनके प्रति अखड अनुराग तथा भूयसी भक्ति मे अनुप्राणित हो उठा। उनके इस व्यापक महत्व से आकपित होकर जन धर्म ने भी उन्हे अपने महापुरुषो मे सम्मिलित कर लिया। ६३ जैन महापुरुषो की तालिका में राम अष्टम् बलदेव तथा कृष्ण नवम् वासुदेव माने गये हैं। अवश्य ही जैन धर्म मे उनके ईश्वरत्व को स्थान नही मिला।

इन महापुरुषो के साथ ही जैन धर्म ने उनके जीवन-वृत्तो को भी स्वधर्मानुकूल बना कर ग्रहण कर लिया। इस प्रयत्न मे कथानको में यथेष्ट रूपान्तर हो गये हैं। इस प्रसग मे स्व० प० चन्द्र धर शर्मा गुलेरी का कथन है कि जैनो ने हमारी कथाओ को बदल कर अपने धर्म की प्रभावना बढाने के लिये रूपान्तर दे दिया—यह कहना कुछ साहस की बात है। नदी का जल लाल भूमि पर बहता है तो लाल हो जाता है, काली पर बहता है तो काला। कथाएँ पुरानी आर्यकथाएँ हैं। जैन-बौद्ध-वैदिक सबकी समान सपत्ति हैं।[2] परन्तु रूपान्तर की यह बात केवल जैन धर्म मे ही नहीं मिलती, वरन् एक ही पात्र के चरित्र वर्णन करने वाले विभिन्न हिन्दू पुराणो तथा काव्यो मे भी प्राप्त होती है। स्वयं तुलसीदास ने वाल्मीकीय रामायण को अपना आदर्श मानते हुए भी मानस की कथा मे अनेक परिवर्तन किये हैं। इसी प्रकार जैनमत मे भी राम-कथा की दो स्पष्ट धाराएँ हैं—एक वाल्मीकि से प्रभावित विमलसूरि-रविषेण की तथा दूसरी गुणभद्राचार्य की। एक ही राष्ट्रकूट साम्राज्य की छत्र छाया मे रहकर रचना करने वाले अपभ्रश के मूर्धन्य कवि स्वयभू तथा पुष्पदत ने क्रमश.

---

(१) हिस्ट्री आफ इ डियन लिटरेचर, भाग २ पृ० ५०६

(२) पुरानी हिन्दी, चंद्र धर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, (सं० २००५) पृ० ६७

पृथक्-पृथक इन धाराओ को अपनाकर ग्रंथ रचे। अत कथानकों में रूपान्तर या यह बात अंशत धार्मिक होने के साथ-साथ अधिकांशत काव्य-प्रणेताओ की व्यक्तिगत स्वच्छन्द भावना पर आधारित है।

जैन-काव्यो में रामायण, महाभारत तथा अन्य पुराणो की कथाओ के परिवर्तित रूप अजैन व्यक्तियो को भले ही अटपटे प्रतीत हो परन्तु जैन मत में उन्हें प्रमुख स्थान देकर उनके प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। जैनो ने राम को सिद्ध आत्मन तथा सीता को सती-साध्वी नारी के रूप मे माना है।[1] उनमे कृष्ण का महत्व भी इतना बढ गया कि उनकी पूजा तक प्रचलित हो गई। बम्बई के सेंट जेवियर्स कालेज मे सग्रहीत कुछ मूर्तियो से यह स्पष्ट अनुभव होता है।[2] यही नही जैन-समाज की स्त्रियाँ आज भी अपने धर्म-ग्रथो मे राम-कृष्ण की कथाएँ देख गर्व का अनुभव करती हैं।

जैनो ने रामायण, महाभारत तथा पुराणो की शैली के अनुरूप ही अपने ग्रथो की रचना की। अत उन्ही के समानान्तर उन्होने (जैनो ने) अपने ग्रथो के नाम-करण भी किये यथा-रामायण के समान रामायण[3] तथा हरिवश पुराण के समान उन्होने भी हरिवंश पुराण रचे। किसी एक महापुरुष के चरित्र सबधी ग्रथ को, उसी के नाम के साथ पुराण शब्द जोड कर उन्होंने प्रसिद्ध किया, जैसे-पार्श्व पुराण, शान्ति पुराण, पाण्डव पुराण आदि। किन्तु, सभी महापुरुषो के चरित्राकन करने वाले ग्रथ को उन्होने महापुराण कहा है। महापुराण को यदि जैन धर्म का समस्त पवित्र बातो का विश्वकोश कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। महाभारत की तुलना मे इसे रखा जा सकता है।

पुराणो के नाम, स्वभाव तथा शैली को अपनाते हुए भी जैन-कवि केवल अपने एव ब्राह्मणो के धर्म मे अन्तर स्पष्ट करने मे ही सतर्क नही रहे वरन् उन्होने ब्राह्मणों की ईश्वर सम्बन्धी मान्यताओ तथा दार्शनिक सिद्धान्तो का तर्कपूर्ण खडन भी किया है। यही नही, उन्होने वाल्मीकि तथा व्यास सरीखे विश्ववद्य महा-काव्य-प्रणेताओ तथा भारतीय सस्कृति के निर्माताओ को मिथ्यावादी एव कुमार्ग-कूप

---

(१) जर्नल आफ ओरियटल रिचर्स, मदरास, खंड १, स० २ पृ० ५१-५२

(२) भारतीय विद्या, खड ७ स० ६ (अक्टूबर, १६४६)

(३) पुप्पदत ने अपनी राम-कथा को रामायण ही कहा है, यथा—
मुणिसुव्वयजिणतित्थ तोसियसुररामायणु।
हरिहलहरगुणथोत्तु ज जायउ रामायणु। मपु० ६६।१।१-२

कहे जाते हैं ।[1] मगध-राज श्रेणिक (बिम्बसार) की प्रार्थना पर गौतम गणधर कथा सुनाते हैं । पुष्पदंत के दो ग्रंथों-महापुराण एवं णायकुमार चरिउ में इसी संवाद शैली के दर्शन होते हैं । कवि का तृतीय ग्रंथ जसहर चरिउ निश्चय ही इसका अपवाद है ।

अतिरंजना-तत्व—

प्राचीन आलंकारिकों ने वस्तु-कथन की तीन शैलियाँ—तथ्य कथन, रूपक-कथन तथा अतिशयोक्ति-कथन निरूपित की हैं ।[2] इनमें तथ्य-कथन शैली वैज्ञानिक है । रूपक-कथन का निर्वाह वेदों में तथा अतिशयोक्ति-कथन का पुराणों में हुआ है । काव्य में अतिशयोक्ति अथवा अतिरंजना का बड़ा महत्व है । सामान्य को विशेष रूप से वर्णन करने में वस्तुतः अतिरंजना का ही आश्रय लिया जाता है । इसके मूल में जन-मानस को आकर्षित करने तथा मानव-जिज्ञासा को सतत जागरूक रखने का भाव निहित है । पुराणों की लोक-प्रियता की वृद्धि में इससे बड़ी सहायता मिली है ।

प्राकृत की अपेक्षा अपभ्रंश के प्रबन्ध-काव्यों में अतिरंजना तत्व को अधिक प्रधानता दी गई है । पुष्पदंत का समग्र काव्य इसी से प्रभावित है । कवि ने विशेष रूप से आदि तीर्थंकर ऋषभ के पंच-कल्याणक महोत्सव के वर्णन पूर्ण अतिरंजना के साथ किये है ।[3] इसके अतिरिक्त महाराज भरत का विशालवाहिनी के साथ दिग्विजय[4], हनुमान द्वारा नंदन-वन विदारण[5], तथा राम-रावण युद्ध[6] के प्रसंगों में इसी शैली के भव्यरूप प्राप्त होते हैं । इस सम्बन्ध में णायकुमार चरिउ का पृथ्वी देवी का नख-शिख वर्णन (१।१७) तथा जसहर चरिउ के यौधेय देश (१।३) एवं देवी चंडमारि के वर्णन (१।१६) भी द्रष्टव्य हैं ।

कथानक-वैशिष्ट्य

पौराणिक रचना-शैली की एक विशेषता यह भी है कि उसमें प्रधान कथाओं के अन्तर्गत अनेक उप-कथाओं की सृष्टि की गई है । इन उपकथाओं में वीरता, नीति, वैराग्य आदि अनेक उदात्त विषयों का चित्रण किया गया है । पुष्पदंत के महापुराण में भी ऐसी उप-कथाएं प्रचुर संख्या में हैं, परन्तु उनके कारण मूल कथा का

---

(१) वद्धमाण-मुह-कुहर-विणिग्गय । पउम चरिउ, १।२।१
एहउ वीर जिणिंदे वुत्तउ । मपु० २।४।७
(२) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, पृ० ४८७
(३) मपु० संधि ३, ७ ६, ३७ ।
(४) मपु० संधि १२-१५
(५) मपु० संधि ७६ ।
(६) मपु० संधि ७७-७८

सूत्र योजना कठिन हो जाता है। आदि पुराण में महाबल-स्वयबुद्ध (सधि १०), श्रीमती-वज्रजघ (सधि २०-२६) तथा जय-सुलोचना (सधि २८-३६) की कथाएं इसी कोटि की हैं। णाय० तथा जस० के कथानक भी इसी प्रकार जटिलता से पूर्ण हैं।

पात्र-नियोजन

पुराणों का एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि उनमें श्रेष्ठ तथा उज्ज्वल चरित्रों की अत्यधिक उद्भावना की गई है। ये पात्र ऐश्वर्य तथा भोग-विलास में ही लिप्त नहीं रहते, वरन् जीवन की विषम परिस्थितियों और सघर्षों में अदम्य साहस के साथ अग्रसर होते हैं तथा मानव-मात्र के सम्मुख कर्मशील जीवन का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। हमारे कवि के ग्रथों में वर्णित महापुरुषों के जीवन-चरित्र इसी कोटि के हैं। वे ससार की नश्वरता एव क्षणभगुरता का आभास पाते ही निमिष-मात्र में अतुल राज्य-सपदा एव वैभव का परित्याग करके कठोर तप और सयम का व्रत ले लेते हैं। इस प्रकार वे उच्चकोटि की भावना, शुचिता तथा सदाचार का आदर्श रखते हैं।

अन्य पौराणिक रूढ़ियाँ

जैन-ग्रथों पर हिन्दू पुराणों की अन्य रूढ़ियों का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ पुराणों में किसी महापुरुष द्वारा किये गये अद्भुत् पराक्रम के प्रदर्शन पर अथवा धर्म-सस्थापन का महत्वपूर्ण कार्य सपन्न होने पर, देवगण आकाश में अपने-अपने विमानों में बैठ कर उस कृत्य पर पुष्प-वृष्टि करते अथवा दुदुभि बजाते हुए चित्रित किये जाते हैं। कवि के महापुराण में वसुदेव समुद्र विजय युद्ध तथा कस-वध के प्रसगों पर देवताओं का ऐसा ही वर्णन किया गया है[1]।

पुराणों में अप्रिय कार्य पर शाप देने के प्रचुर वर्णन किये गये हैं। पुष्पदत ने मणिमती द्वारा रावण को[2] तथा अतिमुक्तक द्वारा जीवजसा (कस-पत्नी) को[3] शाप दिये जाने का उल्लेख किया है।

राज-कन्याओं के हेतु योग्य तथा अभिलषित वर के निर्वाचन के लिये स्वयवरों के आयोजन पुराणों में सामान्य रूप से अकित किये गये हैं। इनमें कभी-कभी किसी कठिन कार्य द्वारा प्रत्याशी के पराक्रम की परीक्षा को भी सम्मिलित कर दिया जाता है। पुष्पदत के ग्रथों में तदनुरूप प्रसगों की न्यूनता नहीं है। उन्होंने सुलोचना (मपु० सधि २८), गधवदत्ता (मपु० सधि ८३), जीवजसा (मपु सधि ८४) आदि के स्वयवरों के वर्णन किये हैं।

---

(१) मपु० ८३।२२।५, ८६।८।१

(२) मपु० ७०।६

(३) मपु० ८४।१२

यही नही, कवि ने अन्य वलदेवो एव वासुदेवो के लिए भी जिस नामावली का प्रयोग किया है, उससे भी उनके पौराणिक वलरामादि से कुछ सम्बन्ध होने का आभास मिलता है। इससे यह अनुमान होता है कि जैनो द्वारा अपने महापुरुषो को श्र`णो मे वलदेव तथा वासुदेव जैसी पद-सज्ञा का ग्रहण वस्तुत: पुराणो के पराक्रमी वलदेव (वलराम) तथा वासुदेव (कृष्ण) को जैन धर्म मे सम्मिलित करने के अभिप्राय से किया गया है।

सीता—सीता के जन्म के सम्वन्ध मे कई कथाए` प्रचलित हैं। महाभारत, हरिवश पुराण, पउम चरिय (विमल सूरि) आदि रामायण ग्रन्थो मे उन्हे जनक की पुत्री माना गया है। वाल्मीकि रामायण मे उन्हे भूमिजा कहा गया है। देवी भागवत पुराण (९।१६), ब्रह्म वैवर्त पुराण (प्रकृति खड, अध्याय १४) तथा गुणभद्र के उत्तर पुराण (पर्व ६८) मे वे रावणात्मजा अकित की गई है। तिब्बत, खोतान, हिन्देशिया, स्याम आदि विदेशो को राम-कथाओ मे भी उन्हे रावण की पुत्री कहा गया है। भारत मे सीता को रावणात्मजा मानने वाले ग्रन्थो मे गुणभद्र का उत्तर पुराण प्राचीनतम ग्रन्थ है।[1]

पुष्पदत ने इसी कथा का अनुसरण किया है।[2] परन्तु उन्होंने सीता को रावण की पुत्री जैसे आशय के नामो से सम्वोधित न करके सर्वत्र वइदेहि (वैदेही, मपु० ६९।२।४), जणय सुय (जनक सुता, मपु० ६९।१५।८), जणय तणय (जनक-तनया, मपु० ७२।१८।६) आदि पुराण व्यवहृत नामो से ही इ गित किया है। इसके अतिरिक्त कवि के कथा प्रसग मे, किसी वनपाल द्वारा सीता को प्राप्त कर, जनक उसका पालन करने के हेतु अपनी पत्नी वसुधा को सौंपते है। इससे स्पष्ट है कि कवि को वाल्मीकि द्वारा कथित सीता के भूमिजा होने का पता था और उसने इस तथ्य का समन्वय जनक-पत्नी वसुधा से कर दिया है।

रावण—जैन-मत मे रावण की गणना महापुरुषो मे की गई है। वह पुलस्त्य का पुत्र तथा अष्टम् प्रति-वासुदेव है। पुष्पदत उसे एक सिर तथा दो भुजाओ वाला मानते हुए भी वाल्मीकीय रामायण तथा अन्य पुराण-ग्रन्थो के प्रभाव के कारण दहमुह (दशमुख, मपु० ६९।१।१२), दहगीउ (दशग्रीव, मपु० ७०।१।१५), दससिस (दश-शीश, मपु० ७५।१।७), दसाणण (दशानन, मपु० ७०।७।६), वीसपाणि (मपु० ७१।८।२) आदि नामो से सम्वोधित करते हैं।

कवि ने रावण की उत्पत्ति विद्याधर-कुल मे वतलाई है, परन्तु उसे मायर-निस्चर भी कहा है, (मपु० ७६।८।२)। विद्याधर होने के कारण उसे अनेक विद्याए`

---

(१) रामकथा, डॉ० कामिल वुल्के पृ० २६६

(२) मपु० सधि ७०

सिद्ध है। वह विद्वान भी है। कवि ने उसकी मृत्यु पर सरस्वती द्वारा शास्त्र-पाठ न करने का उल्लेख किया है (मपु० ७८।२३।४)। उसकी प्रसिद्धि सर्वत्र है। चन्द्रहास उसकी तलवार का नाम है, (मपु० ७७।२।८)। वाल्मीकि रामायण मे रावण को चन्द्रहास शिव से प्राप्त होने का वर्णन है, (उत्तर काण्ड, सर्ग १६)। कवि ने उसे अत्यन्त कामुक तथा क्रोधी स्वभाव का चित्रित किया है।

हनुमान—हनुमान के प्रसिद्ध कार्य सीता की खोज तथा लका-दहन हैं। पुष्पदंत ने भी उनके इन्ही कार्यों का चित्रण किया है। परन्तु कवि ने उन्हे वानर न मान कर अनेक सिद्धियो से सम्पन्न विद्याधर कहा है। वानरी नामक विद्या की सहायता से लङ्का मे वे सीता के सम्मुख वानर-रूप मे उपस्थित हो कर राम का सन्देश देते हैं। (मपु० ७३।२४।१-)

वाल्मीकि रामायण[1] मे वर्णित उनके विडालाकार लघु-वानर के रूप मे लङ्का-प्रवेश की कथा का समन्वय कवि ने उपर्युक्त रूप मे किया है। उनकी सर्वविदित स्वामि-भक्ति की बात भी कवि को ज्ञात थी, (णाय०, १।४)। महापुराण मे उन्हे सामान्यत अजणेय (८६।२।७), कईसरु (कपीश्वर, ७३।१४।६), कइवरिंदु (कपिवरेन्द्र ७३।२५।२), मारुइ (मारुति, ७४।५।) आदि कहा गया है।

कृष्ण—पुराणो मे कृष्ण साक्षात् विष्णु के अवतार माने गये हैं। जैन धर्म ने इन्हे अपने महापुरुषो मे नवम् वासुदेव का स्थान दिया है। इसके अतिरिक्त वे वसुदेव-देवकी के पुत्र तथा २२ वे तीर्थङ्कर नेमि अरिष्ट नेमि) के चचेरे भ्राता भी है। अधक वृष्णि उनके पितामह थे।[2] ईश्वरीय विभूति को पृथक् करके पुराणो के कृष्ण का पूर्ण प्रतिविम्ब पुष्पदत के कृष्ण मे परिलक्षित होता है। श्रीमद् भागवत के अनुरूप ही कवि ने भी उनकी बाल-लीलाओ का वर्णन किया है, (मपु० सधि ८५)। परन्तु कवि का लक्ष्य उनके महापुरुषोचित महत् कार्यो का चित्रण करना था, अतः उसने कृष्ण द्वारा पूतना, अरिष्ट, कालिय को परास्त करना, गोवर्धन उठाना एव चाणूर, कस आदि का वध करना ऐसे कार्यो का अत्यन्त मनोयोग से वर्णन किया है। परन्तु पुराणो से इतनी कथा ग्रहण करने पर भी कवि ने अपने धर्म के आग्रह के कारण, तीर्थङ्कर नेमि[3] को कृष्ण से उच्च स्थान दिया है।

---

(१) वाल्मीकीय रामायण, सुन्दर काण्ड २।४७

(२) भागवत पुराण (३ शता० ई०) १।१४।२५ तथा ३।१।२९ में अंधक वृष्णि आदि यादवो की जातियां कही गई है। देखिए—कलेक्टेड वर्क्स ऑफ आर० जी० भंडारकर, भाग ४ पृष्ठ ११।

(३) नेमि का उल्लेख यजुर्वेद (९।२५) तथा हरिवश (१।३।६४।२६) मे प्राप्त होता है। अन्य पुराणो ने सामान्यत इनका उल्लेख नही किया।

यद्यपि कवि ने स्पष्टरूप से कहीं भी कृष्ण को विष्णु का अवतार नहीं माना, तो भी उसने कृष्ण के लिये अनेक ऐसे नामों का प्रयोग किया है, जिनसे विष्णु की अत्यंत सन्निकटता का बोध होता है। यजुर्वेद के पुरुष-सूक्त में रूपक द्वारा यज्ञ पुरुष विष्णु की श्री और लक्ष्मी दो पत्नियाँ मानी गई है।[1] पुराणों तक आते-आते वे एक रूप हो गईं। विष्णु पुराण में विष्णु के साथ श्री अथवा लक्ष्मी का वर्णन किया गया है।[2] पुष्पदंत द्वारा कृष्ण के लिए लच्छी कंत (मपु० ८५।६।२४), सिरिकंत (मपु० ८५।१०।३६), कमलावल्लहु (मपु० ८६।२०।७) आदि नामों का प्रयोग उनके (विष्णु के) साथ कृष्ण का तादात्म्य सिद्ध करता है। इसी प्रकार णारायण (मपु० ८५।२।३), गोप (मपु० ८८।६।१६), मुरारि (मपु० ८१। १।२), महुसूयण (मधुसूदन, मपु० ८५।६।६), गरुडकेउ (मपु० ८६।३।६) आदि कृष्ण के नाम भी विष्णु की ओर ही संकेत करते हैं। ऋग्वेद में एक स्थान पर विष्णु के लिए गोप शब्द आया है।[3]

कृष्ण के पौराणिक नामों में कवि ने साम (श्याम, मपु० ८१।१।६), गोविंद (मपु० ८५।६।५), जणद्दण (जनार्दन मपु० ८५।६।३३), जादवणाहु (मपु० ८६।६।११), गोवाल (८८।६।११) आदि के सामान्य प्रयोग किये हैं। इसके अतिरिक्त गोवी हियय-हारि (गोपी-हृदय-हारि, मपु० ८५।६।२) तथा राहियामणोहरस्य (राधिकामनोहरस्य, मपु० ८८।१४।८) नाम भी महत्व के हैं। इस संबंध में उल्लेखनीय है कि सर्व-प्रथम हरिवंश पुराण में कृष्ण चरित्र को गोपियों के साथ संबद्ध किया गया है।[4] इसी प्रकार राधा का भी प्रथम उल्लेख ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में प्राप्त होता है।[5]

त्रिदेव—कवि ने तीर्थङ्करों का उत्कर्ष बढाने के हेतु, त्रिदेवों के पुराण-विहित स्वरूप का वर्णन करते हुए, जिन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। त्रिदेवों की समस्त विशेषताओं के वर्णन में व्याज से जिन-वंदना का ही अर्थ लिया गया है। प्रत्येक देव के व्यक्तित्व की संक्षिप्त रूप रेखा इस प्रकार है:—

ब्रह्मा—कवि ने ब्रह्मा को सृष्टि-कर्त्ता न मानते हुए भी, उन्हें सर्वत्र उन्हीं नामों से संबोधित किया है, जिनसे इसी अर्थ का बोध होता है। यथा—विधाता (मपु० ७३।२२।१४,, विहिणा (विधिना, जस० १।२४।७), विहि (मपु० ७४।११।५) आदि। इसके अतिरिक्त उन्हें वेदांग वादिन, कमलयोनि, (मपु० १०।५।१०-१३) तथा हिरण्यगर्भ (मपु० ७।४।८) भी कहा गया है।

---

(१) श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ। यजुर्वेद ३१।२२
(२) नित्यैव सा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी। वि० पु० १।८।१५
(३) ऋग्वेद १।२२।१८
(४) सूरसौरभ, डॉ० मुन्शीराम शर्मा, (२००६ वि०) पृ० ११२
(५) वही, पृ० १३१

विष्णु— विण्णु, क्षीर-समुद्र-वासी (मपु० ७।२६।७) तथा अहि सयण (शेष-शायी मपु० ९०।१०।६) है। उनकी पत्नी रमा (मपु० ३९।५।५) हैं, एव इसी कारण उन्हे सिरि रमण (मपु० २।३।७) भी कहा गया है। उविंदु (उपेन्द्र, मपु० ८६।१।२३) भी उनका नाम है। वे चक्र धारण करते है, (मपु० ३३।१।६) विणयासुय (विनितासुत—गरुड, मपु० ७५।७।५) उनका वाहन है।

महेश—ये कैलाश-वासी है, (मपु० ७८।४।५)। उनकी जटाओ मे गगा, कर ने त्रिशूल (णाय० २।३।१४), कठ मे गरल (मपु० १२।१२।१३), मस्तक पर चन्द्रमा (मपु० ३८।२२।८), गले मे मु ड-माल तथा शरीर पर विषधर (मपु० १०।५।१) लिपटे है। गिरिवर सुइ (गिरिवर सुता, मपु० ९७।३।४) उनकी पत्नी है। वे त्रिलोयण (मपु० ९०।७।२) तथा चदाणण (मपु० २।९।२०) भी हैं। हर-गण (मपु० ८२।८।१०) एव शिव-तापस (मपु० ९३।११।१) उनकी सेवा मे रहते हैं। शभु, रुद्र, महादेव, महाकाल (मपु०१०।५।१-८), पशुपति (मपु० ९।२५। ११) आदि उनके अन्य नाम है।

इन्द्र—जैन पुराणो मे इन्द्र को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रत्येक जिन के पच-कल्याणको (गर्भ, जन्म, दीक्षा, कैवल्य तथा निर्वाण) के अवसर पर वे अन्य देवताओ के साथ अनिवार्यत पधारते हैं तथा जिन-स्तुति करते है। इनकी सख्या ३२ मानी जाती है।

कवि ने इद्र के लिए पुरदर (मपु० ८८।२।१५), सुरवइ (सुरपति, मपु० २।१७।५), दससय णयण (मपु० ३।१०।९), दणु दमणु (मपु० २।३।७) आदि नामो के प्रयोग किए है। उनकी पत्नी शचि (मपु० ४०।६।४), आयुध-कुलिश (मपु० ४७।४।१२), तथा वाहन-ऐरावत (मपु० ९।१७।२७) है। रभा (मपु० ९।१४।६), उव्वसि तथा तिलोत्तमा (मपु० ९।२६।३) उनकी अप्सराएं है।

उपर्युक्त प्रमुख पात्रो के अतिरिक्त कवि के ग्रन्थो मे अन्य पौराणिक देवी-देवता, ऋषि-मुनि तथा ग्रह-नक्षत्रो के उल्लेख भी हुए हैं। इनमे से कुछ इस प्रकार हैं—

कामदेव— कदप्प (मपु० १६।६।१२) कुसुमाउह (कुसुमायुध, मपु० ९।२४।१४), मदन (मपु० ३।२।४), मयरद्धउ (मकरध्वज मपु० ७८।३।३) आदि। रति उसकी पत्नी है, (जस० २।२२।७)।

यम— वइवसु (णाय० १।१४।६), काल (मपु० ३।१४।११) आदि। उनके पाश को कयत पासु (मपु० ३८।२३।५) कहा गया है।

कुबेर— दविणवइ (द्रव्य-पति, जस० ३।१९।१३), वइसवण (मपु० २।३।६), जक्खाहिउ (यक्षाधिप, मपु० ३८।१०।१०) आदि।

शेष— पायाल राइणा (मपु० ८।१४।३), अहि (मपु० ९३।१।८) आदि।

वृहस्पति—सुरगुरु (मपु० ३८।८।६) तथा अंगिरा (मपु०४७।६।१३)।
वरुण—समुद्देम (मपु० ३।१०।६) । भैरव—(मपु० ८७।४।१२)।
अग्नि—सिहि (मपु० ३।१०।६) । सूर्य—(मपु० ७२।२४)।
चद्र—मयलछण (मपु० ३।६।५) । राहु—णेरि (मपु० ३।१४।११)।
केतु—केउ (मपु० ४७।६।१३) । नारद—(मपु० ८८।४।३)।
अर्जुन—पार्थ (मपु० ८७।७।४) । गणेश—(मपु० ६५।१४।८)।
भरद्वाज—(मपु० ६५।८।१३) । शाण्डिल्य—(मपु० ६५।६।१)।
पराशर—(मपु० ६५।६।३) । कपिल—(मपु० ६८।१।१२)।
व्यास—(मपु० ६५।१०।११) । वाल्मीकि—(मपु० ६६।३।११)।
कश्यप—(मपु० ५।२।७) । सणत्कुमार—(मपु० ३।११।११)।
सरस्वती—(जम० ७।२८।१२) । गगा—(मपु० ३।४।६)।

(आ) पौराणिक कथानकों का ग्रहण

जैसा हम पूर्व ही निर्देश कर चुके है, जैनो ने अपने ग्रथो की प्रभावकता बढाने के हेतु, पौराणिक पात्रो के साथ ही तत्सबधित कथानको को भी ग्रहण किया है। इन कथानको का वर्णन तीन प्रकार से हुआ है। यथा—कुछ के सविस्तार वर्णन है, कुछ के सक्षिप्त तथा कुछ के केवल प्रसग-वश उल्लेख मात्र किये गये है।

इन कथानको का परिचय इस प्रकार है—

१—विस्तृत कथानक—पुष्पदत के महापुराण मे राम तथा कृष्ण के चरित्रो का वर्णन विस्तार मे किया गया है।

कवि की राम-कथा के निम्नलिखित स्थलो मे वाल्मीकि रामायण का स्पष्ट प्रभाव है—

दशरथ के चार पुत्र-राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न। (मपु० ६६।१२।८ १०)

जनक द्वारा सीता का पालन तथा राम से विवाह। लक्ष्मण का भी जनक के यहाँ विवाह। (महापुराण, ७०।६,१२,१३)

लकेश रावण का मय-सुता मदोदरी से विवाह। (मपु० ७०।६।१-२)

शूर्पणखा के सदृश चद्रनखी की अवतारणा। भिन्न कथानक के साथ। (मपु० ७१।११)

मारीच का स्वर्ण-मृग बनकर राम को सीता से दूर ले जाना तथा रावण द्वारा छल से सीता-हरण। (मपु० सधि ७२)

सीता-विरह मे व्याकुल राम का वनचारी मृगादिको से सीता का पता पूछना। (मपु० ७३।४)

राम का सुग्रीव-हनुमान से मिलन और परस्पर मैत्री। हनुमान द्वारा सीता की खोज। समुद्र-लघन। (मपु० ७३।७, १२)

लका मे रावण द्वारा सीता को अनेक प्रकार से फुसलाने की चेष्टा करना। सीता-विरह। (मपु० ७०।२०,७३।२४)

लंका में वानर-रूप में हनुमान द्वारा सीता को राम का संदेश देना।
(मपु० ७३।२५, २६)

वालि-वध (यहाँ लक्ष्मण द्वारा)। (मपु० संधि ७५)

राम द्वारा लंकेश के पास दूत भेजना (अंगद के स्थान पर हनुमान)
(मपु० ७४।११)

विभीषण का राम की शरण में आना। राम सेना (वानर-रूप में) का लंका प्रवेश।
(मपु० ७६।५,६)

हनुमान द्वारा लंका-दहन। (मपु० ७६।८)

राम-रावण युद्ध। रावण वध (राम के स्थान पर लक्ष्मण द्वारा)।
(मपु० संधि ७७,७८)

विभीषण का लंका का राजा होना। (मपु० ७८।२८)

कृष्ण चरित्र के जिस पक्ष का कवि के ग्रंथ में चित्रण हुआ है, उसका स्पष्ट आधार श्रीमद्भागवत प्रतीत होता है। महापुराण के निम्नलिखित स्थलों में भागवत की छाया परिलक्षित होती है—

अपने पिता उग्रसेन को कारागार में डाल कर कंस का स्वयं मथुरा का राजा होना। (मपु० ८४।१०)

देवकी पुत्र के हाथों अपनी मृत्यु होना जान कर, कंस द्वारा वसुदेव से उनकी सभी संतानों को प्राप्त करने का वचन लेना। (मपु० ८४।१४)

कारागार में कृष्ण जन्म। वसुदेव द्वारा कृष्ण को यमुना तट पर ले जाना और वहाँ नंद को उन्हें देकर बदले में नंद-पुत्री लेना। (मपु० ८५।३)

नंद-यशोदा द्वारा कृष्ण का लालन-पालन। (मपु० ८५।५-६)

कंस का पूतना, अरिष्ट आदि को भेज कर कृष्ण-वध की चेष्टा करना। कृष्ण द्वारा सबका परास्त होना। (मपु० ८५।६-१२)

कृष्ण के अलौकिक कार्य—कालिय-दमन, गोवर्धन-धारण तथा जल-वृष्टि से गोपों की रक्षा। (मपु० ८५।१६, ८६।१—३)

मथुरा में कृष्ण द्वारा चाणूर तथा कंस-वध। (मपु० ८६।७, ८)

उग्रसेन का मथुरा का पुनः राजा होना। (मपु० ८६।१०)

जरासंध-वध। (मपु० ८८।१५)

कृष्ण का द्वारका जाना। (मपु० ८७।६)

२—संक्षिप्त कथानक

महाभारत तथा अन्य पुराणों की कुछ कथाएँ संक्षेप-रूप से महापुराण में इस कौशल से सम्मिलित की गई है कि ग्रन्थ के मुख्य कथा-प्रवाह में किसी प्रकार का गतिरोध न हो सके। उल्लेखनीय कथाएँ इस प्रकार हैं—

कर्ण-जन्म-कथा (मपु० ८२।५)

पाण्डव-कथा (मपु० ६७।८—१०)

शिशुपाल-वध (मपु० ६०।७)

राजा सगर की कथा तथा गगावतरण (मपु० सधि २६)

बलि-वामन अवतार-कथा (मपु० ८६।१६—१८)

परशुराम-सहस्रवाहु कथा (मपु० सधि ६५)

३—अन्य कथानको के उल्लेख

कवि ने आधिकारिक कथाओ के वर्णनीय स्थलो को प्रभावशाली बनाने के उद्देश्य मे यत्र-तत्र पौराणिक पात्रो, कथानको तथा मान्यताओ के प्रासगिक उल्लेख किए है। समस्त रचनाओ मे ऐसे उल्लेखो की सख्या अत्यधिक है। उदाहरणार्थ कुछ प्रसग प्रस्तुत किए जाते है—

पराशर-सत्यवती से व्यास का जन्म। (मपु० ६८।६)

व्यास द्वारा विचित्र वीर्य की स्त्रियो से समागम। (मपु० ६१।८)

दुर्योधन द्वारा कृष्ण का परामर्श न मानना। (जस० १।६।८)

अर्जुन का द्रोण को वाण से वेधना। (मपु० ११६।२)

वृहस्पति का शुक्राचार्य से पराजित होना। (णाय० १।४।२)

शकर का काम-दहन (णाय० ६।७।४)

राहु का चन्द्रमा को ग्रसना। (मपु० ८५।२२।११)

विष्णु का नृसिंह अवतार। (मपु० ८६।६।१२)

विष्णु का मत्स्यावतार। (जस० ३।५।१—२)

देवासुरो द्वारा समुद्र-मथन। णाय० १।४।३—१०)

नल, नहुष, वेणु मान्धाता, जीमूतवाहन के उल्लेख। (णाय० १।६।१०)

नारद का व्यक्तित्व। (मपु० ७।१।१—३)

स्वप्न के कुप्रभाव से बचने के लिए आटे के कुक्कुट की बलि देना।[1]
(जस० २।१६।१२)

इसके अतिरिक्त कवि ने रूप-सौन्दर्य मे काम को, दाम्पत्य-स्नेह मे राम-सीता को, प्रभु-भक्ति मे हनुमान को, वैभव-विलास मे इन्द्र को, शुचिता मे गगा तथा भीष्म को, विद्या मे वृहस्पति को, धर्म मे युधिष्ठिर को तथा त्याग मे कर्ण को आदर्श माना है। (णाय० १।४।१—६)

यह सम्पूर्ण विवेचन, कवि पर यथेष्ट पौराणिक प्रभाव सिद्ध करता है।

---

(१) नारायणीय उपनिषद् मे भी आटे के जीवो की बलि देने का उल्लेख है। देखिए—कलक्टेड वर्क्स ऑफ आर० जी० भडारकर, खण्ड ४ पृ० ५०

अध्याय ६

जैन धर्म तथा कवि के काव्य में उसका स्वरूप

जैन धर्म की प्राचीनता

प्राचीन काल से ही भारत मे दो प्रकार की विचार-धाराएँ प्रवाहित रही है। एक ने ज्ञान के सरक्षित स्वरूप अथवा वेदो का अनुगमन किया। यह वर्णाश्रम परपरा है। इसमे, आचार्यो के मतानुसार, प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक जाति, स्त्री-पुरुष तथा विभिन्न आश्रमो (गृहस्थ, वानप्रस्थ आदि) के व्यक्तियो के लिए धर्म का विधान पृथक् है। दूसरी विचारधारा इसके विपरीत है। उसमे प्राणि-मात्र को धर्म का समान अधिकारी माना गया है। यह श्रमण परम्परा है। ईसा की प्रथम शताब्दी के पश्चात् सृजन होने वाले साहित्य मे श्रमण शब्द प्राय दिगम्बर जैन साधुओ के लिए प्रयुक्त हुआ मिलता है।[1] श्रमण तपस्या द्वारा अपने मे समस्त प्रकार की शारीरिक तथा यौगिक वेदनाओ को समता पूर्वक सहन करने की शक्ति को जगाने का परिश्रम करते हैं।[2] उनकी साधना का मूल आधार सम्यग्दर्शन है।

श्रमण शब्द उपनिषदो मे भी आया है।[3] जैन धर्म का विकास इसी श्रमण परम्परा मे हुआ है।

जैन मतावलम्बी अपने धर्म को अति प्राचीन मानते है। उनके अनुसार इस अनादि-अनन्त सृष्टि के कालचक्र मे अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणी नामक दो कलायें हैं।[4] इनमे से प्रत्येक मे जन-कल्याणकारी २४ तीर्थङ्करो का आविर्भाव होता है। वर्तमान अवसर्पिणी कला मे ऋषभ आदि तीर्थंकर हो चुके हैं।

जैनेतर धर्म-ग्रन्थो मे तीर्थंकरो के उल्लेखो द्वारा जैन धर्म की प्राचीनता पर बहुत कुछ प्रकाश पडता है। ऋग्वेद की ऋचा १०।१६६।१ मे आद्य तीर्थंकर ऋषभ तथा १०।१७८।१ मे २२ वें तीर्थंकर अरिष्ट नेमि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। अथर्ववेद

---

(१) पंचास्तिकाय समयसार २, नीतिसार २६-३५, दर्शन पाहुड २७, सूत्र पाहुड १, दीर्घ निकाय वस्तुजातसुत्त १—३२। देखिए— अनेकान्त, वर्ष १२ किरण २ पृ० ७०।

(२) परित्यज्य नृपो राज्य श्रमणो जायते महान्।
तपसा प्राप्य सम्बन्ध तपो हि श्रम उच्यते।। पद्म चरित, रविषेण, ६-२१२

(३) प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, रागेय राघव, पृ० १६७

(४) अवसर्पिणी मे धर्म की अवनति अथा उत्सर्पिणी मे धर्म की उन्नति होती है—
वड्ढतेहि होइ उच्छप्पिणि, ओहट्टतएहि अवसप्पिणि। (मप० २।८।५)

की ऋचा ११।५।२४—२६ तथा गोपथ ब्राह्मण पूर्व २।८ मे स्वयभू काश्यप के वर्णन है जिन्हे ऋषभ मे मिलाने का यत्न किया गया है।[1] यजुर्वेद मे भी ऋषभ को धर्म-प्रवर्तको मे श्रेष्ठ कहा गया है। उसमे अजित (द्वितीय तीर्थंकर), नेमि आदि के निर्देश भी प्राप्त होते हैं।[2]

इस विवेचन से जैन धर्म की प्राचीनता के साथ ही तीर्थङ्करो के प्रभावशाली व्यक्तित्व का भी पता लगता है। इसी कारण अन्य धर्मो के ग्रन्थो मे उन्हे स्मरण किया गया है। भागवत पुराण (५।२८) मे ऋषभ तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत का विस्तृत विवरण है। इसके अतिरिक्त मार्कण्डेय, कूर्म, अग्नि, वायु, ब्रह्माण्ड, वाराह, लिंग, विष्णु, स्कद आदि पुराणो मे ऋषभ के माता-पिता (नाभि-मरुदेवी) तथा उनके द्वारा भरत को हिमवत् प्रदेश के दक्षिण का भाग दिये जाने के उल्लेख प्राप्त होते है। भरत के नाम पर ही उक्त प्रदेश का नाम भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ।[3] पद्म पुराण मे एक छद्मवेश-धारी दिगवर पुरुष द्वारा राजा वेन को उपदेश देने का वर्णन

---

(१) अनेकान्त, अप्रैल १९५२, पृ० १२०-१२१

(२) प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास, पृ० ३११

(३) हिमाह्व दक्षिण वर्ष भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारत वर्ष तस्य नाम्ना महात्मना। मार्कण्डेय पु० ५०।४१
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्र शताग्रज
सो मिषिच्यर्षभ पुत्र भरत पृथिवीपति। कूर्म पु० ४१।३८
ऋषभो मरुदेव्या च ऋषभाद् भरतोऽभवत्
ऋषभोदात्तश्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरि गत।
भरताद् भारत वर्ष भरतात् सुमतिस्त्वभूत्। अग्नि पु० १०।११-१२
हिमाह्वदक्षिण वर्ष भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतवर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधा। वायु० पूर्वार्ध ३३।५२
नाभिमरुदेव्या पुत्रमजनयत् ऋषभनामान तस्य भरत पुत्रश्च तावग्रज तस्य
भरतस्य पिता ऋषभ हेमाद्रेदक्षिण वर्ष महद् भारत नाम शशास। वाराह पु० ७४
हिमाद्रेदक्षिण वर्ष भरताय न्यवेदयत्। लिंग पु० ४७।२३-२४
नाभे पुत्रश्च ऋषभ ऋषभाद् भरतोऽभवत्
तस्य नाम्ना त्विद वर्ष भारत चेति कीर्त्यते। स्कद पु० माहेश्वर खडके कौमार खड ३७।५७।
तथा ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्ध १४।५९-६०,
विष्णु पुराण द्वितीयाश १।२८
महापुराण, जिनसेन भाग १ भूमिका पृ० २८ से उद्धृत।

है ।[1] महाभारत (आदि पर्व) मे एक क्षपणक (जैन-साधु) तथा शान्ति पर्व मे जैन-दर्शन के सप्तभगी नय के उल्लेख हैं ।

ऐतिहासिक प्रमाणो द्वारा भी जैन धर्म की प्राचीनता सिद्ध होती है । ईसा से २४००-२००० वर्ष पूर्व की हड़प्पा मे प्राप्त मूर्तियो के अवयव-सस्थानो के अध्ययन के उपरान्त उन्हे जैन तीर्थङ्कर अथवा ख्याति प्राप्त तपोमहिमायुक्त जैन-सतो की प्रतिमाए होने का अनुमान किया गया है ।[2]

दिल्ली के अशोक-स्तभ (२७५ ई० पू०) मे जैन धर्म के णिग्गठ (निग्रंथ) शब्द का उल्लेख किया गया हैं । इसके अनुसार सम्राट् अशोक ने निग्रंथ-मत के लिये धर्म-महामात्य की नियुक्ति की थी ।[3]

भारत-अभियान के समय सिकदर ने तक्षशिला मे दिगवर जैनोको देखा था । उनमे से कालोनस अथवा कल्याण नामक जैन महात्मा तो फारस तक उसके साथ गये थे ।[4] मेगस्थनीज के विवरण से ज्ञात होता है कि ईसा पू०४ शताब्दी मे बडे-बडे राजा अपने दूतो द्वारा वनो मे निवास करने वाले श्रमण अथवा जैन-मुनियो से अनेक विषयो का ज्ञान प्राप्त करते थे ।[5] मथुरा के ककाली टीले मे लगभग ११० प्राचीन जन-शिला लेख मिले है, जिन्हे कुशानकालीन माना गया है ।[6]

बौद्ध धर्म के महावग्ग, महपरिनिर्वाणसुत्त आदि ग्र थो मे जैन धर्म सबधी अनेक बातें मिलती है । इससे स्पष्ट होता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से पूर्व भारत मे प्रचलित था । बुद्ध के छ महान् विरोधी थे—पूर्ण कश्यप, अजितकेश, गोशाल, कात्यायन, निग्रंथ नातपुत्त और सजय । इनमे निग्रंथ नातपुत, अन्तिम जैन तीर्थंकर महावीर का ही नाम है । कल्प सूत्र, उत्तराध्ययन आदि जैन ग्र थो मे महावीर नातिपुत्र ही कहे गये हैं । नातक क्षत्रियो का एक जाति-विभाग है ।

उपर्युक्त प्रमाण जैन धर्म को भारत का एक अति प्राचीन धर्म सिद्ध करते है । यद्यपि वेदो मे ऋषभ का उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से उनके विषय मे कुछ भी कहना कठिन है । वर्धमान महावीर तो गौतम बुद्ध के समकालीन तथा सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक महापुरुष थे । उनसे भी २५० वर्ष पूर्व २३ वें तीर्थंकर

---

(१) सक्षिप्त पद्म पुराण, गीता प्रेस, गोरख पुर पृ० २६०

(२) अनेकान्त, जनवरी १९५७ मे टी० एन० रामचद्रन का लेख-हड़प्पा और जैन धर्म ।

(३) जैन शासन, सुमेरु चद्र दिवाकर, पृ० २९०

(४) वही ।

(५) जैन गजट, भाग १९ पृ० २१६

(६) जैन शासन, पृ० २९१

पार्श्व नाथ का अभ्युदय हुआ था।[1] इनकी भी ऐतिहासिकता सर्वमान्य है।[2] इस प्रकार जैन धर्म के अस्तित्व को कम से कम महावीर तथा पार्श्व से पूर्व का तो माना ही जा सकता है।

साम्प्रदायिक विकास

जैन धर्म प्राचीन अवश्य है, परन्तु उसके साम्प्रदायिक विकास का ऐतिहासिक विवरण हमें महावीर के निर्वाण के पश्चात् ही प्राप्त होता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल में (महावीर निर्वाण की द्वितीय शताब्दी) मगध में १२ वर्ष का दुर्भिक्ष पड़ा। इससे पीड़ित हो कर मगध के तत्कालीन जैन आचार्य भद्रबाहु अपने अनेक शिष्यों सहित कर्णाट देश चले गये। कहा जाता है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी सिंहासन त्यागकर उनके साथ गये थे।[3] मगध के शेष जैन-मतावलम्बियों के नेता स्थूलभद्र हुए।

कालान्तर में, महावीर की वाणी (द्वादशांग) के लुप्त हो जाने के भय से, आचार्य स्थूलभद्र को उन्हें सुव्यवस्थित करने की आवश्यकता जान पड़ी। इस उद्देश्य से उन्होंने महावीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् (३८७ ई०पू०) पाटलिपुत्र में श्रमण-संघ की एक सभा बुलाई। इस सभा ने तत्कालीन प्रचलित सिद्धान्तों का संकलन ११ अंगों में किया। शेष १२ वें अंग के १४ भागों में से अन्तिम ४ पूर्व ही नष्ट हो चुके थे अतः उपलब्ध अंश को संकलित कर लिया गया। इसे पाटलिपुत्र वाचना कहा गया।

पाटलिपुत्र सभा के पर्याप्त समय बाद जब आचार्य भद्रबाहु मगध लौटे तो उन्हें वहां धार्मिक बातों में बड़ा परिवर्तन दिखाई दिया। वहां का जैन-मंडल दिगंबरी भूषा त्याग कर अब वस्त्र पहनने लगा था। भद्रबाहु को इससे बड़ा क्षोभ हुआ और उनके दिगम्बर सम्प्रदाय ने पाटलिपुत्र-वाचना का मानना अस्वीकार कर दिया। वे पूर्ववत् महावीर के सिद्धान्तों का कठोरता के साथ पालन करते रहे। सम्भवतः उसी समय से जैन धर्म में दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय उठ खड़े हुए।[4]

कुछ समय पश्चात् श्वेताम्बरों का पूर्वोक्त संकलन भी अस्त-व्यस्त हो गया। पुनः महावीर निर्वाण की ९ वीं शताब्दी में आचार्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में एक श्रमण-सभा मथुरा में हुई। इसमें अवशिष्ट सिद्धान्तों को पुनर्व्यवस्थित किया गया।

---

(१) पार्श्वेश तीर्थसन्ताने पञ्चाशद्द्विशताब्दके
तदभ्यन्तरवर्त्यायुर्महावीरोऽत्र जातवान्। महापुराण, जिनसेन ७८।२७६

(२) एन्शेंट इण्डिया, आर० सी० मजुमदार (बनारस, १९५२) पृ० १७६-१७७

(३) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका, भाग १२ पृ० ८६८-८६९

(४) एन्शेंट इण्डिया, आर० सी० मजुमदार, पृ० १८८-१९० तथा हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २४७-२४८

इसे माथुरी-वाचना कहते है। एक अन्य सभा वलभी-काठियावाड मे ईसा की ६ ठी शताब्दी मे आचार्य देवर्धिगणि की अध्यक्षता मे हुई, जिसमे अन्तिम बार ११ अगो का पुनरुद्धार हुआ।

दिगम्बरो की मान्यतानुसार जैन धर्म के समस्त अग महावीर-निर्वाण की कुछ शताब्दियो के भीतर ही नष्ट हो गये थे, अत. उन्होने इन अगो को नही माना।

दिगवर-श्वेताम्बर-यापनोय-सम्प्रदाय—

प्राचीन जैन धर्म मे सम्प्रदायवाद के दर्शन नही होते। वर्धमान महावीर तक तो वह आर्हत धर्म के रूप मे अविच्छिन्न रहा, परन्तु उनके निर्वाण के पश्चात् उसम मुख्यतः दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सम्प्रदाय उठ खडे हुए। इन दोनो सम्प्रदायो के वीच समन्वय तथा सहिष्णुता की प्रवृत्ति को लेकर एक अन्य यापनीय सम्प्रदाय भी कुछ काल तक जैन धर्म के अ तर्गत प्रचलित रहा।

दिगम्बर सम्प्रदाय मे नग्न जैन गुरुओ की पूजा होती है तथा उसके साधु भी नग्न ही रहते हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के साधु श्वेत वस्त्र-धारी तीर्थङ्करो की पूजा करते तथा स्वय श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। सामान्यत दोनो ही सम्प्रदाय २४ तीर्थङ्करो को अपना धर्म-प्रवर्तक मानते हैं। दोनो के मदिरो मे उनकी मूर्तियाँ भी स्थापित हैं, परन्तु उनमे वही वस्त्र-धारण करने का भेद है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन-काल मे मगध जैन धर्म का मुख्य केन्द्र था। हरिषेण (१५ वी शताब्दी) के कथा-कोश के अनुसार, इस समय के दुर्भिक्ष मे, सिंधु देश के साधु वहाँ के श्रावको के अनुरोध से अर्ध-फालक (वस्त्र-खड, धारण करने लगे थे।[१] पश्चात् वलभी के राजा के कथनानुसार उन्होंने पूर्णत वस्त्र-धारण करना प्रारम्भ कर दिया। देवसेन ने वलभी मे ही वि० स० १३६ मे श्वेत पट-सघ की उत्पत्ति वतलाई है। दर्शन सार मे इसका उल्लेख है।[२] इस प्रकार दुर्भिक्ष के कारण ही कुछ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई कि जैन धर्म दिगम्वर तथा श्वेताम्वर सम्प्रदायो मे विभक्त हो गया।

पार्श्वनाथ तथा महावीर के सिद्धान्तो मे कुछ अन्तर मिलता है। श्वेताम्वर साहित्य मे महावीर का धर्म अचेल (वस्त्र-रहित) तथा पार्श्व का अचेल-सचेल वतलाया गया है। पार्श्व स्वय तो नग्न ही रहते थे, परन्तु उन्होंने विशेप परिस्यितियो मे (यथा-

(१) अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ११-१२ पृ० ३२०

(२) छत्तीसे वारिस सए विक्कम रायस्स मरणपत्तस्स
सोरटठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो सघो। दर्शन सार ११
(अनेकान्त, वर्ष १४, किरण ११-१२ पृ० ३२०)

सक्षेप मे, यापनीय मत की स्थिति दिगम्बर-श्वेता० के मध्य मे है। उनका साहित्य स्थूल दृष्टि से दिग० के अधिक निकट होते हुए भी, श्वेताम्बरो की कुछ वातो को निज मे समाविष्ट करता चला है। इस प्रकार साम्प्रदायिक कटुता के परिहार का वहुत कुछ प्रयत्न इस मत मे किया गया है।

महाकवि स्वयभू तथा उनके पुत्र त्रिभुवन भी यापनीय मतानुयायो थे।[1] उन्होने पउम चरिउ की रचना गुणभद्र के उत्तर पुराण के आधार पर न करके, विमल सूरि के पउम चरिय के आदर्श पर की है। इनके अतिरिक्त, भगवती आराधना के कर्त्ता शिवार्य, आराधना की विजयोदया टीका के कर्त्ता अपराजित तथा तत्वार्थ सूत्र-कार उमास्वाति भी यापनीय मत के माने जाते है।[2]

यापनीय मत की लोक प्रियता कर्नाटक तथा उसके निकटवर्ती प्रदेशो मे अधिक थी। कदव वशी राजा श्रीकृष्ण वर्मा (५ वी शता०) के युवराज देव वर्मा [3], राष्ट्रकूट प्रभूत वर्ष [4] तथा अन्य राजाओ के दान-पत्रो से प्रकट होता है कि उन राजाओ ने यापनीय मत के साधुओ को भूमि-दान दिये थे, परतु श्वेताम्वर तथा दिगम्बर की अपेक्षा यह मत अधिक व्यापक नही हुआ। उसका अन्तिम उल्लेख वि० स० १४५१ के एक शिलालेख मे मिलता है, जो कागवाडे के जैन मंदिर के भौंहिरे मे हैं।[5] प्रतीत होता है कि विद्वान प्रचारकों के अभाव मे यह मत शनैः-शनैः क्षीण होता गया, यहाँ तक कि आज उसका एक भी अनुयायी शेष नही है।

भारत मे जन धर्म का प्रसार

भारतीय इतिहास का मध्य-काल, वस्तुतः जैन धर्म के विकास का स्वर्ण-युग है। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो से लेकर लगभग १३ वी शताव्दी तक देश के विभिन्न भागो मे इसका व्यापक प्रसार हुआ। दक्षिण मे राजाश्रय के कारण उसे वडी सहायता मिली। पश्चिम मे भी वही हुआ, परन्तु उत्तर मे प्रमुखत व्यापारी-वर्ग ने ही उसे प्रश्रय दिया।

दक्षिण के अनेक राज-वश या तो स्वय जैन मतानुयायी थे, अथवा वे जैन धर्म पर वडी श्रद्धा रखते थे। पाण्ड्य राजाओ ने तो उसे राज-धर्म के रूप मे स्वीकार कर लिया था। तमिल ग्रन्थ शिलप्पडिकारम् से ज्ञात होता है कि प्राचीन चेर राजा भी

---

(१) महापुराण, भाग १ पृ० ६
(२) जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ५३४, ७३ तथा ५३३
(३) जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ६७४
(४) इण्डियन एटीक्वेरी, जि० १२ पृ० १३-१६
(५) जैन दर्शन, वर्ष ४ अंक ७ मे प्रो० ए० एन० उपाध्ये का लेख-यापनीय संघ

जैन ही थे। चोल राजा भी बीच-बीच मे उसका पोषण करते थे, परन्तु अन्त मे वे शैव हो गये। ईसा की प्रथम शताब्दी के पल्लव राजा भी जैन थे।[1]

कन्नड तथा तमिल भाषाओ का प्राय समस्त प्राचीन साहित्य जैन विद्वानो द्वारा रचा गया है। कन्नड प्रदेश का प्राचीन कदम्ब राज-वश तो निश्चय ही जैन मतावलम्बी था। दिगम्बरो का आदि सिद्धान्त ग्रन्थ षट्खडागम इसी प्रदेश के वनवासि नामक स्थान मे आचार्य-द्वय पुष्पदत-भूतबलि द्वारा रचा गया था। १० वी शताब्दी मे अनेक जैन विद्वान् कन्नड प्रदेश मे हुए, जिनमे पप, पोन्न तथा रन्न अत्यन्त प्रसिद्ध थे। गगराज मारसिंह भी प्रसिद्ध जैन था। ९७६ ई० मे उसने सल्लेखना व्रत धारण करते हुए अपने जीवन का अन्त किया था।[2] उसके मन्त्री चामुण्ड राय ने चामुण्ड पुराण नामक जैन ग्रन्थ रचा और उसी ने मैसूर प्रान्त के श्रवण बेलगोल स्थान पर गोम्मटेश्वर (बाहुबलि) की ५७ फीट ऊँची एक विशाल प्रतिमा का निर्माण ९७८-८४ के बीच कराया था। चालुक्य राज तैलप, यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से शैव था, तो भी उसे जैन धर्म का अनुयायी माना जाता है।[3]

यद्यपि राष्ट्रकूट स्वय जैन न थे, तथापि उन्होने जैन धर्म को विकसित होने के लिए अधिकाधिक सुविधाएँ दी। सम्राट् अमोघ आदिपुराण-रचयिता जिनसेन का परम भक्त था। गुण भद्र ने उत्तर पुराण की प्रशस्ति मे इसका सकेत किया है।[4] शाकटायन ने अपने जैन व्याकरण का नाम—अमोघवृत्ति सम्राट् के नाम पर ही रखा था। धवला तथा जय धवला टीकाएँ भी अमोघ की उपाधि—अतिशय धवल—के उपलक्ष मे नामाकित की गई थी। इसी प्रकार कृष्ण (द्वितीय), इन्द्र (तृतीय) तथा इन्द्र (चतुर्थ) भी जैन मत के प्रति श्रद्धा रखते थे।[5]

राष्ट्रकूटो के अनेक सामन्त भी जैन धर्मानुयायी थे। सौनदत्ति के रट्ट शासक तथा वनवासि के बकेय भी जैन थे। बकेय-पुत्र- लोकादित्य की राजधानी बकापुर उस समय जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र थी। ८९८ ई० मे वहाँ जिनसेन के महापुराण की पूजा हुई थी।[6]

---

(१) अनेकान्त, वर्ष १२, किरण ३ पृ० ७६

(२) दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नोज, भारतीय विद्या भवन, पृ० २८९

(३) वही, पृ० २९०

(४) उत्तर पुराण, भारतीय ज्ञानपीठ, प्रशस्ति ९

(५) जर्नल ऑफ बाम्बे ब्रान ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, भाग १० पृ० १८७। आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९०५-६ पृ० १२१-१२२ तथा इण्डियन एण्टीक्वेरी, भाग २३ पृ० १२४

(६) आदि पुराण—जिनसेन, प्रस्तावना पृ० ४२

देश के पूर्वी प्रदेशो मे भी जैन धर्म की व्यापकता के प्रमाण मिलते हैं। मगध तो जैनो का अत्यन्त प्राचीन क्षेत्र रहा है। महावीर आदि तीर्थङ्करो के जन्म उसी प्रदेश मे हुए थे। यही कारण है कि उस प्रदेश की भर्त्सना वैदिक आचार्यों द्वारा की गई है। याज्ञवल्क्य ने काशी, कोशल, विदेह तथा मगध-वासियो को भ्रष्ट अथवा भिन्न मतावलम्बी कहा है। उधर की यात्रा का भी वर्जन किया है।[1] स्मृति साहित्य मे भी मगध-यात्रा का निषेध किया गया है तथा जाने वाले के लिए उचित प्रायश्चित करने का विधान भी रखा गया है।[2]

बग प्रदेश मे भी जैन सस्कृति के प्राचीन चिह्न मिलते हैं। पुरातन ग्रन्थो मे ताम्रलिप्ति (वर्तमान मेदिनीपुर का तामलुक), कोटिवर्ष (दीनाजपुर का बाणगढ) तथा पुण्ड्रवर्धन (बोगडा का महास्थान) मे जैन-सघो के उल्लेख प्राप्त होते हैं।[3] बगाल के सप्तशती ब्राह्मण तथा पुण्ड्र जाति के लोग प्राचीन समय से जैन थे। जैन धर्म के २४ मे से २२ तीर्थंकरो ने मगध तथा बगाल मे निर्वाण-लाभ किया।

भारत के पश्चिमी तथा मध्यवर्ती प्रदेशो मे भी जैन धर्म अत्यन्त व्यापक हुआ। गुजरात के गुर्जर-सोलकी नरेश जैन धर्म के अनन्य पोषक रहे है। सौराष्ट्र का गिरिनगर एक प्राचीन जैन-तीर्थ रहा है।

राजस्थान मे जैन धर्म की प्रसिद्धि के प्रमाण वहाँ के शास्त्र-भडार तथा प्राचीन मन्दिर हैं। जैसलमेर, आमेर आदि के शास्त्र-भडारो मे सहस्रो जैन ग्रन्थ प्राप्त हुए हैं। जैनो का सबसे प्राचीन शिलालेख, जो स० ८४ का है, राजस्थान के वडाली नामक स्थान मे प्राप्त हुआ है।[4] सागानेर का सगही मन्दिर अपनी कला के लिए प्रसिद्ध हैं। आबू के जैन मन्दिर तो सबसे बढकर हैं।

बुन्देलखण्ड मे चन्देल-राजाओ के समय जैनो को पर्याप्त प्रश्रय मिला। खजुराहो के जैन मन्दिरो की ख्याति देश भर मे है। वहाँ के एक शिलालेख (९५५ ई०) द्वारा ज्ञात होना है कि चन्देल नरेश धग द्वारा सम्मानित पाहिल नामक धर्मात्मा ने जिन-मन्दिर के लिए अनेक दान दिए।[5] धारा नरेश मुज भी जैन विद्वानो का आदर करता था। सुभाषित रत्नसदोह के कर्त्ता अमित गति (स० १०५०) उसी के दरबार मे थे।

---

(१) दि ग्लोरीज ऑफ मगध, जे० एन० समद्दर, पृ० ६

(२) अग वग कलिगेषु सौराष्ट्रे मगधेषु च
तीर्थयात्रा विना गच्छन् पुःसस्कारमर्हति। (अनेकान्त, वर्ष १२ किरण २ पृ० ४६)

(३) अनेकान्त, वर्ष १२ किरण २ पृ० ४५

(४) अनेकान्त, वर्ष १२ किरण ५ पृ० १५५

(५) एपिग्राफिका इडिका, १।१३५—३६

कान्यकुब्ज के प्रतिहार राजाओ द्वारा भी जैन-मत को सहायता प्राप्त हुई। वत्सराज ने कन्नौज मे एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया, जिसमे वर्धमान की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित की गई थी। उसने ग्वालियर, मथुरा आदि स्थानो मे भी मन्दिर बनवाये। उसका पुत्र नागभट्ट (द्वितीय) तो स्वय जैन हो गया था।[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि अनुकूल परिस्थितियो के अनुसार जैन धर्म देश के प्राय समस्त भागो मे फैला। समाज मे जैन-मत के प्रति आदर तथा श्रद्धा का जो भाव उत्पन्न हुआ, उसका मुख्य कारण जैन मुनियो का सदाचारपूर्ण आदर्श जीवन था। उनसे आकृष्ट होकर एक ओर व्यापारी वर्ग प्रचुर धन-राशि मठो-मन्दिरो के निर्माण मे लगा देता था, दूसरी ओर राज-वर्ग जैन-विद्वानो को आश्रय तथा अन्य प्रकार की सहायता देता था।

कवि के काव्य मे जैन दर्शन और सिद्धान्त

गत पृष्ठो मे भारत मे जैन धर्म के प्रसार की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उससे स्पष्ट होता है कि हमारे कवि को जैन-साहित्य की रचना करने मे कितना अनुकूल वातावरण प्राप्त हुआ होगा।

पुष्पदन्त की काव्य-रचना का प्रधान उद्देश्य जिन-भक्ति का प्रचार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति-हेतु कवि ने स्थल-स्थल पर मुख्य कथानक को विराम देकर जैन-सिद्धान्तो की व्याख्या की है। इन सिद्धान्तो का विवेचन इतना विस्तृत है कि वह स्वय किसी पृथक् ग्रन्थ का विषय बन सकता है। किन्तु प्रस्तुत निबन्ध की सीमाओ के अन्तर्गत रहते हुए, हम कवि के उन विचारो की सामान्य रूपरेखा उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे।

पदार्थ—ससार मे प्रत्येक पदार्थ के दो रूप होते हैं—शाश्वत तथा अशाश्वत। प्रथम के कारण वह नित्य और द्वितीय के कारण वह अनित्य प्रतीत होता है। इसी आधार पर पदार्थ की तीन मूल विशेषताएँ-उत्पाद व्यय ध्रौव्य-मानी गई है। इनमे स्थूल दृष्टि से भिन्नता भले ही प्रतीत हो, किन्तु पारस्परिक सहयोग के अनुसार इनमे अन्तर नही है।

इस प्रकार पदार्थ एक दूसरे से सबधित है। किसी पदार्थ विशेष की सत्ता तबतक नही मानी जा सकती, जब तक कि उसके अन्य सबधो के ज्ञान का अनुभव न किया जाय। इसीलिये जब मानव का ध्यान किया जाता है, तब मानवेतर सृष्टि का भी स्मरण आ जाता है। पुण्य का विचार करते ही पाप की ओर भी दृष्टि जाना स्वाभाविक है। भगवान महावीर ने इसी कारण कहा है कि जो व्यक्ति किसी वस्तु की समस्त विशेषताएँ जानता है, वह सब वस्तुओ को जानता है। जो सब वस्तुओ को जानता है, उसे केवल एक ही वस्तु का ज्ञान है —

(१) दि एज आफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २८९

जे एगं जाणइ से सव्व जाणइ।

जे सव्व जाणइ से एग जाणइ। आचाराग सूत्र, १।३।४।१२२

पदार्थों की एक रूपता के कारण प्रत्येक प्राणी अपनी शक्ति के अनुसार उनका अनुभव करता है, अत एक ही पदार्थ के विषय मे भिन्न-भिन्न मत हो जाते है। इस स्थिति मे सत्य का अन्वेषण कठिन हो जाता है, इसलिये जैन दर्शन ने वास्तविकता को समझने के लिये एक मध्यम-मार्गी सिद्धान्त उपस्थित किया है, जिसके द्वारा किसी भी पदार्थ के विषय मे भ्रमात्मक कारणो का परिहार हो जाता है। इसे सप्तभगी नय अथवा स्याद्वाद कहते हैं। यही जैन-दर्शन का मेरुदण्ड है।

अनिर्वचनीयता स्याद्वाद का एक विकल्प है। वस्तु किसी दृष्टि से एक प्रकार की होती है तथा किसी दृष्टि से दूसरे प्रकार की, अत उसके शेष अनेक धर्मों को गौण बनाते हुए, गुण विशेष को प्रमुख बना कर प्रतिपादन करना स्याद्वाद है। स्याद्वाद के सात रूप इस प्रकार होते हैं—[1]

१—स्यात् अस्ति—कथचित् है।

२—स्यान्नास्ति—कथंचित् नही है।

३—स्यादस्ति च नास्तिच—कथचित् है और कथचित् नही है।

४—स्यात् अवक्तव्यम्—कथचित् वर्णनातीत है।

५—स्यादस्ति च अवक्तव्यम् च—कथचित् है और अवक्तव्य भी है। (१।४)

६—स्यान्नास्ति च अवक्तव्यम् च—कथचित् नही है और अवक्तव्य भी है। (२।४)

७—स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यम् च—कथचित् है, नही भी है और अवक्तव्य भी है। (३।४)

इन सातो भगो द्वारा प्रत्येक पदार्थ की अनेकान्तिकता सिद्ध होती है। पुष्पदत ने महापुराण[1] तथा णाय०[2] मे इसका उल्लेख किया है।

तत्व मीमांसा

गुण तथा पर्याय से विशिष्ट वस्तु को द्रव्य कहते है।[3] गुण दृष्टि से द्रव्य नित्य होता है और पर्याय दृष्टि से अनित्य। विस्तार की दृष्टि से द्रव्य एकदेशव्यापी तथा बहुदेशव्यापी—दो प्रकार के होते हैं। प्रथम मे काल की गणना होती है। द्वितीय

---

(१) णय सत्तभगिविहिरसणियउ। मपु० ३।२।७

(२) चउदह पुव्विल्ल दुवाल सगि
जिण वयण विणिगय सत्तभ गि। णाय० १।१।६

(३) गुण पर्यायवद् द्रव्यम्। तत्वार्थ सूत्र ५।३७

कोटि मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा आकाश द्रव्य हैं। सत्ता तथा प्रदेशों के कारण द्वितीय कोटि के द्रव्य अस्तिकाय कहलाते है।[1]

सब द्रव्यो की अवस्था परिवर्तन करने मे काल उदासीन निमित्त होता है। जीव आत्मा का पर्याय है। प्रत्यक्ष होने पर भी अनुभव से जाना जा सकता है। शरीर उसका बंदीगृह है। प्रत्येक जीव अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन आदि गुणो से पूर्ण माना जाता है, परन्तु कर्मों के आवरण के कारण उसके इन गुणो का विकास नही हो पाता। कवि ने जीव के ससारी और मुक्त दो भेद बतलाए हैं।[2] जीव का शरीर से संबंध अवश्य है, परन्तु दोनो ही भिन्न है। जैसे तेल मे चंपक पुष्प को डालने से उसकी सुगंध पृथक् हो जाती है, परन्तु पुष्प बना रहता है, वैसे ही देह से आत्मा भिन्न हो जाता है।[3]

रूप, रस, गन्ध तथा स्पर्श गुणो से युक्त चेतना-रहित मूर्त पदार्थ पुदगल कहलाता है। इसके अणु और स्कन्ध दो भेद होते हैं। अस्तिकाय द्रव्यो को अवकाश देने वाला पदार्थ आकाश है। जीव तथा पुद्गल की गति मे सहायता देने वाला द्रव्य धर्म है। यह जीव को गति प्रदान करने मे स्वयं असमर्थ है, केवल उसको सहायता देता है। जिस द्रव्य मे स्थिति हेतुत्व गुण हो उसे अधर्म कहते हैं। इसके अभाव मे जीवो मे निरन्तर गति बनी रहती है।

कर्म सिद्धान्त

मनुष्य के आत्म-विकास मे जिस शक्ति के कारण बाधा उपस्थित होती है, उसे कर्म कहते हैं। प्रत्येक आत्मा अनंत ज्ञान, सुख, वीर्यादि शक्तियो का आधार है, परन्तु अनादि काल से उसके साथ कर्म-मल लिप्त रहता है। इसी कारण उसकी स्वाभाविक शक्तियां विकसित नही हो पाती। दूसरे शब्दो मे पुद्गल का परमाणु-पुंज आकर्षित होकर आत्मा के साथ मिल जाता है, यही कर्म है।

कर्म का आत्मा से सम्पर्क होने से जो अवस्था उत्पन्न होती है, वह बंध है। राग-द्वेष से युक्त मनुष्य का आत्मा पुद्गल-पुंज को अपनी ओर आकर्षित करता है। कवि का कथन है कि शंभु तथा ब्रह्मा भी कर्म मे लिप्त रहते है। संसार मे कर्म विपाक अति बलवान है। जिस प्रकार चुम्बक लोह को अपनी

---

(१) णाय० ५।१२।२ तथा मपु० ८६।७।१-२ द्रष्टव्य—आउट लाइन आफ जैन फिलासफी, मोहन लाल मेहता, (जैन मिशन सोसायटी, बंगलोर, १९५८) पृ० २७-२८

(२) ससारिय जीव दुभेय होंति। मपु० ७०।९।३

(३) चंपयवासु वि रंगउ तेल्लहो, तं गउ जिह भिण्णउ फुल्लहो।
तिह देहहो जीवहो भिण्णत्तु। जस० ३।३१।१५-१६

ओर खींचता है, उसी प्रकार कर्म-युक्त जीव अनेक पर्यायो की ओर जाते हैं।[१] पचेन्द्रिय सुखो के कारण असख्य कर्मों का आश्रव होता है।[२]

कर्मों के मुख्य आठ भेद होते है--ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय, अंतराय, वेदनीय, आयु, नाम तथा गोत्र। कवि ने इनके भी अनेक विभेदो का वर्णन किया है।[३] आत्मा का बध करने वाले इन कर्मों के आश्रव को अवरुद्ध करने के हेतु साधक को सवर की आवश्यकता होती है। कवि कहता है कि जो सवर का आचरण नही करते, वे पापो से भर जाते हैं और उनके ऊपर वज्र के समान दु.खो का असह्य अशनिपात होता है।[४] सवर द्वारा आश्रव के समस्त द्वारो का निरोध होकर, नवीन कर्मा का प्रवेश रुक जाता है और पुराने कर्म क्रमश क्षीण होते चले जाते हैं, यही निर्जरा है।[५] कर्मों का पूर्ण क्षय ही मोक्ष है। मोहनीय कर्मों के नाश होने पर केवल ज्ञान उत्पन्न होता है। कवि का कथन है कि तप की ज्वाला से जीव कचन के समान उज्ज्वल हो जाता है और केवल ज्ञान की स्थिति मे पहुँच कर उसके समस्त मल छूट जाते हैं।[६]

जैन-दर्शन के अनुसार आत्म-विकास की १४ अवस्थाए होती हैं, जिनके द्वारा आत्मा शनैं-शनैं. कर्म-बधन से मुक्त होता हुआ, अत मे पूर्ण निर्मल हो जाता है। इन्हे गुणस्थान कहते है। इनकी प्रत्येक अवस्था मे पाप-वृत्ति का क्षय तथा पुण्य-वृत्ति का उत्तरोत्तर विकास होता जाता है। कवि ने इनका सविस्तार वर्णन किया है।[७]

आचार मीमांसा

जैन-मत मे आचार को अत्यधिक महत्व दिया गया है। जैनाचार्य जहाँ एक ओर मानव जीवन की नश्वरता, ससार को क्षणभगुरता तथा जीव द्वारा किये गये पापो का फल भोगने के लिये नरक आदि की विभीषिका का उल्लेख करते हैं, वहाँ वे मनुष्यो को इनके कष्टो से बचने के लिये धर्म-सम्मत सदाचार के पथ पर चलने का उपदेश भी देते हैं।

---

(१) सभुवि वभुवि कम्मायत्तउ, कम्म विवाउ लोइ बलवंतउ।
लोहु व कढ्ढएण कढ्ढिज्जइ, जीउ सकम्मि चउगइ णिज्जइ। जस० ३।२२।११-१२

(२) पचिंदिय सुहि मणु चोयतहु, तहु आसवइ कम्मु अतवतहु। मपु० ७।१३।३

(३) मपु० ७।१३ तथा ११।३०-३२

(४) मपु० ७।१४।१-२

(५) मपु० ७।१४।१२-१३

(६) ढोइय णीसासहिं मुणि तणु मूसहिं खर तव जलणें तत्तउ।
जीविउ हेमुज्जलु थक्कइ केवलु वहु कम्ममलें चत्तउ॥ मपु० ७।१५।११-१२

(७) मपु० ११।२६।६-१५

जीव को मोक्ष प्राप्त करने के हेतु तीन मुख्य साधनो का आश्रय लेना आवश्यक है। ये हैं—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र। कवि ने अनेक स्थलो पर इनका उल्लेख किया है।[1] जिस गुण के विकास से सत्य की प्रतीति होती है, वह सम्यक् दर्शन है। नय तथा प्रमाण से जीवादि तत्वो का बोध सम्यक् ज्ञान है, एव सम्यक् ज्ञान पूर्वक काषायिक भाव या राग-द्वेष की निवृत्ति से जो स्वरूप प्राप्त होता है, वही सम्यक् चारित्र है। इनमे से सम्यक् दर्शन को उत्कृष्ट मान कर उसे कर्णधार कहा गया है।[2] सम्यग्दर्शन सपन्न व्यक्ति चाडाल-पुत्र होने पर भी देव तुल्य है।[3] कवि ने गुरु-सेवा तथा शास्त्राभ्यास द्वारा अन्य मतो की मूर्खता का बोध करके सम्यग्दर्शन की दृढ़ता प्राप्त करने का उल्लेख किया है।[4] जैसे सैन्य-विहीन नृप के रथ पर लगी हुई ध्वजा निरर्थक होती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना दुर्धर तपश्चरण भी निरर्थक होता है।[5]

सम्यग्दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् ही सम्यक् चारित्र की आराधना सभव है। इसके सकल-विकल दो भेद है। गृह-त्यागी मुनियो का चारित्र सकल है और परिग्रही गृहस्थो का विकल। सकल चारित्रानुगामी मुनि पच महाव्रत (अहिसा, अस्तेय, सत्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह) का पालन करते हैं तथा विकल चारित्र वाले गृहस्थ अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रत का। कवि ने इनका अनेक स्थलो पर विवेचन किया है।[6]

जैन-धर्म मे तपस्वी मुनि के लिये अत्यन्त कठोर साधनाओ का विधान है। कवि उनका विवेचन करता हुआ कहता है कि साधु ज्ञान-अकुश द्वारा कुपथगामी होने से बचता है। मन को वश मे करके पाप का नाश कर सकता है।

उसका कर्त्तव्य है कि एक-दो ग्राम आहार लेकर, चाद्रायण व्रत-साधना करते हुए विचरण करे। शून्य आवास, श्मशान आदि ही उसके आगार हैं। मशक-दशन, क्षुधा तृष्णा, शोक, अप्रिय वचन, शीत-उष्ण आदि की ओर ध्यान न देते हुए वह सत्पथ पर अग्रसर हो। उसे तृण-कचन समवत् समझना चाहिए। इस प्रकार उसे अपने सचित कर्मो को क्षीण करना चाहिए।[7]

---

(१) मपु० १८।१०।३, ८१।७।६, ९२।१७।१०, णाय० १।१२।४, जस० ३।१७।७
(२) समीचीन धर्म-शास्त्र, समन्त भद्र (सपादक-जुगल किशोर मुख्तार) १।३१
(३) वही, १।२८
(४) जस० ४।८।९-१६
(५) जस० ४।९।१-२
(६) मपु० १८।७, ६।४।७, णाय० १।१२।३
(७) मपु० ७।१६

कवि ने अपनी रचनाओ मे मुनियो के व्यक्तित्व के, बडी निष्ठा के साथ, चित्रण किये हैं।[1]

विकल अथवा सागार धर्म अपेक्षाकृत सरल है। कवि ने अणुव्रत के अतिरिक्त रात्रि-भोजन, मधु, मदिरा, मास तथा पञ्चुम्बर फलो (वट, पीपल पर्कर, उदुम्बर, काकोदुम्बर) का त्याग भी आवश्यक बतलाया है। श्रावक (गृहस्थ) को दश-दिशा प्रमाण, भोगोपभोग की सख्या का निश्चय, कुशास्त्र-श्रवण-वर्जन, वर्षा-काल मे गमन-निषेध तथा जीव-घातक आजोविका का त्याग करना चाहिए। उसे अष्टमी और चतुर्दशी के दिन स्त्री से पृथक् हो कर उपवास पूर्वक एकान्तवास करना तथा नीरस आहार लेना चाहिए।[2] अन्यत्र कवि कहता है कि श्रावक को कुगुरु, कुदेव एव कुधर्म से विमुख होकर अन्त समय मे सल्लेखना द्वारा शरीर त्याग करना चाहिए।[3] श्रावक व्रत का पालन करके कोई भी मनुष्य अच्युत स्वर्ग प्राप्त कर सकता है[4]।

नश्वर जगत्

जैन धर्म ने मानव को मोह से दूर रखने के हेतु, उसे शरीर तथा ससार की नश्वरता का बोध कराने का बारम्बार प्रयास किया है। हमारा कवि मानव-शरीर को दुख की गठरी कहता है। उसका कथन है कि लावण्य क्षण मे विनष्ट हो जाता है। यौवन करतल-जल की भाँति गमनशील है। नारी का सौदय भी अस्थायी है। मृत होने पर उसे तृण पर ही रखा जाता हैं।[5] एक स्थान पर वृद्धावस्था का आलकारिक वर्णन करते हुए कवि कहता है कि शुभ्र केश मानो दुष्ट काल-अग्नि द्वारा जलाये हुए हुए तारुण्य-वन की भस्म हैं।[6]

ससार के विषय मे कवि कहता है कि यहाँ परमाणु मात्र भी सुख नही है।[7] यहाँ की सभी सुखद दिखाई देने वाली वस्तुएँ वस्तुत दुख देने वाली है।[8] समस्त ससार नाशवान ही दिखाई देता है।[9] अत इसे तृणवत् ही मानना चाहिए।[10]

---

(१) जस० ३।१७।५ १६ तथा णाय० ६।४।४-६
(२) जस० ३।३०-३१
(३) अन्तकालि सल्लेहणमरणि, अवसु मरेव्वउ णिज्जियकरणि। जस० ३।३१।१२
(४ सावयवयहलेण सोलहमउ सग्गु लहइ माणुसु दुहविरमउ। मपु० ११।१०।५
(५) मपु ८।११।१०-११
(६) तारुण्णि रण्णि दड्ढि खलेण, उग्गि लग्गि कालाणलेण। जस० १।२८।१
(७) परमाणुय परमाणु ण पेक्खमि, ससारियहु मोक्खु कि अक्खमि। मपु० ७।१२।१०
(८) मपु० ६।१५।४
(९) णासणसीलु सव्वु जगु पेच्छिवि। मपु० ६२।७।४
(१०) तणसमाणु मेइणियलु मण्णिवि। मपु० १००।१।६

जिन-भक्ति

जिन-भक्ति जैन धर्म का महत्वपूर्ण अङ्ग है। वीतरागी सिद्ध महात्माओं के गुणों पर श्रद्धापूर्वक अनुराग रखते हुए, आत्म-विकास करना ही जिन-भक्ति है। इन सिद्धात्माओं को तीर्थङ्कर, आप्त, स्वयम्भू, अर्हत, जिन आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया जाता है। भावना द्वारा कर्म-मल को नष्ट कर डालने के कारण उन्हें जिन कहा जाता है।

जिन भक्ति में शुद्धात्मवृत्ति का उदय होता है। परन्तु वीतरागी जिनदेव को उनके प्रति की गई स्तुति, पूजा, वन्दना आदि से कोई प्रयोजन नहीं होता, क्योंकि राग का लेशमात्र भी उनमें नहीं हैं। न तो पूजादि से उनमें किसी नवीन हर्ष का सञ्चार होता है और न निन्दा से वे अप्रसन्न ही होते हैं। फिर भी उनके पुण्य-गुणों का स्मरण चित्त को पाप-मल से अवश्य पवित्र करता है।[1]

आत्मोन्नति ही जिन-भक्ति का प्रधान उद्देश्य है। समन्तभद्र का कथन है कि स्तुति के समय तथा स्थान पर स्तुत्य चाहे उपस्थित हो अथवा न हो एवं फल-प्राप्ति भी चाहे सीधी उसके द्वारा होती हो अथवा न होती हो, परन्तु आत्म-साधना में तत्पर साधु स्तोता की भक्ति कुशल परिणाम का कारण अवश्य होता है। पुष्पदंत ने भी जिन को स्तुति-निन्दा से दूर रहने वाला कहा है।[3]

स्तुति द्वारा गुणों का स्मरण किया जाता है। जिन के गुण स्मरण से पाप स्वयं दूर भागते हैं तथा उसके परिणाम-स्वरूप आत्मा में पवित्रता का संचार होता है। निरन्तर इसी भक्ति-भावना का अवलम्बन करता हुआ, भक्त एक दिन स्वयं उस पद को प्राप्त कर लेता है। यद्यपि इस कार्य में जिन की कोई इच्छा नहीं होती, परन्तु निमित्त कारण होने से ही उन्हें प्रदाता कहा जाता है।

जिन —जैन धर्म के पूज्य पुरुषों में जिन का सर्वोच्च स्थान माना जाता है। यद्यपि वेद-उपनिषदों के समान, उन्हें जगत्-स्रष्टा के रूप में नहीं माना जाता, परन्तु उन्होंने साधना द्वारा कर्म-मल तथा कषायों को नष्ट करके अनन्त शक्ति, अनन्त ज्ञान

---

(१) न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः।
स्वयम्भू स्तोत्र ५७

(२) स्तुतिः स्तोतुः साधोः कुशलपरिणामाय स तदा
भवेन्मा वा स्तुत्यः फलमपि ततस्तस्य च सतः।
किमेवं स्वाधीन्याज्जगति सुलभे श्रायसपथे
स्तुयान्न त्वा विद्वान्सततमभिपूज्य नमिजिनम्॥, स्वयम्भू स्तोत्र, १६

(३) नहि ममा ममाय। नप० ४०।२।१३

तथा अनन्त शान्ति से पूर्ण आत्मत्व को प्राप्त करने के कारण, जैन-भक्तो ने जिन के लिए उन सभी विशेषणो का प्रयोग किया है, जो वेद-पुराणादि मे सामान्यतः ईश्वर के लिए प्रयुक्त होते हैं।

जिन उच्च राज-कुल (इक्ष्वाकु, हरिवंश आदि) मे जन्म लेते हैं। तीर्थङ्कर होने के तीसरे पूर्व भव मे वे तीर्थङ्कर नाम-कर्म प्राप्त करके, दूसरे भव मे देव-आयु पूर्ण करते हैं, तत्पश्चात् मनुष्य-जन्म लेते हैं। इसी भव मे वे तीर्थङ्कर पद-लाभ करते हैं। अपने जीवन के प्रारम्भिक दिनो मे राज-भोग करते हैं, परन्तु संसार की नश्वरता का बोध होते ही क्षण मात्र मे समस्त सुखो को त्याग कर मुनि-दीक्षा ले लेते हैं। कठोर तप-साधना के उपरान्त उन्हे केवल ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस अवसर पर इन्द्रादि देवता उनकी स्तुति करते हैं तथा उनका पवित्र उपदेश श्रवण करने के लिये समवसरण का निर्माण करते हैं। इसी समय उनमे अष्ट-प्रातिहार्य[1] की विभूति उदय होती है। अन्त मे अपनी आयु पूर्ण करके वे निर्वाण प्राप्त करते हैं।

पुष्पदत का काव्य जिनेन्द्र-भक्ति से पूर्ण प्लावित है। उसमे भक्ति के प्राय. सभी अगो का स्वरूप प्राप्त होता है। कवि ने ऋषभ-जन्म के अवसर पर इन्द्रादि देवो द्वारा की गई पूजा का अत्यन्त भव्य वर्णन किया है।[2] उनके समस्त काव्य मे स्तुतियो की सख्या बहुत अधिक है। इनमे जिन के अनेक गुणो का स्मरण किया गया है। यद्यपि गुण-कीर्तन मे प्रयुक्त हुए विशेषणो की सख्या अत्यधिक है, तो भी निम्नलिखित वर्गों के अतर्गत उनका स्वरूप देखा जा सकता है—

कर्म-कलक तथा दोषो पर विजय के सूचक—

जरा-मरण नष्ट करने वाले (मपु० २।८।४-५)
कषाय-रोग-शोक वर्जन करने वाले (मपु० ३८।१६।२)
जिन-दृष्टि मे नारी-रूप नही रमता (मपु०४६।११६) आदि

लोक-हित-सूचक—

अनिमित्त जग-मित्र (मपु० ४२।१०।८)
शात कल्याण-आलय (मपु० ५३।११३)
सर्व भूत-पालक (मपु० ४५।११६) आदि

ज्ञानादि गुणोत्कर्ष व्यजक—

शुभ शील-गुण-निवास (मपु० ११।५)
मोक्ष-मार्ग-प्रदायक (मपु० ८८।१६।८) आदि

---

(१) आठ प्रातिहार्य ये हैं—भामण्डल, सिंहासन, अशोकवृक्ष, पुष्प-वृष्टि, मनोहर दिव्य-ध्वनि, श्वेत छत्र, चमर तथा दुदुभि-निनाद, स्तुति विद्या, ६

(२) मपु० ३।१४।१-१०

अन्य गुणों के परिचायक--

अहिंसा के निवास तथा स्वभाव से सौम्य (मपु० २७।१४।४)

चिंतामणि-कल्पवृक्ष के समान (मपु० १६।८।४)

कुनय को विनष्ट करने वाले (मपु० ५३।१।४) आदि

अपने आराध्य की सर्वश्रेष्ठता का भाव सदैव ध्यान मे रखना, सच्ची भक्ति की आवश्यक भूमिका है। कवि ने जिन को भी सभी दृष्टियो से श्रेष्ठ माना है। उसका कथन है कि गगन-मण्डल तथा जिन के गुणो का कोई पार नहो है।[1] जहाँ शेष अपनी सहस्र जिह्वाओ मे गुणगान करते है, वहाँ कवि अपनी एक जिह्वा से उन्ही गुणो का वर्णन कैसे कर सकता है?[2] यह प्रयत्न तो जलनिधि को चुल्लू द्वारा नापने जैसा है।[3] कवि ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओ से जिन की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है।[4] जिस प्रकार तुलसी विनय पत्रिका मे कहते है कि—'राम सौं बडो है कौन मो सो कौन छोटो'—उसी प्रकार पुष्पदत भी जिन से बडा किसी को भी नही मानते।[5]

अपनी आन्तरिक चित्तवृत्ति को जिन के प्रति लगाये रहने के उद्देश्य से, कवि मन को उद्बोधित करता है।[6] साथ ही वह शरीर के समस्त अगो की सार्थकता तभी मानता है, जब वे श्रद्धा के साथ जिन के प्रति लगे रहे। वह कहता है कि नेत्र वही है जो जिन का दर्शन करें, कण्ठ वही है जो केवल जिन-स्तुति गावे। वे कान धन्य है, जो केवल जिन-वाणी सुनते है तथा कर वही है जो जिन-सेवा करते है। इसी प्रसग मे आगे कवि कहता है कि ज्ञानी वही है जो जिन का ही ध्यान करे, सुकवि वही है जो जिन-स्तुति करे, काव्य वही है जो जिन के विषय मे हो, जिह्वा वही है जो अहर्निश जिन का नाम ले, मन वही है जो जिन-चरणो मे लीन रहे, धन वही है जो जिन की पूजा मे व्यय हो तथा शीश वही है जो जिन के सम्मुख प्रणम्य हो।[7] पवित्र जीवन का इससे बढकर आदर्श और क्या हो सकता है?

जगत् के पतभना तथा चराचर प्राणियो के ऊपर जिन का आधिपत्य घोषित करते हुए कवि कहता है कि जिन जहाँ-जहाँ विचरण करते है, वहाँ वहाँ दुख-

(१) गयणयलहु अवरुवि तुह गुणाह पारु कोवि कि पेच्छइ। मपु० ४१।१४।११

(२) मपु० ४१।।१७-१८

(३) मपु० ३।१८।१२ १३

(४) मपु० १०।५।१-१३

(५) मपु० ४१।२

(६) मपु० ७।१८।१६

(७) मपु० १०।८।७- ८

तरगिणी प्रवाहित होने लगती है तथा मार्ग के कटक, तृण, पत्थर, धूलादि बाधाएँ स्वमेव नष्ट हो जाती हैं।[1] जिन का नाम स्मरण करने से सर्प भी नहीं काटते मत्त गज नष्ट हो जाते हैं, सिह ठहर जाते हैं पद-शृखलाएँ टूट जाती हैं, अग्नि नही जलाती तथा अजेय सेना भी प्रभाव-हीन हो जाती है।[2] जिन के दर्शनमात्र से सचित मल नष्ट हो जाते हैं, कुदृष्टि के स्थान पर सन्मति उत्पन्न होती है, उपशम सम्पन्न होता है एव परापर भेद समाप्त हो जाता है।[3]

कवि ने जिन भक्ति द्वारा पशुओ को भी सुरेन्द्र-पद सुलभ होना कहा है। परन्तु उनसे विमुख होने पर जीव आवागमन के बधन मे पडा रहता है और दुखी होता है।[4] अत. समस्त दु खो के शमन-हेतु जिन-शासन मे भक्ति करना आवश्यक है।[5]

कवि ने जिन के स्वरूप का अत्यत उदात्त वर्णन किया है। न उनके शरीर पर आभूषण है, न समीप नारी है। न कर मे चाप है, न चक्र है, न खड्ग है, न शूल है, न कृपाण है। आप अहिंसा के निवास तथा स्वभाव से सौम्य हैं। उनमे न दभ है, न डभ है, न वित्त है और न लोभ ही है। आप की दृष्टि मे राजा-रक सब समान हैं। आपको न छत्र चाहिए न सिहासन। आप सदैव गर्व-रहित और उदासीन हैं।[6]

कवि के ग्र थो के प्राय सभी सत्पात्र जिन भक्त हैं अथवा अपने जीवन के किसी न किसी अवसर पर जिन-भक्ति का प्रदर्शन अवश्य करते हैं। राम, सुग्रीव, हनुमान आदि सभी जिन-पूजक हैं।[7]

भरत मत्री के आवास पर रहते हुए काव्य-रचना करने वाले कवि पुष्पदत का वास्तविक जीवन भले ही तुलसी, सूर, मीरा आदि भक्तो के सदृश न हो, परन्तु अपने आराध्य जिन, तथा उनके धर्म के प्रति उनमे अटूट श्रद्धा तथा विश्वास है, इससे इनकार नही किया जा सकता। कवि स्वय धर्म-प्राण है और उसके कथन का एक-एक शब्द सद्धर्म का सदेश देता है। कही-कही हमारा भावुक कवि भक्ति-सरिता मे

(१) मपु० १०।२।१६-१७
(२) मपु० १६।८।७-१२ तथा ३३।११
(३) मपु० ३२।१५।७-१०
(४ मपु ३७।१२।७-१० तथा १०।१।६
(५) मपु० ७।८।२
(६) मपु ६७।२४।१-६
(७) मपु० ७०।१३।७-८, ७६।१०।१२,७३।८

अवगाहन करते-करते इतना विभोर हो जाता है, कि ससार के प्रपच को त्याग कर ऐसे स्थान पर जाने की कामना करता है, जहाँ न नीद हो, न भूख हो, न भोग-रति हो, न शरीर सुख हो और न नारी दर्शन हो।[१] कवि, निर्वाण-भूमि-वर रमणी-शिर-चूडामणि अर्थात् जिन की भक्ति का अभिलाषी है।[२] क्योकि उसका विश्वास है कि जिन-गुण-चिंतन मे चाण्डाल भी मुक्ति पा जाते है।[३] कवि अपनी जीवन-लीला की समाप्ति ऋषि-चरण-मूल सल्लेखनाव्रत के पवित्र विधान का आचरण करते हुए समाधि-मरण द्वारा करना चाहता है। इस प्रकार कवि के जीवन तथा मृत्यु के दोनो छोर धर्म-मत्र मे बधे हुए है।

अहिंसा

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। जैनचार्यों ने पूर्ण अहिंसक परुष को परब्रह्म परमात्मा की सज्ञा दी है।[४] कषाय तथा प्रमाद के निमित्त से किसी के प्राणो का घात करना हिंसा है।[५] परन्तु मन मे किसी के घात का विचारमात्र आना भी जैन-मत मे हिंसा माना जाता है। इसीलिए हिंसा के भाव तथा द्रव्य-दो भेद किये गये हैं। पुष्पदत के जसहर चरिउ मे महाराज यशोधर द्वारा जीवित कुक्कुट के स्थान पर आटे के कुक्कुट की वलि देने के कारण भाव-हिसा उत्पन्न हुई, अत मरणोपरान्त उन्हे नरक-यातना भोगनी पडी।[६]

जैन धर्म ससार की प्रत्येक वस्तु मे जीव-स्थिति मानता है। अहिंसा को परम धर्म मानते हुये उसमे मानव-मात्र को अत्यन्त सावधानी से रहने के विधान प्रस्तुत किये गये है। प्रत्येक श्रावक अथवा गृहस्थ के लिये अणुव्रत[७] का जो विधान है, उसमे अहिंसा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। अहिंसक रहने के लिये यत्न-पूर्वक मद्य, मास, मधु आदि का त्याग आवश्यक वतलाया गया है। इसके अतिरिक्त मूलक (मूली आदि), आर्द्र शृग (अदरक) नवनीत, नीम के पुष्प तथा केतकी पुष्प भी त्याज्य माने गये है। क्योंकि इनमे भी जीव रहते हैं।[८]

मुनि-दीक्षा प्राप्त व्यक्तियो के लिये तो अहिंसा का सर्वदेशीय पालन करना आवश्यक है। उनके पच महाव्रतो मे भी अहिंसा सर्वप्रथम है। जैन-मुनि केश नही

---

(१) जहिं णिद्द ण भुक्ख ण भोय रइ देहु ण पचिंदियह सुहु।
    जहिं वहिं मि ण दीसइ णारिमुहुँ तहो देसहो लहु लेहि महु। णाय० १।११।१०-११
(२) मपु० ४३।११।११-१३   (३) मपु० ५३।११६
(४) अहिंसा भूतानां जगति विदित ब्रह्म परम। स्वयभू स्तोत्र, ११९
(५) पुरुषार्थ सिद्धयुपाय अमृत चन्द्र, ४३ तथा तत्वार्थ सूत्र ७।१३
(६) मारिवि कुक्कुडु पिट्ठमउ वि मुउ भमिओ मि दुक्खवो। जस० ४।१८।१
(७) अणुव्रत ५ है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह।
(८) समीचीन धर्म शास्त्र, ४।१६

कटवाते वरन् स्वय ही उनका लुंचन करते है। वे दशन करते हुए मशक को अथवा शरीर से लिपटे हुए सर्प को भी नही हटाते।[1] निशाभोजन तो मुनि तथा गृहस्थ दोनो के लिये वर्जित है।

हमारे कवि ने अहिंसा मे ही धर्म की स्थिति मानी है।[2] उसने हिंसा को सर्वथा त्याज्य बतलाया है। कवि की जसहर चरिउ रचना का एक उद्देश्य हिंसा के ऊपर अहिंसा की विजय का निरूपण करना भी है। इसके भैरवानद कापालिक, देवी कात्यायिनी आदि पात्र अन्त मे जैन-मत मे दीक्षित होकर अहिंसा व्रत धारण करते हुए चित्रित किये गये हैं। मपु० मे भी २२ वें तीर्थंकर नेमि अपने विवाह के भोज के लिये अनेक पशुओ को बलि दिये जाने का समाचार सुनकर इतने विह्वल हो जाते हैं कि स्वय विवाह न करके वैराग्य धारण कर लेते है।[3]

कवि ने हिंसा के खडन के लिये अपना लक्ष्य मुख्यतः उन ब्राह्मणो को बनाया है, जो यज्ञो मे पशु-बलि करते हैं तथा मास-भक्षण करते हैं। उसका कथन है कि जड जीव पशु-वध को धर्म मानकर कर चण्डिका को मास का भोग लगाते है। कौल मदिरा पीते हैं। परन्तु पशु बलि करने वाले को यमराज कभी क्षमा नही करते। वधिक भावी जन्म मे स्वय पशु होता है तथा दूसरो द्वारा वह भी उसी भाँति मारा जाता है। पूर्वकृत कर्म आगे-आगे दौडते हैं। जो जैसा करता है, वैसा पाता है। यदि पशु का मास खाने अथवा वारुणी-पान करने से स्वर्ग तथा मोक्ष मिलता है, तो फिर धर्म क्या है? इससे अच्छा है कि वधिक की पूजा करनी चाहिए।[4] गाय हरिण आदि निरीह पशुओ का ये ब्राह्मण बध कराते है तथा राजा की राज-वृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। पितृ-पक्ष पर द्विज पडित मास खाते है। इस प्रकार हिंसा-दभ तो इनसे पूर्णत लिपटे हैं, तब देह को जल से धोने से क्या होगा? कहो अगार दूध से धोने से श्वेत हो सकता है?[5]

जसहर चरिउ मे राजमाता अपने पुत्र यशोधर से कहती है कि जगत् मे धर्म का मूल वेद-मार्ग है। राजाओ को उसी का अनुसरण करना चाहिए। वेद मे देव-तुष्टि के लिये पशु-बलि करना उचित माना गया है और इसके करने वाले स्वर्ग के अधिकारी होते हैं। इसके उत्तर मे यशोधर कहता है कि यह सर्वथा अनुचित है क्योकि हिंसा-मार्ग के पथिक महापापी होते हैं।[6]

---

(१) मपु० ३८।११-११

(२) जहिंअहिंसि तहिं धम्म णिरुत्तउ।   म पु० २८।२१।८

(३) मपु० ८८।२४, ८९।१

(४) मपु० ७।७।६-१२

(५) मपु० ७।८।९-१३

(६) जस० २।१५-१६

कवि कहता है कि चाहे कोई पुण्य-अर्जन-हेतु मंत्र-पूजित खड्ग से पशु-बलि करे, यज्ञ करे अथवा अनेक दुर्धर तपों का आचरण करे, परन्तु जीव-दया के बिना सब निष्फल है। कोटि शास्त्रों का सार यही है कि जो पाप है, वह हिंसा है, जो धर्म है वह अहिंसा है।[1] शान्ति के नाम पर संसार में कितनी हिंसा होती है। मूर्ख पत्थर की नौका द्वारा सरिता पार करना चाहते हैं।[2]

कवि ने प्राणि-वध को आत्म-वध के समान माना है।[3] इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि केवल अपने के आग्रह से ही नहीं, वरन् आत्मोन्नति तथा मानवता के विचार से अहिंसा को श्रेष्ठ मानता है। उस पर कवि का अखण्ड विश्वास है। जिन तथा मुनियों के स्तवन में कवि ने उनके अहिंसा-गुण का बारम्बार स्मरण किया है। उन्हें साक्षात् अहिंसा की मूर्ति अंकित किया है। यही नहीं कवि ने हाथी जैसे पशु को अहिंसा व्रत का पालन करते हुए चित्रित किया है।[4] उसने लंका में भी अहिंसा का प्रभाव दिखलाया है।[5]

जैन धर्म में अहिंसा के पालन करने का जितना कठोर विधान है, उतना अन्य धर्मों में कठिनता से प्राप्त होगा। सम्भवत यही देखकर डॉ० राधाकृष्णन ने लिखा है कि समस्त भारतीय धर्मों में जैन धर्म ही ऐसा है, जिसमें अहिंसा का अत्यन्त दृढता के साथ पालन करने का उपदेश दिया गया है।[6]

परमत-खंडन

कवि ने अपने काव्य में जहाँ जैन धर्म के सिद्धान्तों का दृढता के साथ प्रतिपादन किया है, वहाँ उसने अन्य मतों का खंडन भी किया है। इन मतों में प्रमुख हैं—वैदिक, साख्य, चार्वाक, बौद्ध तथा कौल। कवि ने इन मतों का संक्षिप्त विवेचन करके, तर्क द्वारा उनकी अप्रामाणिकता सिद्ध की है।

निम्नलिखित पंक्तियों में कवि द्वारा किये गये उक्त मतों के खंडन का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है—

वैदिक मत—कवि ने जिन वैदिक मान्यताओं का विरोध किया है, उनमें ईश्वर का निर्गुण-सगुण रूप, ईश्वर का सृष्टि-कर्त्तृत्व तथा याज्ञिकी हिंसा प्रमुख हैं।

सृष्टि-कर्त्तृत्व के विषय में कवि का कथन है कि अल्पज्ञ ही ईश्वर द्वारा जगत्

---

(१) जस० ३।१८
(२) किं होइ हिंम जगि सतियरि, सिलणावइ मूढ तरति सरि। जस० २।१५।१८
(३) पाणिवहु भडारिए अप्पवहु। जस० २।१४।६
(४) मपु० ६४।४।२-६
(५) मपु० ७३।१४।१३
(६) इंडियन फिलासफी, पृ० ४२५

की सृष्टि होना बतलाते है। यदि वह (ईश्वर) अरूप है, तो वह स्वय अमूर्त होकर मूर्त सृष्टि की रचना कैसे कर सकता है ? यदि वह निष्काम है अथवा उसे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की इच्छा नही है, तो अपनी इच्छा से ही सृष्टि रचकर उसे क्या मिलता है ? निष्कलुष को हर्ष-विषाद होना ही नही चाहिए।[1]

अन्यत्र कवि प्रश्न करता है कि यदि ईश्वर इस भुवन-तल का निमित्त है, तो उसके विशेष गुण क्या हैं ? यदि वह नित्य है तो परिणाम सिद्ध नही हो सकता और निष्परिणाम के कर्म-सिद्धि कैसे होगी ?[2] जगत् यदि ईश्वर की प्रेरणा से चलता है, तो तप-भावना आदि से क्या लाभ ?[3] अत ब्रह्मा, विष्णु अथवा महेश-इनमे से कोई भी सृष्टि का कर्त्ता नही हो सकता। जैसे बिना हाथी के उसका कुल नही होता, वैसे ही बिना मानव के उसकी जाति कैसे हो सकती है ? अत यह जगत् अनिधन, अनादि सिद्ध हो जाता है।[4]

निर्गुण ब्रह्म के सबध मे कवि का कथन है कि निर्गुण किस प्रकार सकोच-विस्तार करता है ? कैसे त्रिभुवन का सहार करता है ? कैसे स्वय पढता-पढाता है ? कैसे मोक्ष मार्ग दिखलाता है ? कैसे अष्टाग धारण करता है ? कैसे किसी परिणाम पर पहुँचता है ? कैसे गाता-नाचता है ? जब निर्गुण न मरता है, न जन्म लेता है, तब वह जीव को ससार यात्रा के लिये कैसे प्रेरित करता है ?[5]

इसी प्रकार मुक्त-आत्मा के प्रति कवि का तर्क यह है कि जैसे सिक्थ (भात) पुन धान के रूप मे तथा घृत पुन दुग्ध के रूप मे परिवर्तित नही हो सकते, उसी प्रकार सिद्धात्मा एक बार शरीर को त्याग कर पुन सासारिक जन्म-मरण के चक्र मे नही आते।[6]

वैदिक हिंसा के सम्बन्ध मे कवि के विचारो का कुछ विवेचन पूर्वोक्त अहिंसा प्रकरण मे हम कर चुके हैं। यहाँ हम विशेष रूप से वेद-ब्राह्मणो के खडन के सदर्भ मे तत्सम्बन्धित अन्य विचारो को प्रस्तुत कर रहे हैं।

वेदो के विषय मे कवि कहता है कि विद् धातु (प्राकृत-विउ) का अर्थ (जानना) सर्वविदित है, अत वेद का अर्थ ज्ञान भी हुआ। इस प्रकार ज्ञान के आगार वेदो को जीव-दया की शिक्षा देनी चाहिए अस्तु, वे ग्रन्थ जो हिंसा का उपदेश देते हैं, वेद न कहे

---

(१) मपु २०।१६-१४

(२) मपु० २०।२।३-४

(३) जइ जाइ जीउ सिउपेरणाइ, तो किं कयायइ तवभावणाइ। मपु० २०।३।२

(४) जिह सिवु तिह बभु ण विण्हु अत्थि, विणुहत्थिउलेण णहोइ हत्थि।
विणु णर सताणे मणुउ केम, अणिहणु अणाइ जगु सिद्धु एम। मपु० २०।३।७-८

(५) णाय० ६।६।४-११

(६) णाय० ६।७।१-२

जाकर करवाल कहे जाने चाहिए ।[1] इसीलिये वह वैदिक मत की उपयोगिता मूढ मनुष्यो के लिये बतलाता है ।[2]

समाज मे ब्राह्मणो के अत्यन्त प्रभावशाली होने के कारण ही जैन धर्म ने अपने यहाँ ब्राह्मणो की सृष्टि की है । परन्तु वे उन्ही को ब्राह्मण मानते हैं, जो जैन धर्मानुसार आचरण करते हैं। भरत चक्रवर्ती ने सर्वप्रथम आचार-निष्ठ व्यक्तियो को पृथक् कर, उन्हे ब्राह्मण सज्ञा से अभिहित किया तथा उनके व्रत साधन एव कर्त्तव्यो को निश्चित किया ।[3] पश्चात् एक समय भरत ने अपने पिता ऋषभ से इन ब्राह्मणो के भविष्य के सम्बन्ध मे प्रश्न किया । उत्तर मे ऋषभ ने कहा कि हा पुत्र, तुमने यह क्या किया ? ये ब्राह्मण आगे चल कर अपनी मर्यादा का विस्मरण कर मृग-वध करेंगे तथा उनका मास भक्षण करेंगे । यज्ञ मे सोम-पान करेंगे । वे गो, अग्नि, पृथ्वी, पवन, वनस्पति आदि को देवता मान कर पूजेंगे । पराणो की रचना करेंगे । वे धीवरी पुत्र व्यास तथा गर्दभी पुत्र दुर्वासा[4] को पूर्ण सत्ता सौप देंगे ।[5]

इस प्रकार वैदिक वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुरूप ही जैनो ने अपने धर्म मे भी ब्राह्मणो की सृष्टि करली, परन्तु इससे उन्हे कोई सतोष नही हुआ । वे पूर्ववत् वेदो तथा ब्राह्मणो को समाज-शत्रु ही घोषित करते रहे । कवि नि सकोच वेदो का अनुसरण करने वाले व्यक्तियो को अज्ञानी तथा घोर तमाच्छादित पथ पर गमन करने वाले कहता है ।[6]

उसकी दृष्टि मे ब्राह्मण सदैव असत्य भाषी, मिथ्या दृष्टि वाले तथा साधु-वेश मे पापिष्ठ होते हैं ।[7]

महापुराण मे मुण्डसालायण नामक ब्राह्मण द्वारा गो दान, भूमि-दान एव कन्या-दान की श्रेष्ठता तथा उसके फल से विष्णु-लोक प्राप्त होने की बात सुनकर राज-मत्री सत्यकीर्ति कहता है कि कहाँ कामुक कहाँ परलोक-वृत्ति, कहाँ नीम कहाँ आम ? ब्राह्मण की मति कुविवेक-पूर्ण होती है । जो भूमि तथा स्वर्ण माँगते हैं, कामासक्त होकर कन्या-दान कराते हैं, पेट पीट कर रुदन करते हैं एव पीपल का स्पर्श

---

(१) मपु० २६।७।१०-१२
(२) लोइयवेइय मूढत्तणाइ । णाय० ४।२।३
(३) मपु० १६।५-६
(४) दुर्वासा के गर्दभी-पुत्र होने का उल्लेख हिन्दू पुराणो मे नही मिलता । सम्भवत धार्मिक विरोध के कारण कवि ने ऐसा कहा है ।
(५) मपु० १६।१०।१-१३
(६) वेय धम्मवेहाविय माणसु, तमतमपहमहि जाइ सतामसु । जस० ३।११।१०
(७) मपु० ८३।१६।११-१२, ९०।२, ४८।२१

कर निज को शुद्ध मानते हैं, वे वार-बार भव-सागर मे गिरते हैं।[1] गगा-जल से उनके दोष कभी नही धुल सकते।[2]

कवि अन्यत्र भी कहता है कि जो गाय तृण चरते हुए अभोज्य खाती है, उसके स्पर्श से शुद्धि कैसे हो सकती है ? जल शरीर से मिल कर मूत्र बनता है, वह पवित्र कैसे है ? प्राणि-वध करने वाले की क्या यह धूर्तता नही है कि कुत्सित दान के द्वारा वह स्वर्ग प्राप्त होने की बात कहता है। अत इन ब्राह्मणो को दान न देकर, उस सुपात्र को देना चाहिये जो ज्ञानवान हो।[3]

ब्राह्मणो के अन्य विश्वासो का खण्डन करता हुआ कवि कहता है कि वे अग्नि मे हवन करके स्वर्ग तथा मोक्ष के मार्ग पर गमन करना चाहते हैं। पितृ-पक्ष मे मास-भक्षण करते हैं। इस प्रकार हिंसा तथा दम्भ से पूर्ण शरीर को जल से धोने से क्या लाभ ?[४] वह पूछता है कि यदि मीन-भक्षी तथा स्नान से शुद्ध होने वाले वक और ब्राह्मण पूज्य-पद प्राप्त कर लेंगे, तो सयम का आचरण करने वाले मुनियो की क्या दशा होगी ? उनकी कौन वन्दना करेगा ?[५]

कवि ब्राह्मण ग्र थ-कर्त्ताओ की भी निंदा करता है। उसके अनुसार कुमारिल भट्ट के वचन अति अशुद्ध तथा धर्म-विपरीत हैं।[६] वाल्मीकि तथा व्यास भी कुमार्ग-कूप मे डालने वाले हैं।[७]

ब्राह्मणो के सामान्य विश्वासो, उनकी धर्म-पुस्तको एव उनके विद्वानो के विरोध के साथ कवि ने उनके देवताओ की आलोचना भी की है। शिव के सम्बन्ध मे वह कहता है कि एक ओर वे मदन-दहन करते है, दूसरी ओर महिलासक्त भी हैं। ज्ञानवन्त भी हैं और मदिरा-पान भी करते है। निष्पाप होते हुए ब्रह्मा का शिरच्छेदन भी करते हैं। सदय होकर शूल धारण करते हैं। कपाल से ही उन्हे क्यो सन्तोष होता है ? अस्थि-माल धारण करके तथा भस्म लगा कर भी वे पवित्र रहते हैं। लिंगवेश रखकर भी रोष-पूर्ण रहते हैं। जड मति पिशाचो से प्रलाप करते है।[८] कवि का कथन

---

(१) मपु० ४८।१८

(२) गगाजलु दोसेण ण छिप्पइ, भो भो भरहि गासु दिय जडमइ। मपु० ६८।७।१८

(३) मपु० ४८।४६।२-६

(४) मपु० ७।८।६-१३

(५) मीण गिलतु ण्हतु जइ सुज्झइ ता ककी महामुणी।
वदिज्जइ चरतु णइतीरिं कि किज्जइ परोमुणी। जस० ३।३०।१-२

(६) वयणु कुमारिल भट्ट हो केरउ, अइ असुद्ध धम्महो विवरेरउ। जस० ३।८६।११

(७) वम्मीय वासु वयणिहि णडिउ, अण्णाणु कुमग्ग कूवि पडिउ। मपु० ६६।३।११

(८) णाय० ६।७।४-१२

है कि जो शिव नृत्य-गान करते, डमरू बजाते, पार्वती के समीप रहते तथा त्रिपुर आदि रिपुवर्ग को विदीर्ण करते हैं, वे मानव-समुदाय को संसार-सागर से कैसे पार कर सकते हैं ?[1]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-विद्वान् वैदिक मत तथा उसके अनुयायी ब्राह्मणों के कितने उग्र विरोधी हैं। यही नहीं, तीर्थंकर आदि महापुरुष भी कभी ब्राह्मण-कुल में जन्म नहीं लेते। वर्धमान महावीर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे पहले एक ब्राह्मणी के गर्भ में आ गये थे, परन्तु परम्परा के विपरीत तीर्थंकर की उत्पत्ति ब्राह्मण-कुल में किस प्रकार हो ? यह देख कर इन्द्र ने उनके जीव को क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में पहुँचा दिया।[2]

अनेक जैनाचार्यों ने ब्राह्मणों की गणना नीचकुल में की है। भद्रबाहु के कल्प-सूत्र में उन्हें इसी प्रकार चित्रित किया गया है।[3]

सांख्य दर्शन—सांख्य दर्शन के सिद्धान्तों का प्रवर्तन करने वाले कपिल थे। सांख्य के अनुसार प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है। तत्व मीमांसा के अनुसार इसके २५ तत्व होते हैं।[4] इन तत्वों का ज्ञान प्राप्त करके कोई भी व्यक्ति मुक्त हो सकता है।[5] द्विविध मूल तत्वों में प्रकृति जडात्मिका है एवं सत्व, रज तथा तम गुणों से समन्वित है। पुरुष साक्षात् चैतन्य-रूप होते हुए भी वस्तुतः निष्क्रिय है। अंध-पंगु के दृष्टान्त के अनुसार जड-प्रकृति निष्क्रिय चेतन के संयोग से सृष्टि का कार्य संपादित करती है।

हमारे कवि ने सांख्य-सिद्धान्त का खंडन करते हुए कहा है कि एक ही तत्व नित्य है, ऐसा क्यों माना जाता है ? जब एक देता है, तो अन्य (जड) कैसे लेते हैं ?

---

(१) णच्चइ देउ गेयसरु गायइ, महिलउ माणइ वज्जउ वायइ।
डहइ पुरइं रिउवग्गु वियारउ, एहउ कि संसारहु तारइ।

मपु० ६५।१२।६-७

(२) हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता, डॉ० बेनी प्रसाद (हिन्दुस्तानी एकेडमी, प्रयाग, १९३१) पृ० २७३

(३) वही, पृ० २७२

(४) कवि ने इन तत्वों को इस प्रकार गिनाया है—
भूयइं पंच पंच गुणइं पंचिंदियइं पंच तमत्तउ।
मणुहंकारबुद्धि पमरु कहिं पयडीए पुरिसु संजुत्तउ।

णाय० ९।१०।१२-१३

(५) भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय (बनारस, १९४१) पृ० ३१८

जब एक स्थित है, तो अन्य कैसे दौडते हैं ? एक मरता है, तो अन्य कैसे जीवित रहते हैं ? यदि पुरुष को नित्य कहा जाता है, तो वह किस प्रकार बाल्यावस्था, युवावस्था और तत्पश्चात् वृद्धावस्था प्राप्त करता है ? नित्य वस्तु मे त्रस-स्थावर जीव होते हैं, यह भेद कैसे हुआ ? कहा जाता है कि यह ससार पुरुष की क्रीडा-भूमि है, परन्तु यहाँ उसके दर्शन कहो नही प्राप्त होते। विचारणीय है कि क्रिया-विहीन, निर्मल तथा शुद्ध साख्य का पुरुष, प्रकृति से कैसे बद्ध होता है ? निष्क्रिय के शरीर, मन, वचन आदि किस प्रकार होते है ? फिर, क्रिया-विहीन अनेक भवो (जन्मो) को कैसे ग्रहण करता है ? पाप भी उसे कैसे बाध सकते है ? इस प्रलाप से मुक्ति पाना ही अच्छा है।[1]

अन्यत्र कवि कहता है कि कणाद (वैशेषिक दर्शन के आचार्य) कपिल, सुगत (बौद्ध), द्विज शिष्य (किसी अन्य दर्शन के प्रवर्तक) आदि कुमतिशील है, जो लोगो को अपने-अपने सिद्धान्तो की ओर आकर्षित करते है।[2]

चार्वाक दर्शन—इसका प्राचीन नाम लोकायत है।[3] इसके प्रवर्तक बृहस्पति थे। चार्वाक सिद्धान्त शुद्ध भौतिकवादी है। इसके अनुसार लोक ही आत्मा की क्रीडा-भूमि है। शरीर ही आत्मा है। अत जब तक शरीर है, तब तक सुख-प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिए। इसके सम्बन्ध मे निम्नलिखित श्लोक बडा ही प्रसिद्ध है :—

यावज्जीवेत सुख जीवेत ऋण कृत्वा घृत पिवेत।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनुरागमनम् कुत ।[4]

ब्राह्मण, बौद्ध, जैन आदि मतो के आचार्यो ने इस भौतिक-वादी मत के सिद्धान्तो का विरोध किया है।[5]

ग्रीक दर्शन के डिमाक्रिटस (४६० ई० पू०), एपुकुरिअस (३४२ ई० पू०) एव लूक्रेशियस (९५ ई० पू०) आदि विद्वान् भी चार्वाको की भाँति भौतिक-वादी है।[6]

---

(१) णाय० ९।१०।३-११
(२ एम लोउ मोहिउ कुमईसहिं, कणयर कविल सुगय दियसीसहिं।
णाय० ९।११।७
(३) भारतीय दर्शन पृ० ११६
(४) वही, पृ० १३२
(५) रामायण (वाल्मीकि) अयोध्या काण्ड, १००।३८, सद्धर्म पुण्डरीक मे (परिच्छेद १३) इस शास्त्र के पढने-पढाने का निषेध किया गया है। (भारतीय दर्शन पृ० ११७)। आदि पुराण (जिनसेन, ५।७३) मे इसे मूर्खो का प्रलाप कहा है।
६) भारतीय दर्शन, पृ० १३३

जैन, बौद्ध न्याय आदि दर्शन जहाँ अनुमान को प्रमाण मानकर चले है, वहाँ चार्वाक केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानते है। उनकी दृष्टि मे यह स्थूल जगत् ही सत् है, अन्य सब कुछ मिथ्या है। वे इस जगत् मे केवल पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु-ये चार तत्व ही मानते है। इन्ही से सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण हुआ है। जब ये भूत-चतुष्टय एक विशेष मात्रा मे सम्मिलित होते है, तो आप से आप उसमे चैतन्य का आविर्भाव हो जाता है जैसे गुड, जल आदि पदार्थों मे मदिरा के गुण न होते हुए भी, एक साथ सम्मिलित किये जाने पर रासायनिक क्रिया द्वारा उनमे मद्य-शक्ति आ जाती है, वैसे ही भूतचतुष्टय मे चैतन्य की उत्पत्ति होती है।

चार्वाक पूर्णत बुद्धिवादो थे। अपने तर्कों द्वारा वे अन्य मतो का खण्डन किया करते थे। अत उन्हे वैतण्डिक भी कहा गया है।[1]

हमारे कवि ने अपने तीनो ग्र थो मे चार्वाक-मत का खण्डन किया है। महापुराण मे राजा महाबल के मत्री स्वय बुद्ध, णायकुमार चरिउ मे मुनि पिहिताश्रव तथा जसहर चरिउ मे एक जैन मुनि इसकी निंदा करते हैं।

मपु० मे राजा महाबल का मत्री महामति चार्वाक सिद्धान्त का परिपोषण करता हुआ कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि तथा पवन—ये चार पदार्थ अनिधन, अनादि तथा अहेतुक हैं। जब ये चारो सम्मिलित होते है, तो उनमे चैतन्य जोव की उत्पत्ति उसी प्रकार हो जाती है, जैसे गुड, जल आदि पदार्थों मे मद्य शक्ति। शरीर-शरीर मे कोई भेद नही हैं। जो जब तक जीवित रहता है, कर्म करता है।[2]

इसका खण्डन करते हुए राजा का अन्य मत्री स्वय बुद्ध कहता है कि भूत-चतुष्टय के सम्मिलन मात्र से जीव (चैतन्य) किसी भी प्रकार उत्पन्न नही हो सकता। यदि ऐसा हो तो औषधियो के क्वाथ (काढा) से किसी पात्र मे भी जीव-शरीर उत्पन्न हो जाते, परन्तु ऐसा नही होता।[3]

---

(१) भारतीय दर्शन पृ० ११६।
पुष्पदत ने भी चार्वाक को वैतण्डिक कहा है—
(अ) वइतडिय पडिय कव्वु कर्वाहि, अणिबद्धु असद्धउ काइ चवहि।
मपु० २०।१६।७
(आ) उक्कु सरीरु कि ण किर पहवइ, कि वइतडिउ पडिउ विलवइ।
णाय० ६।११।६

(२) मपु० २०।१७

(३ विणु जीवें कहिं भूयइ मिलति, कायाकारेण ण परिणवति।
जइ परिणवति भासहि कुहेउ, तो काढयपिढरि सरीर होउ।
मपु० २०।१८।१०-११

णाय० मे कहा गया है कि जल और अग्नि मे स्वभावत. विरोध होता है, तब वे किस प्रकार एक ही भाव से एक साथ स्थित हो सकते हैं। इसी प्रकार पवन चपल तथा पृथ्वी जड़ रूप से स्थित है। हा, वृहस्पति ने यह कैसी भख लगाई है ?[१]

जस० मे तलवर (कोतवाल) तथा मुनि के सवाद मे चार्वाक सिद्धान्तो का उल्लेख प्राप्त होता है। तलवर का कथन है कि मैं किसी धर्म, गुण तथा मोक्ष को नही जानता। मैं केवल पचेन्द्रिय-सुख को ही सब कुछ मानता हूँ।[२]

इसके उत्तर मे मुनि कहते हैं कि इस ससार मे मनुष्य को अनेक योनियो मे भ्रमण करते हुए जीवन-मरण के दु खो तथा स्वकृत पापो को भोगना अनिवार्य है। मैं उन्हे जानता हूँ। इसी कारण मैं इ द्रिय-सुखो से विरक्त होकर इस निर्जन मे निवास करते हुए भिक्षा-वृत्ति करता हूँ।[३]

आगे शरीर तथा जीव को अभिन्न मानने वाले सिद्धान्त का खण्डन करते हुए मुनि कहते हैं कि जीव का आधार भूत शरीर है, जो अचेतन होते हुए भी वृषभ द्वारा खीचे जाने वाले शकट की भाति चेतन दृष्टिगत होता हैं। परन्तु जिस प्रकार वृषभ के बिना शकट नही चल सकता, उसी प्रकार यह पुद्गल शरीर भी चेतन (जीव) बिना नही चल सकता। इस प्रकार जीव तथा शरीर भिन्न सिद्ध होते है।[४]

तलवर पुन पुष्प-गध की अभिन्नता का उदाहरण देता हुआ शरीर के नाश के साथ आत्मा के अभाव का उल्लेख करता है। मुनि उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि आत्मा तथा शरीर की भिन्नता प्रत्यक्ष सिद्ध है, जैसे चपक-पुष्प तैल मे डालने से उसकी सुगध तो पृथक् हो जाती है, परन्तु पुष्प का अस्तित्व बना रहता है। इसी प्रकार आत्मा और शरीर भी अपना पृथक् अस्तित्व रखते है।[५]

कोतवाल ने इसी सम्वन्ध मे यह युक्ति उपस्थित की कि क्या शरीर मे प्रवेश करते हुए आत्मा को किसी ने देखा है ? यह शरीर तो शोणित-शुक्र रूप मे गर्भान्तर मे ही वृद्धिगत होता है। उसके भ्रम का परिहार करते हुये मुनि कहते हैं कि अपने अमूर्त्तत्व गुण के कारण वस्तुत जीव दिखाई नही देता, परन्तु इसी कारण क्या उसका अभाव हो जाता है ? नही, जैसे दूर से आया हुआ शब्द नेत्रो द्वारा दृष्टिगत न होते

---

(१) जलजलणह विरोहु ससहावें, ताइ थति किह इक्कें भावें।
पवणु चवलु महि थक्क थिरत्तें, हा कि भखिउ सुरगुरु पुत्तें।
णाय० ६।११।१-२

(२) जस० ३।१६।३

(३) जस० ३।२०।७-८

(४) जस० ३।२१।१-४

(५) जस० ३।२१।१२-१६

हुए भी कानो द्वारा ज्ञात किया जाता है, वैसे ही आत्मा का अनुमान से ज्ञान होना निश्चित है।[1] जिस इ द्रिय का जो विषय है, वह उसी के द्वारा ज्ञात होता है। स्थूल इ दियाँ सूक्ष्म विषय का ज्ञान कदापि नही कर सकती। जीव का प्रत्यक्ष केवल ज्ञान द्वारा ही सभव है।[2] यदि शरीर को आत्मा मानें तो शरीर जड होने से आत्मा भी जड होगा। इस अवस्था मे शैया-स्पर्श, रसास्वाद आदि का ज्ञान किसको होगा ?[3]

इसी प्रकार वृहस्पति का यह कथन कि जो नेत्रो द्वारा दृष्टिगोचर हो, वही प्रमाणभूत है, कवि के विचार से पूर्णत निस्सार है। वह कहता है कि गृह मे पितादिक द्वारा रखा हुआ द्रव्य जब दृष्टिगत नही होता, तो क्या समझ लिया जाय कि उसका अस्तित्व ही नही है?[4]

कवि आत्मा-शरीर के भेद को और स्पष्ट करता हुआ कहता है कि प्रत्यक्ष-वादी (चार्वाक), परमाणु आदि पदार्थ एव इ द्रियो के विषय यथा गीत-वाद्य, कामिनी के स्तन-युगुलो के स्पर्श, शत्रु के खड्गादिक घात इत्यादि के अनुभव भी न करते होंगे, ऐसे व्यक्ति कच्छप-रोम का दुशाला ओढते तथा आकाश कुसुमो का मुकुट रखे, वन्ध्या-पुत्र से वार्तालाप करते है अर्थात् उनके समस्त व्यापार असम्भाव्य हैं।[5]

नैरात्मवाद-क्षणिकवाद—जगत् की समस्त दुष्प्रवृत्तियो के मूल मे आत्मवाद को कारण मानते हुए, बुद्ध ने आत्मा की पृथक् सत्ता ही नही मानी है। उनके अनुसार आत्मा केवल पच-स्कन्धो (रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान) का समुच्चय मात्र है। ये स्कन्ध क्षण भर भी स्थायी नही रहते। वे प्रवाहित जल अथवा जलती हुई दीप-शिखा की भाँति प्रतिक्षण परिणाम प्राप्त करते रहते हैं। हीनयान के अतर्गत ये दार्शनिक तथ्य नैरात्म्यवाद तथा परिणामवाद कहलाते हैं।[6] यूनान के हिरेक्लिटस तथा फ्रास के बर्गसो जैसे तत्वज्ञो ने बौद्ध परिणामवाद के आधार पर अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण करके पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की है।[7] मूल रूप मे इन्ही सिद्धान्तो

---

(१) जस० ३।२२।१-५

(२) जस० ३।२ ।६-७

(३) जस० ३।२३।५-६

(४) सुरगुरु लोयणेंहि ज पिच्छइ इच्छइ त समक्खय।
जो ण णियइ घरम्मि चिरपुरिसणिहाण घडपि णिक्खय।
जस० ।२४।१-२

(५) जस० ३।२४।४-६

(६) भारतीय दर्शन, पृ० १८४-१८६

(७) हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १ पृ० ४४८

को मानते हुए अन्य बौद्ध दार्शनिको ने शून्यवाद, विज्ञानवाद, क्षणिकवाद आदि की चर्चा की है।

महापुराण मे राजा महाबल के मन्त्रियो मे सभिन्नमति नामक मन्त्री क्षणिकवाद का समर्थन करता है।[1] अन्य शतमति नामक मन्त्री जगत् को मायावी, स्वप्नवत् तथा इन्द्रजाल कहता है।[2] महाबल का जिन-धर्म-निष्ठ मन्त्री स्वयबुद्ध उसका खण्डन करता है। इसी प्रकार णायकुमार चरिउ तथा जसहर चरिउ मे जैन मुनि उक्त सिद्धान्तो का खण्डन करते है।

कवि की रचनाओ मे बौद्ध सिद्धान्तो के विरोध मे जो तर्क उपस्थित गये किये हैं, उनका सार इस प्रकार है—

यदि जगत् को क्षणभगुर मान लिया जाये, तो किसी व्यक्ति द्वारा रखी हुई वस्तु उसे प्राप्त न हो कर अन्य व्यक्ति को प्राप्त होनी चाहिए। इसी प्रकार द्रव्य को क्षणस्थायी मानने से वासना (जिसके द्वारा पूर्व रखी वस्तु का स्मरण होता है) का भी अस्तित्व नही रह जाता।[3]

जगत् मे यदि कार्य-कारण कुछ भी नही है, तो वज्र-पात से भय क्यो होता है।[4] कुछ परिस्थितियो मे कार्य-कारण सम्बन्ध ऐसा होता है कि कारण की उपस्थिति मे ही कार्य सम्पन्न होता है, जैसे दुग्ध तथा गौ एव काजल तथा दीपक। इनमे यदि कारण गौ तथा दीपक का विनाश हो जाय, तो दुग्ध और काजल का कार्य होना सभव नही। इसी प्रकार यदि क्षण-क्षण मे जीव उत्पन्न होते हे, तो वाहर गया हुआ व्यक्ति पुन. गृह कैसे लौटेगा ? वैसे ही अन्य की रखी हुई वस्तु अन्य को ज्ञात ही न होगी। परन्तु ऐसा नही होता। यदि सब कुछ क्षण-विनाशी है, तो इन्द्रिय-निग्रह, चीवर-धारण, व्रत-पालन, शिर मुडन आदि का क्या प्रयोजन है ?[5]

कवि का कथन है कि जो आत्मा को विज्ञान स्कन्ध का सघात मानता है, वह बुद्ध भट्टारक साहसी ही कहा जायेगा।[6] जैनाचार्य हेमचंद्र ने भी क्षणिकवादी वौद्धो को महासाहसिक कहा है।[7]

---

(१) मपु० २०।१९।८-१०
(२) मायण्हिव सिविणय इदजालु। मपु० २०।२०।७
(३) मपु० २०।२०।४-५
(४) जइ णत्थि किं पि कारणु ण कज्जु, तो किं वीहहि जइ पडइ वज्जु।
मपु० २०।२१।५
(५) णाय० ९।५।७-१३
(६) जस० ३।२५।१६-१७
(७) भारतीय दर्शन, पृ० २२५

कौलाचार—शैव-शाक्त तंत्र के अन्तर्गत कौलाचार का बड़ा महत्व है। कौल वह है जो शक्ति को शिव के साथ मिलन कराने मे समर्थ होता है अथवा योग-क्रिया द्वारा कुण्डलिनी को जाग्रत कर सहस्रार-स्थित शिव से मिलाता है। कुण्डलिनी ही कौलाचार या वामाचार का मूल अवलम्ब है।[1]

कौलो के दो मत प्रसिद्ध रहे हैं—पूर्व कौल तथा उत्तर कौल। पूर्व कौल श्रीचक्र के भीतर स्थित योनि की पूजा करते थे। उत्तर कौल तरुणी की प्रत्यक्ष योनि के पूजक थे तथा अपनी साधना मे पच मकारो (मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा तथा मैथुन) का प्रयोग करते थे। जन-साधारण में तान्त्रिक विधि-विधानो के प्रति कुत्सित भावना उत्पन्न करने का श्रेय इन्ही को है।[2]

कौलो अथवा कापालिको को धर्म और सदाचार से कोई सम्बन्ध न था। येन केन प्रकारेण सब-भोग करना ही इनका लक्ष्य था।[3] ये भैरव-चामुण्डा की पूजा करते, नर-मुण्डो की माला धारण करते, देवी की तुष्टि के लिये नर-पशु की बलि देते तथा हवन मे नर-मास की आहुति देते थे। इनका दावा था कि ये आकाश मे नक्षत्रो का मार्ग रोक सकते हैं तथा असभव का सभव कर दिखा सकते है।

१० वी शताब्दी तक के अनेक ग्रथो मे इन कापालिको के वर्णन प्राप्त होते हैं। भवभूति के 'मालती माधव' मे अघोर घंट, कृष्ण मिश्र के 'प्रबोध चन्द्रोदय नाटक' मे सोम सिद्धान्त तथा राज शेखर को 'कपूर मजरी' मे भैरवानन्द सरीखे कापालिको के अद्भुत चरित्र वर्णन किये गये हैं।

हमारे कवि के जसहर चरिउ ग्रथ का कापालिक भैरवानन्द कपूर मजरी के भैरवानन्द से अनेक बातो मे मिलता-जुलता है।[4] वह दोनो कानो को ढकने वाली रग-बिरगी टोपी लगाये, कानो मे मुद्रा धारण किये, हाथ मे ३२ अगुल का दण्ड उछालता हुआ, गले मे योग-पट्ट डाले, पगो मे पावडी पहने, नृसिगा का तड-तड शब्द करता हुआ, नर-कपाल लिये राजा मारिदत्त की राज-सभा मे आता है।[5]

भैरवानन्द आत्म-प्रशसा करता हुआ कहता है कि मैंने चारो युग देखे है। राम-रावण युद्ध, महाभारत आदि मेरे सम्मुख हुए हैं। मैं चिरजीव हूँ। समस्त विद्याएँ मुझे सिद्ध है। तत्र-मत्र तो मेरे आगे चलते हैं।[6] वह राजा मारिदत्त को

---

(१) भारतीय दर्शन, पृ० ५४१
(२) वही, पृ० ५४०
(३) भारत की प्राचीन सस्कृति, राम जी उपाध्याय, पृ० १२१-१२२
(४) भारतीय विद्या, मई १९४७ पृ० १२१-१२२ मे डॉ० भायाणी का लेख।
(५) जस० १ । ६ । ४-७
(६) जस० १ । ६ । ८-१५

आकाशगामिनी विद्या सिद्ध कराने के लिये देवी के सम्मुख मनुष्य-सहित अनेक जोव-मिथुनो की वलि देने का प्रस्ताव रखता है ।[1]

जसहर चरिउ का सम्पूर्ण कथानक इस हिंसा-प्रस्ताव के खण्डन मे ही समाप्त होता है । क्षुल्लक अभयरुचि को अपने पूर्व जन्म मे केवल कृतिम कुक्कुट की बलि देने के कारण अनेक जन्मो मे कितनी भीषण यातनाएं भोगनी पडी—यह वृत्तान्त सुनकर भैरवानन्द हिंसा-वृत्ति को त्यागकर अन्य पात्रो के साथ ही जिनदीक्षा ग्रहण कर लेता है । इस ग्र थ मे कवि का प्रधान उद्देश्य कौल सम्प्रदाय की हिंसा-वृत्ति के ऊपर जैन मत की अहिंसा को विजय निरूपित करना है । कापालिको के वर्णन करने वाले इस काल के प्राय सभी ग्र थ जन-साधारण की, इन कौलो के प्रति, व्यापक घृणा के ही परिचायक है ।

श्वेताम्बर जैन — कवि स्वय दिगम्बर सम्प्रदाय का था । अत' उसने अपनी रचनाओ मे केवल उन्ही सिद्धान्तो का विवेचन किया है जो उसके सम्प्रदाय के अनुरूप है । परन्तु यथावसर उसने श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विश्वासो का खण्डन भी किया है ।

णायकुमार चरिउ मे उसने कैवल्य प्राप्त श्वेताम्वर मुनियो के वस्त्र धारण करने तथा रात्रि-भोजन करने की आलोचना की है—

अबरु परिहइ भोयणु भु जइ, भुवण णाण् पभणतु ण लज्जइ ।

णाय० ९ । ५ । ५

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने अपनी रचनाओ मे तत्कालीन प्रचलित प्राय सभी मत-मतान्तरो का खण्डन करते हुए, जिन-धर्म को ही एकमात्र कल्याण-कारी मार्ग बतलाया है । स्पष्ट है कि इस प्रयास के मूल मे कवि का उद्देश्य यह था कि स्वधर्मानुयायी किसी भी प्रकार अन्य धर्मों की ओर आकर्षित न हो ।

जन्मान्तरवाद

अति प्राचीन समय से पुनर्जन्म पर भारत का विश्वास रहा है । सर्व-प्रथम उपनिषदो मे इसका उल्लेख प्राप्त होता है ।[2] गीता मे भी कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र त्याग कर नवीन धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीरो को त्याग कर नवीन शरीर धारण करता है ।[3]

---

(१) जस० १ । ७ । ७-१०

(२) अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगत प्रैति ।
स इत प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीय जन्म ॥

ऐतरेयोपनिषद्, अ० २ । ४

(३) वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि । तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही । गी० २ । २२

अनेक भारतीय विद्वानो ने जन्मान्तर वाद को भारत की एक विशेषता वतलाई है।[1] जैन धर्म पर भी इसका अत्यधिक प्रभाव पडा है। जैन आगम ग्रथो की कथाओ मे वारम्वार पुनर्जन्म के उल्लेख किये गये हैं।[2]

हमारे कवि की समस्त रचनाओ के वस्तु-विन्यास का मुख्य आधार यही जन्मान्तर वाद है। प्रत्येक जैन महापुरुप अथवा पात्र के जीवन-चरित्र के साथ-साथ उसके अनेक पूर्व-जन्मो की गाथाए भी अनिवार्यत वर्णित की गई है। वस्तुत जन्मान्तर वाद को इतना महत्व देने का प्रधान कारण यह है कि इसके द्वारा जैन आचार्य जन-साधारण को यह वतलाना चाहते थे कि अमुक कार्य करने से भावी जीवन मे अमुक प्रकार का सुख अथवा दु ख भोगना पडता हैं।

ऋपभ देव एक स्थान पर कहते है कि जीव चतुर्कपाय (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) मे आसक्त तथा मिथ्या सयम के वश मे होकर अनेक जन्म धारण करके इस ससार मे विचरण करता है।[3]

इस प्रकार जैन धर्म ने जन्मान्तर वाद के सहारे जन-समुदाय को दुष्कर्म से विमुख करके धर्म तथा सदाचार के पथ की ओर प्रेरित किया है। परन्तु कहना न होगा कि काव्य-कला की दृष्टि से यह प्रयत्न कथानक को जटिल वनाकर मूल कथा की रोचकता तथा प्रवाह मे व्यवधान अवश्य उत्पन्न कर देता है। कवि ने स्थल-स्थल पर छद-परिवर्तन के द्वारा इस दोप का परिहार करने की चेष्टा की है।



(१) हमारी साहित्यिक समस्याए, डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ६०-६१

(२) इण्डियन लिटरेचर, एम० विंटरनिट्ज, भाग २, पृ० ४५३

(३) चउ कसाय रस रसिय ओ मिच्छा सजमवसियओ।
णाणाजम्म् वियारए आहिंडइ ससारए। मपु० ७।५।१-२

अध्याय ७

वस्तु वर्णन

सामान्यत काव्य मे वस्तु-वर्णन की दो शैलियाँ प्रचलित रही हैं। प्रथम है वस्तु परिगणन शैली, जिसमे वर्णनीय विषय से सम्बन्धित वस्तुओ की नामावली मात्र प्रस्तुत करके ही कवि-कर्म की इतिश्री मान ली जाती है। दूसरे प्रकार की शैली मे वर्णनीय वस्तु का बिम्ब ग्रहण कराने की चेष्टा की जाती है। श्रेष्ठ काव्य-रचना मे द्वितीय शैली को ही महत्व दिया जाता है।

वस्तु-वर्णन काव्य का आवश्यक अग है। उसके द्वारा कवि के व्यापक अनुभव तथा अन्वीक्षण-शक्ति का पता लगता है। यदि वर्णन कुशलता से किया जाता है तो काव्य का इतिवृत्तात्मक अश पर्याप्त सरस हो जाता है।

हमारे कवि के वस्तु-वर्णन मे दोनो ही शैलियो के दर्शन होते हैं। परन्तु वर्णन चाहे देश-नगर का हो, चाहे युद्ध-स्थल का, हर स्थान पर कवि का हृदय साथ रहता प्रतीत होता है। इसी कारण उसके अनेक वर्णन मनोरम तथा स्वाभाविक बन गये है।

प्रस्तुत अध्याय मे हम कवि के वस्तु-वर्णन के विविध रूपो की चर्चा करेंगे।

प्रकृति-वर्णन

प्रकृति का मानव से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह मानव की सहचरी मानी गई है। मानव के समस्त क्रिया-कलाप प्रकृति पर ही आधारित रहते है। इस कारण प्रकृति-चित्रण काव्य का अनिवार्य अग माना गया है।

पुष्पदत के काव्य मे प्रकृति को महत्व-पूर्ण स्थान दिया गया है। अवसर के अनुकूल कवि ने अपने काव्य को उसके विविध रूपो द्वारा अलकृत करने का प्रयत्न किया है।

सर्वप्रथम हम महापुराण के मगध-वर्णन को लेते हैं। कवि वहाँ की वन-शोभा का वर्णन इन शब्दो मे करता है—

अकुरियइ णवपल्लव घणाइ, कुसुमिय फलियइ ण दणवणाइ ।
जहि कोइलु हिंडइ कसणपिडु वणलच्छिहे ण कज्जलकरडु ।
जहि उडडिय भमरावलि विहाइ, पवरिदणीलमेहलिय णाइ ।
ओयरिय सरोवरि हमपति, चल धवल णाइ सप्पुरिसकित्ति ।
जहि सलिलइ मारुयपेल्लियाइ, रविसोमभएण व हल्लियाइ ।
(मपु० १।१२।१-५)

मगध का नन्दन वन पुष्पो तथा फलो से लदा है। नवीन पल्लव अकुरित हो रहे है। जहाँ कृष्ण-वर्ण की कोयल इधर-उधर उड रही है, मानो वन-लक्ष्मी का कज्जल-करड है। जहाँ उडती हुई भ्रमरावली भूमि को नील वर्ण का बना रही है। सरोवरो मे से हस-समूह अवतीर्ण होकर ऐसे प्रतीत होते है, मानो सत्पुरुष की धवल कीर्ति उड रही है। जहाँ वायु द्वारा आन्दोलित होता हुआ जल ऐसा प्रतीत होता है, मानो रवि के शोषण-भय से व्याकुल हो।

अव गगा-वर्णन देखिए। कवि ने महाराज भरत की विजय-यात्रा के प्रसग मे वडे मनोयोग के साथ गगा के सौन्दर्य का अकन किया है। प्रतीत होता है कि कवि उसकी शोभा पर अत्यत मुग्ध था। कुछ स्थल प्रस्तुत हैं --

घत्ता—पडुर गगाणइ महियलि घोलइ किणरसरसुहमतहो ।
अवलोइय राएँ छुडु छुडु आएँ साडी ण हिमवत हो ॥
(मपु० १२।५।२९-३०)

ण सिहरिवरारोहणणिसेणि, ण रिसहणाहजसरयणखाणि ।
णिम्मल णावइ जिणणाहवाय, मयरकिय ण वम्महवडाय ।
ण विसमविडप्पभउत्तसति, धरणीयलि लीणी चदकति ।
ण णिद्धधोयकलहोयकुहिणि, णकित्तिहि केरी लहुय वहिणि ।
गिरिरायसिहरपीवरथणाहि, ण हारावलि वसुहगणाहि ।
वियलियकदरदरिवडिय सच्छ, धरणिहरकरिदहु णाइ कच्छ ।
सिय कुडिल तहु जि ण भूइरेह, ण चक्कवट्टिजयविजयलीह ।
आयासहु पडिय धरित्तियाइ, सुडिच्छिय ण पियसहि पियाइ ।
पक्खलइ वलइ परिभमइ ठाइ, णियठाणभसचिताइ णाइ ।
णिग्गय णयवम्मीयहु सवेय, विसपउर णाइ णाइणि सुसेय ।
हसावलिवलयविइण्णसोह, उत्तरदिसिणारिहि णाइ वाह

घत्ता—वहुरयणणिहाणहु सुट्ठु सुलोणहु धवलविमलमथरगइ ।
सायरभत्तारहु सइ गभीरहु मिलिय गपि गगाणइ ।
(मपु० १२।६।१-१३)

अर्थात पाण्डुर गगा मधुर स्वर करती हुई भूमि पर वहती है। भरत को वह हिमवत की साडी के समान प्रतीत हुई। गगा मानो पर्वतारोहण की नसेनी (सीढी) है, ऋषभनाथ के यश की रत्न-राशि है, जिन की निर्मल वाणी है, मकराकित मन्मथ-पट है, राहु के भय से भूमि पर आई हुई चद्रकान्ति है, अति निर्मल रौप्य-मार्ग है, कीर्ति की लघु भगिनी है, वसुधानारी की हारावली है, धरणिधर करिंद की स्वच्छ कक्षा है, उसी की श्वेत कुटिल भस्म-रेखा है, चक्रवर्ती सम्राट् का विजय-लेख है, आकाश से धरित्री पर आई हुई प्रिया है जो निज स्थान-त्याग की चिंता मे परिभ्रमित होती है, लिष-प्रचुर श्वेत नागिन के समान वल्मीक से निकली है। गगा मानो उत्तर दिग्वधू की बाहु है जिस पर हस-पक्ति रूपी वलय शोभा दे रही है। धवल विमल मथर गति वाली गगा मानो वह रत्न-निधान, सुन्दर सलोने तथा गम्भीर सागर-भर्त्ता से मिलने के लिये जा रही है।

दूसरे कडवक मे कवि कहता है—

जहि मच्छपुच्छपरियत्तियाइ, सिप्पिउच्छलियइ मोत्तियाइं।
घेप्पति तिसाहय गीयएहि, जलबिंदु भणिवि वप्पीहएहि।
जलरिट्ठहि पिज्जइ जलु सुसेउ, तमपु जहि णावइ चदनेउ।
सोहइ रत्तुप्पलदलरुईइ, पुणु सो ज्जि णाइ सभारुईइ।
जहि कीरउलइ कीलारयाइ, दहिकुट्टिमि णावइ मरगयाइ।

(मपु० १२।७।१-५)

अर्थात् जिस गगा मे मत्स्यो के पुच्छ से अभिहित तथा उछलती हुई सिप्पियाँ मोतियो के सदृश प्रतीत होती हैं, जहाँ तृष्णाहत कठ वाले पपीहे गगा-जल को सामान्य जल-विंदु कह कर छोड देते हैं, जहाँ तम-पुज मे ज्योत्स्ना के समान श्वेत जल को काक-समूह पीते हैं रक्त कमल-दल जहाँ सध्या-राग के समान शोभित होते है, जहाँ क्रीडा करते हुए शुक-समूह दही के फर्श पर मरकत मणियो के समान प्रतीत होते है।

अव नारी के रूप मे गगा का सौंदर्य देखिए—

झसणयणी विब्भमणाहिगहिर, णवकुसुमविमीसयभमरचिहुर।
मज्जतकुभिकुभत्थणाल, सेवाल णील णेत्ताचलाल।
पडविडविगलिय महुघुसिणपिंग, चलजल भगावलिवलितरग।
सियधोलमाणडिडीरचीर, पवणुद्धयतारतुसारहार।
वित्थिण्ण मणोहर पुलिणरमण, णइ णाइ विलासिणि मदगमण।

(मपु० १२।८।२-६)

अर्थात् मत्स्य रूपी नेत्रो वाली, आवर्त रूपी गभीर नाभि वाली, नवकुसुम-विमिश्रित भ्रमर रूपी केश वाली, मज्जन करते हुए हाथियो के कुभस्थल के समान

स्तन वाली, शैवाल के समान नील चचल नेत्र वालो, तटस्थित विटपो से झरते हुए मधु रूपी कुकुम से पिंग वर्ण वाली, चचल जलतरग रूपी वलि वाली, श्वेत प्रवाहित फेन रूपी वस्त्र वाली, पवनोद्धत शुभ्र तुपार रुपी हार वाली, तथा अपने मनोहर विस्तीर्ण पुलिनो से रमण करती हुई गगा मथर-गति-गामिनी रूपवती तरुणी के समान शोभित होती है।

कवि के गगावतरण प्रसग मे प्रकृति के उग्र रूप के दर्शन होते हैं। यहाँ कवि की भापा भी भावानुगमन करती हुई चलती है—

मविसइ विमिविवरइ पइसरति, फणिफुक्कारिहिं दरोसरति।
गिरिकदर दरि सर सरि भरति, दिस णहयलु थलु जलु जलुकरति।
उत्तुगतरगहिं णहि मिलति, वियडयरसिलायल पक्खलति।
कच्छवमच्छोह समुच्छलनि, हसावलि कलरव कलयलति।
पत्रिउलजनवलयहिं चलवलति, कड्ढिय गगाणइ खलखलति।
(मपु० ३६।१२।४-८)

यमुना का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि सघनतमा यामिनी मानो मथर वारि गामिनी कालिंदी के रूप मे महीतल पर स्थित है। उसको नीलिमा के विपय मे वह कहता है कि यमुना मानो नारायण (वासुदेव) के शरीर की प्रभा-पक्ति है, अजन-गिरिवरेन्द्र की कान्ता है, भूमि पर कस्तूरी की रेखा है, उसकी तरगे वृद्धावस्था की वलीयुक्त देह है, गिरिरूपी गज को दान-रेखा है, कस राज की जीवित मर्यादा है, वसुधा पर अवत्तीर्ण मेघमाला है अथवा मोतियो से शोभित श्याम वाला है—

दुवई—ता कालिंदि तेहि अवलोइय मथरवारिगामिणी।
ण मरिरूवु वरिवि थिय महियलि घणतमजोणि जामिणी।
णारायणतणुपहपती विव, अजणगिरिवरिंदकती विव।
महिमयणाहिरइय रेहा इव, वहुतरग जरहयलेहा इव।
महिहरदतिदाणरेहा इव, कसरायजीवियमेरा इव।
वसुहणिलीणमेहमाला इव, साम समुत्ताहल वाला इव।
(मपु० ८५।२।१-५)

अव लका के समुद्र का दृश्य देखिए। उसमे रौद्र रूप से तरगें उठ रही हैं। नौकाओ के समूह जा रहे हैं। अथाह जल-राशि पर चन्द्रमा प्रतिविम्वित हो रहा है। मत्स्य-समूह के पारस्परिक सघट्टन से शुक्तिकाए टूट रही हैं। मुक्ता-सदृश जल-वुद-राशि नभाच्छादित होकर किरणो का अवरोध कर रही है। इधर-उधर दौडते मगरो के कारण आदोलित जल मे विशाल लहरें उठ रही हैं। शोभमान तट पर गर्जन करते हुए हाथियो के समूह स्नान कर रहे है। कवि ने समुद्र-तट का वास्तविक चित्र उपस्थित कर दिया है—

तओ तेण जतेण दिट्ठो समुद्दो, पधावंत कल्लोलमाला रउद्दो ।
जलुम्मग्गणिम्मग्ग बोहित्थवदो, अथाहंभपब्भारसकत चदो ।
झसप्फोड फुट्टत सिप्पीसमूहो, णहुक्खित्तमुत्ताहलो भाणुरोहो ।
दिसाढुक्कणक्कुग्गयत करालो, चलुप्पिच्छपल्हत्थवेला विसालो ।
पवालकुरुक्केर राहिल्लरूहो, पगज्जत मज्जत मायंगजूहो ।
(मपु० ७३।१२।३-७)

हिमालय प्रदेश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि कही नाना फलो वाले वृक्ष हैं, कही वानर किलकारी भरते हुए दौड रहे हैं, कही रति-रत सारस हैं, कही तपस्वी तप कर रहे है, कही निर्झर झर रहे हैं, कही जल-पूरित कदराए हैं, कही फल-भार से नमित वल्लरिया हैं और कही भोले-भाले शबर देखते ही भागते हैं—

णाणामहिरुह फलरसहरइ, कत्थइ किलिगिलियइ वाणरइ ।
कत्थइ रइरत्तइ सारसइ, कत्थइ तवतत्तइ तावसइ ।
कत्थइ झरझरियइ णिज्झरइ, कत्थइ जलभरियइ कदरइ ।
कत्थइ वीणियवेल्लीहलइ, दिट्ठइं भज्जतइ णाहलइं ।
(मपु० १५।१।६-६)

इसी प्रकार कैलाश पर्वत पर देव-खेचर समूह विचरण कर रहे हैं, निर्झर से झरता हुआ जल भर रहा है, गधर्व अग्नि मे सुगधित द्रव्य जला कर ताप रहे है, तरु-समूह के कारण नीलिमा छाई है, कपि निनाद कर रहे हैं। कैलाश गगन मण्डल को छूता हुआ ऐसा प्रतीत होता है मानो महि रूपो कामिनो अपनी भुजा उठा कर स्वर्ग की ओर सकेत कर रही है—

सुरणियरहिं खयरहि परियरिउ, णिज्झरझरतवारिहिं भरिउ ।
गधव्वहि भव्वहि सेवियउ, सिहिजालहिं चवलहि तावियउ ।
तरुजालहि णीलहि छाइयउ, कइबुक्कारेंहि णिणाइयउ ।
घत्ता—सो महिहरपवरु दीसइ गयणगणि लग्गउ ।
ण महिकामिणिहि भुयदडु पदसियसग्गउ ।
(मपु० १५।१६।६-१०)

कवि ने सूर्योदय के वर्णन नई स्थलो पर किये हैं। ऋषभ-विवाह के अवसर पर रात्रि मे नृत्य गान महोत्सव होता है। आनन्द उल्लास के उसी वातावरण मे प्रात.काल होता है। कवि के शब्दो मे उसका वर्णन देखिए—

घत्ता—उट्ठिउ रविबिंबु दियहसिरिए अरुणकिरणमालाफुरिउ ।
उययइरि महारायहु उवरि णवरत्तउं छत्तु व धरिउ ॥
(मपु० ४।१८।१३-१४)

जभेट्टिया—ससिपायाहया दुक्ख पिव गया।
अलिरवरसणिया रुयइ व मिसिणिया॥
दसइ पविमल ओससुयजल।
त पसरियकरो पुसइ व तमिहरो॥
ण सोहइ दीविय जवुदीउ, णहमहिसग्गवपुडि दिण्णु दीउ।
अद्भुग्गमतु ण लोयणयणु, ण एतहु मेसहु सीसरयणु।
ण वाडिवग्गि णहसायरासु, णं दिसणिसियरिमुहमासुगासु।
ण ताहि जि केरुउ अहरविवु ण णिसिवहुवहि पयमग्गु तवु।
ण वासरविडवकुरु विणित्तु, ण जगकरडि पवलउ णिहित्तु।
(मपु० ४।१६।१-६)

अर्थात् अरुण किरण-माला से स्फरित दिवस की शोभा दर्शनीय है, रवि-विम्व उदय हुआ मानो उदयगिरि महाराज के ऊपर नवीन रक्त वर्ण का छत्र स्थापित है। अलि-रव की रसिक कमलिनी, शशि-पाद से आहत तथा दुख से सतप्त हो रुदन करती है। उसके विमल अश्रु (कमल-पत्र पर) स्पष्ट दर्शित हैं। वाल सूर्य अपनी प्रसरित किरणो से उसका मार्जन करता है। आगे कवि कहता है कि मानो जवूद्वीप दीप्तिमान है, मानो नभ-महिषी का दीपक है, मानो लोकनयन है, मानो शेष का शोश-रत्न है, मानो नभ-सागर की वाडवाग्नि है, मानो दिशा-निशाचरी के मुख मे मास-ग्रास है अथवा उसी का अवर-विम्व है, मानो निशा-वधू का ताम्र पद-मार्ग है, मानो दिवस रूपी वृक्ष का अकुर विनिर्गत है।

उपर्युक्त वर्णन मे वाल सूर्य के लिये दिशानिशाचरी के मुख के मास-ग्रास की उत्प्रेक्षा कुछ खटकती अवश्य है। वर्णन को अलकृत वनाने वाले चमत्कार-विधान के कारण सौंदर्य-चेतना का कुठित होना स्वाभाविक ही होता है। आगे चल कर केशव ने भी अपने काव्य मे इसी प्रकार के प्रयोग किये हैं।[1] कहना न होगा कि ऐसे उपमान काव्य-प्रसग मे रसाभास उत्पन्न कर देते हैं।

सूर्योदय का एक अन्य वर्णन मपु० १६।२६।३-१३ मे भी है।

सध्या का वर्णन भी द्रष्टव्य है। कवि कहता है कि सन्ध्या मानो रति का निलय है, मानो पश्चिम दिशा रूपी वधू का कुकुम-तिलक है, मानो स्वर्ग-लक्ष्मी का माणिक्य पतित हुआ है, मानो नभ-सरोवर का रक्त कमल है, मानो जिन-गुण मुक्त हुआ है अथवा मकरध्वज का राग-पुज है। सूर्य का अर्धविम्व जलनिधि के जल मे डूब चुका है, मानो दिश-कुजर का कुभस्थल दृष्टिगोचर हो रहा है, मानो सागर के जल मे दिवस-नारी का गर्भ चू पडा है, अथवा लक्ष्मी का कनक-वर्ण कलश स्खलित हो जल-निमग्न हो रहा है—

(१) केशवदास, डॉ० हीरालाल दीक्षित (स० २०११) पृ० १३४

रत्तउ दीसइ ण रइहि णिलउ, णं वरुणासावहुघुसिणतिलउ ।
णं सग्गलच्छिमाणिक्कु ढलिउ, रत्तुप्पलु णं णहसरहु घुलिउ ।
णं मुक्कउ जिणगुणमुद्धएण, णियराय पुंजु मयरद्धएण ।
अद्धद्धउ जलणिहिजलि पइट्ठु, ण दिसिकुजरकु भयलु दिट्ठु ।
चुउ णियछविरंजियसायरम्भु, ण दिणसिरिणारिहि तणउगब्भु ।
....

लच्छीहि भरतिहि कणयवण्णु, णिच्छुट्टवि कलसु व जलि णिमण्णु ।
(मपु० ४।१५।५-११)

दिवस-रात्रि के सधि-स्थल का अन्य वर्णन कवि ने मपु० १६।२३-२४ मे किया है । इसी प्रकार मपु० २८।३४ मे रणभूमि तथा सन्ध्या के दृश्यो का साम्य उपस्थित किया गया है ।

अब चन्द्रोदय-वर्णन देखिए । कवि ने अनेक उपमानो द्वारा वर्णन को अलकृत किया है—

ता उइउ चदु सुरवइ दिसाइ, सिरिकलसु व पइसारिउ णिसाइ ।
सइं भवणालउ पइसतियाइ, तारादतुरउ हसतियाइ ।
ण पोमाकरयलल्हसिउ पोमु, ण तिहुयणसिरिलायण्णधामु ।
सुरउब्भवविसमसमावहारु, तरुणीथणविलुलिय सेयहारु ।
णं अमयबिंदुसदोहु रुंदु, जसवेल्लिहि केरउ णाइ कदु ।
माणियतारासयवत्तफसु, ण णहसरि सुत्तउ रायहसु ।
आयासरगि ससहावगोद्धु, ण कामएव अहिसेयवीढु ।
ण यदहु धरियउ धवलछत्तु, तहं विइ ण दप्पणु णिहित्तु ।
घत्ता—वरतारातदुल घिविवि सिरि ससि परिवट्टलु रइणिलउ ।
दिसिरमणिइ णिसिहि वयसियाह णावइ दहिए कउ तिलउ ।
(मपु० ४ । १६ । ७-१६)

अर्थात् पूर्व दिशा मे तब चन्द्र उदय हुआ । मानो निशा ने श्रीकलश निकाला है । स्वय भवन मे प्रवेश करते हुए ताराओ रूपी दातो से हसती जा रही है. मानो लक्ष्मी के कर से पतित पद्म है, मानो त्रिभुवनश्री का लावण्यधाम है सुरत के विषम श्रम को शान्त करने वाला है, तरुणी के उरस्थल पर विलुलित स्वेद-हार है मानो विस्तीर्ण अमृतविन्दु का पुज है, मानो यश-वल्लरी का कद है । मानो नभ-सरोवर मे सोता हुआ राजहस है, मानो इन्द्र का धवल छत्र है अथवा शची का दर्पण है । मानो दिशा रमणी ने निशा को दधि-तिलक लगा कर तारा रूपी तदुल बिखरा दिये हैं ।

चन्द्रोदय का एक अन्य वर्णन जसहर चरिउ (२ । २ । ५-१०) मे भी है। इसी प्रसग मे धवल रात्रि का चित्राकन करते हुए कवि कहता है कि शशि रूपी घट के ज्योत्स्ना रूपी क्षीर से स्नान करके समस्त भुवन रौप्य-रजित हो गया है, मानो तुषार-हारावलि छाई है—

ससिघड गलिए जोण्हाखीरिं, भुवण ण्हाय पिव गभीरिं।
दीसइ धवल रुप्पयरइय, ण तुसारहारावलिछइय।

(जस० २ । ३ । १-२)

कवि का ऋतु-वर्णन भी परपरा-भुक्त है। उसने मुख्यत वसत, पावस तथा शरद् के वर्णन किये हैं।

वसत के आगमन पर कवि का कथन है कि अकुरित, कुसुमित तथा पल्लवित होता हुआ मधुमास विलसित है। इस समय जहाँ अचेतन तरु तक विकसित हो जाते हैं, वहाँ चेतन मनुष्य क्यो न प्रफुल्लित हो? आगे कवि आम्र, चम्पक, अशोक, मदार तथा पलाश के वृक्षो के प्रति अनेक उत्प्रेक्षाए उपस्थित करता हुआ कहता है कि कानन मे पलाश के विकसित होते ही पथिक जनो मे विरहाग्नि जलने लगी, मल्लिका के विकसित होते ही रमणियो मे रति-लोभ का सचार होने लगा, शीघ्र ही भ्रमर रूपी विट-समूह मे मद की वृद्धि होने लगी और वे चुम्बन करके वेलि-कुसुम-रस काढने लगे। इस समय वसत मानो कुद-कुसुम रूपी दातो को विकसित करता हुआ हस रहा है और कोकिल अपने स्वर से मानो कामदेव का डका वजा रही है—

घत्ता—अकुरियउ कुसुमिउ पल्लविउ महुसमयागमु विलसइ।
वियसति अचेयण तरु वि जहिं तहिं णरु किं णउ वियसइ।

(मपु० २८ । १३ । १०-११)

छुडु मायद रुक्खु कटइयउ, महुनच्छिइ आलिंगिवि लइयउ।
छुडु चपयतरु अकूरचिउ, ण कामुउ हरिसें रोमचिउ।
छुडु ककेल्लि किं पि कोरइयउ, ण वम्महचित्तारें रइयउ।
छुडु मदारसाहि पल्लवियउ, चलदलु ण महुणा णच्चवियउ।
छुडु जायउ णमेरु कलियालउ, मत्तचओरकीररावालउ।
छुडु काणणि पप्फुल्लु पलासउ, पहियहु लग्गउ विरहहुयासउ।
छुडु फुल्लिउ मल्लियफुल्लोइउ, रमणीयणि पसरिउ रइलोहउ।
छुडु छइयणविडउलि मउ वड्ढिउ, वेल्लिकुसुमरसु चुबिवि कड्ढिउ।
कुदु कुसुमदतहिं ण हसियउ, कोइलु कामडक्कु ण रसियउ।

(मपु० २८ । १४ । १-१०)

इसी प्रसग मे कवि ने कुसुम-पराग की रगावली, नवरक्तोत्पल कलिका के नृत्य, राज-हसिनी रूपो कामिनियो के साथ उपवन रूपी भवन मे वसत रूपी राजा

के स्थित होने तथा कमल-पत्र रूपी थाल मे श्वेत जल-कणो की शोभा के उल्लेख किये हैं—

थिप्पिरमहुछडयहिं महिधुलियइ, सुमणसुरहिरयरगावलियहिं।
णवरत्तुप्पलकलियादीवहिं, चदकवयणडणच्चणभावहिं।
धवलकुसुममजरिधयमालहिं, गुमगुमतमहुलियगेयालहिं।
रायहसकामिणिकयरमणहिं, थिउ वसतपहु उववणभवणहिं।
(मपु० २८। १५। १-४)

सियजलकण तदुल सोहालहि, भिसिणिपत्तवरमरगयथालहिं।
(मपु० २८। १५। ६)

सीता-विवाह के प्रसग मे भी कवि ने वसत की अवतारणा की है। (देखिए मपु० ७० । १४-१५)। कवि के कथनानुसार इस मगलमय अवसर पर वसत स्वयं उत्सव देखने आया है—

तहिं समइ पराइउ महुसमउ णं विवाहु अवलोयहु।
(मपु० ७०। १३। १५)

कवि के पावस-वर्णन मे नाद-सौंदर्य की छटा दर्शनीय है। प्रभावोत्पादक वर्ण-योजना द्वारा सहज ही घन-गर्जन का आभास होता है—

विसकालिदिकालणवजलहरपिहियणहतरालओ।
धुयगयगडमडलुड्डावियचलमत्तालिमेलओ॥
अविरलमुसलसरिसथिरधारावरिसभरतभूयलो।
हयरवियरपयावपसरभग्गयतरुतणणीलसद्दलो॥
पडुतडिवडणपडियवियडायलरुजियसीहदारुणो।
णच्चियमत्तमोरगलकलरवपूरियसयलकाणणो॥
गिरिसरिदरिसरतसरसरमयवाणरमुक्कणीसणो।
महियनधुलियमिलियदुद्दुहसयवयसालूरपोसणो॥
घणचिक्खल्लखोल्लखणि खेइयहरिणसिलिवकयवहो।
वियसियणवकलवकुसुमुग्गयरयपिंजरियदिसिवहो॥
सुरवइचावतोरणालकियघणकरिभरियणहहरो।
विवरमुहोयरतजलपवहारोसियसविसविसहरो॥
पियपियपियलवतबप्पोहयमग्गियतोयविंदुओ।
सरतीरुल्ललंतहसावलिझुणिहलवोलसंजुओ॥
चंपयचूयचारचवचदणचिंचिणिपीणियाउसो।

अर्थात् विप तथा कालिंदी के समान मेघो से नभ-अतराल आच्छादित हो गया है, जैसे कपित गज-गडस्थल से उडाये गये मत्त भ्रमर-समूह हो । अविरल मूसलाधार वर्पा से समस्त भूतल भर गया है। मेघो के कारण रवि-किरणो का प्रकाश भी रुका हुआ है। सर्वत्र पत्र-युक्त तरु तथा तृण से भूमि नील वर्ण की है। सिंह-गर्जन के समान विद्युत-पतन के भयकर शब्द से दिशाएँ पूरित है। नृत्य करते हुए मत्त मयूरो के कलरव से सम्पूर्ण कानन व्याप्त है। पर्वतीय सरिता के गुहा-प्रवेश से उत्पन्न सर-सर नाद से भयभीत वानर चिल्ला रहे हैं। इस समय भूमि दु दुह निर्विष सर्प), शतपद सर्प, सालूर (मेढक) आदि का पोषण करती हुई प्रतीत होती है। घने पक-पूरित गर्त, उनमे गिरे हुए मृग-शावको के समाधि-स्थल वन गये हैं। नव विकसित कदव-कुमुमो के पराग से दिशाए पीत-वर्ण की हो रही हैं। इद्र-धनुष रूपी तोरण से अलकृत आकाश मेघ रूपी हस्तियो से घिर गया है। अपने बिलो मे जल-धारा के प्रवेश से सर्प क्रुद्ध हो उठे हैं। पी-पी शब्द करता हुआ चातक जल-बिंदु-याचना करता है। सरोवर का तट केलि करते हुए हस-समूह के कोलाहल से सयुक्त है। पावस के द्वारा चपक, आम्र आदि वृक्षो मे प्राण-सिंचन सा हो गया है।

इसी प्रकार मेघमुख द्वारा भरत-सेना पर भयकर वर्पा किये जाने के प्रसंग मे कवि ने प्रलय-काल की वर्पा का दृश्य उपस्थित कर दिया है। यहाँ विद्युत का तड-तड शब्द करके गिरना, कड-कड करते हुए वृक्षो का टूटना, पर्वतो का ध्वस्त होना, अत्यन्त वेग से जल का कन्दराओ मे भरना, समस्त भूतल का जल-मग्न होना तथा मार्ग-कुमार्ग का न सूझना आदि वर्णन से कवि ने पावस की प्रवलता का बोध करा दिया है—

तडि तडयडइ पडइ रुजइ हरि तरु कडयडइ फुडइ विहडइ गिरि ।
जलु परियलइ घुलइ घुम्मइ दरि, अइरइ सरइ भरइ पूरें सरि ।
जलु थलु सयलु जलु जि सजायउ, मग्गु अमग्गु ण किं पि वि णायउ ।
(मपु० १४।६।७-६)

इसके अतिरिक्त कवि ने अवसर के अनुकूल अन्यत्र भी पावस के वर्णन किये हे। नमि-निर्वाण-प्रसग (मपु० ८०।६) मे ऐसा ही एक स्थल है। यहाँ इद्र-धनुष की एक सुन्दर उत्प्रेक्षा मे कवि कहता है कि मनुष्यो मे कौतुक उत्पन्न करने वाला इद्र-धनुष नवीन घनो के वीच ऐसा प्रतीत होता है मानो नभ-श्री के वक्ष स्थल पर रगीन वस्त्र हो—

घत्ता—ता णवघणसमइ पराइयउ सुरधणु जणकोड्डावणउ ।
सोहइ उवरित्थु पयोहरहं ण णहसिरिउप्परियणउ ॥
(मपु० ८०।८।११-१२)

कवि का शरद्-वर्णन भी मनोहर है। उसमे शरद् के आगमन पर नभ का स्वच्छ होना, दिशाओ का रज-रहित होना, शशि-कुंभ से ज्योत्स्ना रूपी जल द्वारा निर्मलता का प्रक्षालन, चन्द्रमा द्वारा कमल का पराभव तथा क्रोध से उसका चन्द्रमा मे पक लगाना, तरु-कुसुमो का महकना, मद्यप भ्रमरो का गुंजार करना आदि वर्णन प्राप्त होते हैं—

छुडु छुडु सरयागमि अप्पमाणु, णहु णाइ धोयहरिणीलभाणु।
....
.. ..
अइ दस वि दिसा सइं गयरयाइं, ण चारित्तइं सज्जणकयाइं
ससिकुंभगलियजोण्हाजलेण, पक्खालियाइ ण णिम्मलेण।
णिड्डहइ कमलु सरए ससंकु, तहु तेण जि लग्गउ पिंडपंकु।
....
तरु कुसुमामोएं महमहंति, रयकविलइ सलिलइ वणि वहंति।
अलि रुणुरुणंति पावाहपिंड, महुमत्ता ण गायंति सोंड।
(मपु० १२।१।३-१४)

इस प्रकार हम देखते है कि कवि ने प्रकृति-चित्रण मे सर्वत्र उस अलंकृत शैली का प्रयोग किया है, जो संस्कृत के माघ, बाण आदि कवियो मे सामान्यतः दिखाई देती है। कवि के समुद्र तथा गंगा के वर्णन विशेष रूप से उसके-प्रकृति-प्रेम के परिचायक कहे जा सकते हैं।

देश-नगर वर्णन—

प्रबंध-काव्यो मे सामान्यत देश-नगर के वर्णन अवश्य ही किये जाते हैं। रामायण तथा महाभारत के अतिरिक्त संस्कृत के अनेक ग्रंथो मे इस परंपरा का निर्वाह किया गया है। कादम्बरी मे अवंती की राजधानी उज्जयिनी तथा किरातार्जुनीय के चतुर्थ सर्ग मे ग्रामो के सुन्दर वर्णन प्राप्त होते है। स्वयंभू के पउम चरिउ मे मगध एवं राजगृह के वर्णन भी उल्लेखनीय हैं।

हमारे कवि ने देश-नगरो के प्रचुर वर्णन किये है। इन वर्णनो मे अप्रस्तुत-योजना द्वारा उनके उत्कर्ष की वृद्धि करने के साथ ही अनेक स्वाभाविक चित्रण भी प्राप्त होते है। विशेष रूप से ग्राम्य जीवन की झांकियाँ अत्यन्त सरस हैं। गोधन-परिपूर्ण ग्राम, गोपालो के हास-विलास, दधि-मथन-रव, धान के लहलहाते खेत आदि के चित्र कवि ने पूर्ण तन्मयता के साथ वर्णन किये हैं। इसी प्रकार नगरो के वर्णन के साथ उनके निकट-वर्ती उपवन, वाटिका वापी, सरोवर आदि की ओर भी कवि की दृष्टि गई है। नगरो मे वेश्या-बाजारो एवं द्यूतगृहो के दृश्य भी स्वाभाविक है। कवि स्वयं उस महानगरी मान्यखेट मे निवास करता था, जिसकी समृद्धि की ख्याति समग्र देश मे फैली थी।

अत कोई आश्चर्य नही, कि मान्यखेट के वातावरण का प्रभाव कवि के इन वर्णनो पर पडा हो ।

कवि ने मगध तथा यौधेय देशो के वर्णन अत्यन्त रुचि के साथ किये हैं। मगध के वर्णन मे कवि कहता है कि जहाँ इक्षु के खेत रस से परिपूर्ण है, मानो सुकवि का शृ गारादि रसो से पूर्ण काव्य हो। जहाँ महिष-वृषभ उत्साह मे परस्पर जूझते है, गोपियो की मथानी की ध्वनि सुन पडती है, बछडे अपनी पूछ उठाए चपलता मे भागते हैं, गोकुलो मे गोपाल क्रीडा-रत हैं—

जहिं उच्छुवणइ रसगब्भिणाइ, णावइ कव्वइ सुकईहिं तणाइ ।
जुज्झत महिस वसहुच्छवाइ, मथाम थियम थणिरवाइ ।
चवलुद्धपुच्छवच्छाउलाइ, कीलियगोवालइ गोउलाइ ।
(मपु० १।१२।८-१०)

जहाँ के नन्दन-वन कल्पवृक्षो से पूर्ण है, पके हुए धान के खेत हैं, वक तथा हसो की पक्तिया स्थित हैं। जहाँ के जलाशयो मे क्षीर सदृश जल है। जहाँ कामधेनु के समान गोधन हैं, जो स्नेह-पूरित हो घडो दूध देते हैं। जहाँ सकल जीवो का पोषण होता है तथा खेतो मे प्रचुर धान्य उत्पन्न होता है। जहाँ के द्राक्षा-मण्डप पथ-श्रम-मोचन करते है। जहाँ कोमल भूमि पर पथिक शयन करते हैं। जहाँ ग्राम-वधुओ का मधुर कलरव सुनाई देता है, जिसके कारण पथिक हरिणो के समान ठहर जाते है—

जहिं सुरवर तरुणदणवणाइ, जहिं पिक्क सालि घण्णइ तणाइ ।
वयसयहसावलि माणियाइ, जहिं खीरसमाणइ पाणियाइ
जहिं कामघेणुसम गोहणाइ, घडदुद्धइ णेहारोहणाइ ।
जहिं सयलजीव कय पोसणाइ, घणकणकणिसालइ करिसणाइ ।
जहिं दक्खाम डवि दुह्नु मुयति, थलपोमोवरि पथिय सुयति ।
जहिं हालिणिकलरव मोहियाइ, पहि पहियइ हरिणा इव थियाइ ।
(णाय० १।८।५-१०)

यौधेय प्रदेश का वर्णन भी तत्कालीन भारत की सम्पन्नता का द्योतक है। कवि कहता है कि वह प्रदेश इतना आकर्षक है, मानो धरिणी ने दिव्य वेश धारण किया हो। जहाँ के जल-प्रवाह मे ऐसो चचलता है, मानो तरुणो-समूह प्रीति-द्योतक हाव-भाव प्रदर्शित करता हुआ गतिमान हो। जिस देश मे कुकवियो की भाँति भ्रमरो के दल घूमते है, (क्योकि कुकवियो का हृदय श्याम होता है और भ्रमर भी श्याम होते हैं।) जहाँ नेत्र सदृश सचिक्कण तृण-समूह तथा पुष्प-फलो-युक्त मनोहर उपवन ऐसे शोभित है मानो महि कामिनी के नवीन यौवन ही हैं।

जिन उपवनो मे गोपालो द्वारा आस्वादित स्वादिष्ट फल ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो पुण्य रूपी वृक्ष के मधुर फल ही हैं। जहाँ गायें तथा भैंसें सुख से बैठी हैं, जिनके मद-मद रोममन्थ करने से गडस्थल हिल रहे है। जहाँ ईख के खेत रस से सुन्दर हैं और मानो वायु से प्रेरित हो नृत्य कर रहे हैं। जहाँ पके धान के खेत कण-भार से नमित खडे है। जहाँ सपत्र शतदल अलि-युक्त दर्शित होते हैं। जहाँ शुक-समूह दाने चुग रहे हैं। जहाँ किसान-कन्याए प्रतिवचन कहती है तथा जिनके छूत्कार-राग से रजित मन वाले पथिक मोहित हो आगे गमन नही करते। जहाँ वन मे गोपालो के मधुर गीतो को मृग-कुल मुग्ध होकर सुनते है। जहाँ के ग्राम, पुर, नगर आदि जन-धन-कण से परिपूर्ण है—

जोहेयउ णामि अत्थि देसु, णं धरणिए धरियउ दिव्ववेसु।
जहिं चलइ जलाइ सविब्भमाइ, ण कामिणिकुलइ सविब्भमाइ
भग्गालइ ण कुकइत्तणाइ, जहिं णीलण त्तणिद्धइ तणाइ।
कुसुमियफलियइ जहिं उववणाइ, ण महिकामिणि णवजोव्वणाइ।
गोवालमुहालु खिय फलाइ, जहिं महुरड ण। मुकयहो फलाइ।
म थररोम थण चलिय ग ड, जहिं सुहिं णिसण्ण गोमहिसिसड।
जहिं उच्छुवणइ रसदसिराइ, ण पवणवसेण पणच्चिराइ।
जहिं कणभरपणविय पिक्क सालि, जहिं दीसइ सयदलु सदलु सालि।
जहिं कणिसु कीररिंछोलि चुणइ, गहवइमुयाहि पडिवयणु भणइ।
छोक्करण रावरजियमणेण, पहि पउ ण दिण्णु पथियजणेण।
जहिं दिण्णु कण्णु वणि मयउलेण, गोवालगेय रजियमणेण।
जहिं जणधणकण परिपुण्ण गाम, पुर णयर सुसीमाराम साम।
(जस० १।३।४-१५)

कवि ने उत्तर कुरु का वर्णन एक साम्यवादी प्रदेश के रूप मे किया है। प्रतीत होता है कि कवि उस पर अत्यन्त मुग्ध था। वह कहता है कि जहाँ की भूमि स्वर्ण के सदृश सुन्दर तथा जल रसायन सदृश मधुर है—

जहिं चामीयरधरणियलु पाणिउ मिट्ठउ णाइ रसायणु।
(मपु० २८।२।१०)

जहाँ नित्य ही उत्सव होते हैं एव नित्य नवीन तन-तारुण्य दिखाई देता है। ऐसी भोग-भूमि जैसे-जैसे देखिए वैसे-वैसे भली प्रतीत होती है—

णिच्चु जि उच्छवु णिच्च दिहि णिच्चु जि तणुतारुण्णु णवल्लउ।
भोयभूमि रहमाणसह ज ज दीसइ त त भल्लउ॥
(मपु० २६।३।१६-१७)

जहाँ सज्जनो के निवास दुर्जनो द्वारा दूषित नही किये जाते। जहाँ रोष, दोष, आलस्य, इष्ट-वियोग, निद्रा, रात्रि एव दिवाव्यवहार, कुत्सित कर्म आदि नही हैं। जहाँ न अकाल मृत्यु है, न चिन्ता है, न दीनता है और जहाँ किसी का भी शरीर क्षीण नही है।

जहाँ न रोग है, न शोक है, न विषाद है, न क्लेश है एव जहाँ न कोई किसी का दास है और न कोई किसी का राजा है। जहाँ के मनुष्य रूपवान, दिव्य तथा सुलक्षण है, जिनमे गर्व नही है और वे सब परस्पर समान है। जिनके मुख से सदैव सुगन्धित श्वास निकलती है और जिनके शरीर वज्र के समान कठोर हैं, जिनकी आयु तीन पल्य प्रमाण स्थिर रहती है। जहाँ सिंह तथा हाथी बन्धुत्व के साथ रहते हैं। जहाँ न चोर हैं और न महामारी है। ऐसी कुरुभूमि अतिशय स्वर्ग के समान है—

ण दुज्जणु दूसियसज्जणवासु, ण खासु ण सोसु ण रोसु ण दोसु।
ण छिक्क ण जिंभणु णालसु दिट्ठु, ण णिद्द ण णेत्तणिमीलणुसुट्ठु।
ण रत्ति ण वासरु वसु ण धम्मु, ण इट्ठविओउ ण कुच्छिय कम्मु।
अयालि ण मच्चु ण चिंत ण दीणु, कयाइ कहिं पि सरीरु ण खीणु।

•

ण रोउ ण सोउ ण सेउ विसाउ, किंकरु ण दासु ण को वि वि राउ।
सुरूव सलक्खण माणव दिव्व, अगव्व सुभव्व समाण जि सव्व।
मुहाउ विणिग्गिउ सासु सुयंधु कलेवरि वज्जसमट्ठियबंधु।
तिपल्लपमाणु थिराउणिबंधु करीसरु केसरि ते वि हु बंधु।
ण चोरु ण मारि ण घोरुवसग्गु, अहो कुरुभूमि विसेसइ सग्गु।

(मपु० २६।४।१-१०)

कवि ने नगरो के वर्णन भी बडे मनोयोग से किये हैं। राजगृह के विषय मे उसका कथन है कि जिधर देखिए नगर उधर ही श्रेष्ठ दिखाई देता है। वह सूर्यकान्त-चन्द्रकान्त मणियो से विभूषित है, मानो स्वर्ग ने धरती को यह पाहुड (उपहार) भेजा है—

जहिं दीसइ तहिं भल्लउ णयरु णवल्लउ ससि रवि अन्त विहूसिउ।
उवरि विचित्तियधरणिहे सग्गें घरणिहे णावइ पाहुडु पेसिउ।

(मपु० १।१५।६-१०)

णायकुमार चरिउ मे इसी नगर के विषय मे कवि की उक्ति है कि स्वर्ग रत्नों के परकोटे वाले राजगृह के रूप मे मानो स्वय इन्द्रपुरी ही स्वर्ग से गिरी है—

तहिं पुरवरु णामें रायगिहु कणय रयण कोडिहिं घडिउ।
वलिवंडइ घरत हो सुरवइहिं ण सुरणयरु गयण पडिउ।

(णाय० १।६।१३-१४)

स्वयंभू के रिट्ठणेमिचरिउ मे इसी प्रकार की उत्प्रेक्षा विराट नगर के सम्बन्ध में की गई है—

पट्टणु पइसरिय ज धवल-घरालकरियउ ।
केण वि कारणण ण सग्गखड ओयरियउ ।

(रि० च० २८।४)

सभवतः अपभ्र श-कवियो को यह उत्प्रेक्षा बहुत रुचिकर थी । भविसयत्त कहा (धनपाल कृत) मे गजपुर-वर्णन मे भी यही उत्प्रेक्षा है —

तहिं गयउरु णाउ पट्टणु जण जणियच्छरिउ ।
णं गयणु मुएवि सग्ग खडु महि अवयरिउ ।

(भवि० कहा, १।५)

रामायण मे इसी प्रकार लका को धरती पर गिरा हुआ स्वर्ग कहा गया है—

महीतले स्वर्गमिव प्रकीर्णम् ।

(वाल्मीकि रामा० ५।७।६)

अब पुष्कलावती प्रदेश की पु डरिकिणि नगरी की निराली छटा देखिए । वहाँ श्वेत भवनो की प क्तियाँ हैं । नगर मे कु कुम-रस का सिचन होता है । प्रत्येक गृह मे मुक्ता-क चन के प्रागण हैं । जहाँ श्वेत कमलो से युक्त जल-वापियाँ है, जिनमे कुरर, कारण्ड तथा कलहस रमण करते हैं । प्रत्येक गृह-म न्दिर मे स्वेच्छाचारिणी स्त्रियाँ हैं । जहाँ म ृदग की ध्वनि गू जती है तथा कामिनिया नृत्य करती है । जहाँ उपवन-उपवन मे मधुमास दर्शित होता है, जहाँ हाट-हाट मे कुबेर वास करता है, जहाँ यौवन के नव-नव श्रृ गार होते हैं, जहाँ मानव-मानव मे सरस्वती वास करती हैं ।

सेयसउहावली पु डरिगिणि पुरी ।

... ...

घुसिणरससिंचिए हसियगयणगणे, मोत्तियकणचिए प्र गणे प्र गणे ।
अमलिणा सणलिणा जत्य जलवाविया, कुररकार डकलहससेविया ।
मन्दिरे मन्दिरे सइरगइ गोमिणी, हम्मई मद्दलो णच्चए कामिणी ।
महुसमयसगमो उववण उववणे, रमइ वइसवणओ आवणे आवणे ।
वूढसिंगारए जोव्वणे णवणवे, वसइ वरसरसई माणवे माणवे ।

(मपु० ४२।२।६-११)

जसहर चरिउ मे राजपुर नगर का वर्णन अत्यन्त भव्य है । कवि कहता है कि मनोहर रत्न-खचित गृहो मे पवन-प्रक पित तथा नभस्थल से मिलती हुई ध्वजाएँ ऐसी सुन्दर प्रतीत होती हैं, मानो वे अपने हाथो से स्वर्ग का स्पर्श कर रही है—

राउरु मणोहरु रयण चियघरु तहिं पुरवरु पवणुद्धहि ।
चलचिंवहिं मिलियहिं णहयलि घुलियहिं छिवइ व सग्गु सयभुअहि ।
(जस० १।३।१६-१७)

आगे कवि कहता है कि—

सरहंसइ जहिं णेउररवेण, मउ चिक्कम ति जुवई पहेण ।
ज णिवभुयासिवरणिम्मलेण, अण्णु वि दुग्गउ परिहाजलेण ।
पडिखलियवइरितोमरभसेण, पडुरपायारि ण जसेण ।
ण वेढिउ वहुसोहग्गभारु, ण पु जीकय समारसारु ।
जहिं विलुलिय मग्गय तोरणाइ, चउदारइ ण पउराणणाइ ।
जहिं धवल म गलुच्छवसराइ, दुतिपचसत्तभोमइ घराइ ।
णवकु कुमरसच्छडयारुणाइ, विक्खित्तादित्तमोत्तिय कणाइ ।
ग ुरुदेवपाय पकयवसाइ, जहिं सव्वइ दिव्व इ माणुसाइ ।
सिरिम तइ सतइ सुत्थियाइ, जहिं कहिंमि ण दीसहि दुत्थियाइ ।
(जस० १।४।४-१२।

अर्थात् जहाँ तरुणियो के नूपुरो की ध्वनि सुन कर सरोवर के हस चकित होते हैं। जो नृप (मारिदत्त) के कर की तलवार द्वारा निर्मल है। और भी, वह अपने दुर्ग तथा परिखा के जल द्वारा वैरी के लिये दुर्गम है। उसके पाडुर प्राकार मानो उसका यश ही है अथवा वह प्रचुर सौभाग्य-भार से वेष्ठित है अथवा जगत् का समस्त सार वहां पु जीभूत हो गया है। मरकत मणियो से सुसज्जित उसके चार तोरण-द्वार मानो उसके चार मुख ही है। जहां के दो-पांच-सात खण्ड वाले गृहो मे नित्य धवल-मगल उत्सव होते है। जहां नव कु कुम-रस के छिडकाव से अरुणिमा छाई रहती है। जहां मुक्ता-कणो की दीप्ति का अनाक प्रकाशित रहता है। जहाँ के सभी मनुष्य दिव्य हैं तथा गुरु-पाद-पकज मे वास करते हैं। जहां श्रीमत सुस्थित हो रहते हैं तथा जहाँ कही भी दु स्थिति नही दिखाई देती।

कवि के इन वर्णनो मे प्राचीन परपरा का निर्वाह होते हुए भी, स्थानीय विशेषताएं अवश्य हैं। जिनसे तत्कालीन लोक-जीवन की झलक तथा देश की समृद्धि का आभास मिलता है। यौधेय, मगध आदि की धन-धान्य सम्पन्नता, उत्तर कुरु मे जनवादी शासन-व्यवस्था तथा राजगृह आदि नगरो के वैभव ऐसी ही विशेषताएं है।

युद्ध-वर्णन—

कवि के युद्ध-वर्णन अत्यन्त विशद एव सजीव है। प्रतीत होता है कि कुछ तो परपरा के कारण तथा कुछ तत्कालीन युद्ध-प्रवृत्ति के कारण, कवि ने

युद्धो के विस्तार से वर्णन किये हैं। राष्ट्रकूटो को प्राय युद्धो मे फसे ही रहना पडता था।

वास्तविक युद्ध की भीषणता को बढाने के उद्देश्य से कवि ने सैन्य गमन के विस्तृत वर्णन किये है, जिनमे वीरो की दर्पाक्तियाँ, भेरी-तूर आदि वाद्यो के तुमुल घोष, गज-रथादि के गमन के कारण धरा-कपन आदि के उल्लेख प्राप्त होते है।

भरत चक्रवर्ती के दिग्विजय-प्रयाण का वर्णन कवि ने अत्यन्त उदात्त रूप से किया है। उसकी तुलना रामायण मे राम की सेना के लका की ओर अग्रसर होने अथवा किरातार्जुनीय मे शकर के सैन्य-गमन के दृश्यो से की जा सकती है। रघुवंश मे रघु के दिग्विजय के लिये प्रस्थान करने का वर्णन भी ऐसा ही है।

भरत की प्रचण्ड सेना छ खण्ड पृथिवी को विजय करने जा रही है। उसके आगे भेरी-तूर आदि बज रहे हैं। इस विकट वाहिनी का प्रयाण देख देवता भयभीत होते तथा कान वधिर हो रहे हैं। असुर, नाग तथा पाताल वासी तक कपित हो रहे हैं। गिरि-महीतल टूट फूट रहे हैं। सरिताओ का जल भी आन्दोलित हो रहा है। रवि-चन्द्र तक विचलित हो रहे हैं—

भुयदडचाड विक्कम मएण, छक्खडमडलावणि कएण।
ग भीरतूरलक्खइ हयाइं, दुग्घेक्खइ रक्खइ हयमयाइ।
कयसमरह अमरह थरहरंति, गत्तइ सोत्तइ बहिरत्तु जति।
असुरिदह णाइ दह पियाइ, पायालइ विउलइ कपियाइ।
तुट्टइ फुट्टइ गिरिमहियलाइं, झलझलियइ वलियइ सरिजलाइ।
थिरभावह देवह जाय सक, रवपेल्लिय डोल्लिय रवि ससक।

(मपु० १२।२।६-१४)

तूर आदि वाद्यो के कोलाहल के मध्य, इस सेना के सुभट मुक्त करते हुए, अपनी करवालो को स्फुरित करते हुए, तूणीर बाँधे हुए, शत्रु को भू सुलाने के उत्साह से भरे हुए स्वामि भक्ति के साथ जा रहे हैं—

तुरुतुरियकाहल सुहडकोलाहल।
मुक्कह कारय फुसिय असिधारय
वद्धतोणीरय अहियखोणीरय।
गहियसणाहयं णवियणियणाहय।

(मपु० १२।१।४-७)

कवि ने इस सेना का सचालन करने वाले महाराज भरत का भी चित्रण किया है। उनका मणि-जटित श्रेष्ठ रथ है, मानो स्वय इन्द्र वरती है। उनकी दृढ-कठिन भुजाएँ है, अत्यन्त विशाल वक्ष है, शार्दूल-सदृश

णिवडत छत्तधय चामराइं, नृवकडय मउड मणिपिंजराइं ।
कयखगविमाण संघट्टणाइं, किंकिणिमालादल वट्टणाइं ।
(मपु० ५२।१५।४-६)

लक्ष्मण-वालि के युद्ध मे वीर तुमुल युद्ध करते हुए भिडते है, संपूर्ण गगन मे वाण आच्छादित हो जाते हैं, घावो से विगलित रक्त द्वारा भूमि लोहित वर्ण की हो जाती है। रथ चूर-चूर होते है, ध्वजाएँ फटती हैं, हाथियो के दृढ कवच छिन्न-भिन्न होते हैं, भट भूमि पर गिरते हैं आदि। कवि की भाषा भीषण युद्ध के उत्तरोत्तर गतिमान होने का आभास देती है—

अब्भिट्टइं कयरणकलयलाइं, सरपसरपिहियपिहु णहयलाइं ।
वणवियलिय पिच्छिललोहियाइं, पयघुलियतावलि रोहियाइं ।
मोडियरहाइं फाडियधयाइं, आसियणहाइं तासियगहाइं ।
लुयदढगुडाइं हयगयघडाइं, ताडियथडाइं पाडियभडाइं ।
खयपेक्खिजराइं ायपक्खराइं, चुयहरिवराइं कंपियधराइं ।
(मपु० ७५।६।२-६)

राम-रावण के संग्राम का वर्णन कवि ने बडो तन्मयता से किया है। यह विस्तृत भी है। भीषण युद्ध के कारण आकाश मे उठती हुई धूलि का अलंकृत वर्णन करते हुए कवि कहता है कि रथिक से रथिक, तुरंग से तुरग तथा हाथी से हाथी युद्ध कर रहे हैं। पैदल सैनिक दूसरो को भूमि पर गिरा रहे हैं। अश्वो के खुरो से आकाश मे धूलि उड रही है, मानो पृथ्वी का प्राण हो। उसने भानु को ढक लिया है। उस धूलि ने मानो चपलता से पतित होती हुई ध्वजा का निवारण कर लिया है। पाण्डुर तथा कपिलाग धूलि कैसी दिखाई देती है, मानो कमल के मकरद का छत्र है अथवा गज-कपोल से मद झर रहा है। दानशील के साथ कौन नही चलता है? देखिए—

रहिएहिं रहिय तुरएहिं तुरय, रणि रुद्ध एत दुरएहिं दुरय ।
पायालहिं वरपायाल खलिय, कमसंचालेण धरित्ति दलिय ।
हरिखुरखणिराखउ ण भरतु, उट्ठिउ धूलीरउ पय धरंतु ।
आयासचडिउ ण पुहइप्राणु, सतावर ते पिहिउ भाणु ।
चवलेण सुद्धवंसहु कएण, णिवडंतु णिवारिउ ण घएण ।
दीसइ पंडुर कविलगु केव, छत्तारविंद मयरंदु जेव ।
खुप्पइ मयथिप्पिरि करिकवोलि, भणु को ण विलग्गइ दाणमोलि ।
(मपु० ७७।६।३-६)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने युद्ध-वर्णन मे जहा परपरागत शैली का प्रयोग किया है, वहा उसकी भाषा ने उन प्रसगो को सजीव बना दिया है। आगे चल कर हिन्दी के आदिकालीन काव्यो मे अपभ्रंश की द्वित्व वर्ण वाली भाषा-शैली का प्रचुर प्रयोग किया गया है।

मनोविनोद वर्णन

पुष्पदत ने राजाओ के अनेक प्रकार के मनोविनोदों के वर्णन किये हैं। इनमे नृत्य-गान की गोष्ठिया, जल-क्रीडा तथा उपवन-क्रीडा उल्लेखनीय है।

नृत्य-सगीत के दो स्थल महापुराण मे प्राप्त होते हैं। प्रथम ऋषभ के विवाह के अवसर पर तथा द्वितीय ऋषभ की राज-सभा मे नीलजसा अप्सरा के आगमन पर।

ऋषभ-विवाहोत्सव मे सगीत-गोष्ठी का आयोजन चन्द्रिकामयी रात्रि मे किया जाता है। कवि प्रथम वाद्य-यन्त्रों के यथास्थान रखे जाने का वर्णन करता है, पश्चात् हिंडोल राग के गायन से कार्यक्रम प्रारम्भ होता है और फिर नर्तकिया प्रवेश करती हैं। नव कुसुमाजलि-युक्त अप्सराओ के रगभूमि मे प्रवेश करते ही प्रेक्षकगण मोहित हो उठे, मानो वे देवियाँ साक्षात् कामदेव की धनु-यष्टि ही हो—

आउज्जहु जेण मुहेण वासु, सा पुव्विल्लीदिसमडवासु।
तद्दाहिणि उत्तरमुहणिविट्ठु, गायणु तु वरु देवेंहि दिट्ठु।
तहु समुहियउ मउगाइयाउ, उवइट्ठउ सरसइ आइयाउ।
तहु दाहिणेण सठियउ सुसिरु, तव्वामएसि वेणइयणियरु।

•

सहसा सुइसोक्खुल्लोलएण, उद्दिक्खणु किउ हिंदोलएण।
थिरवण्णछट्टयधाराविसेसु, कउ णच्चणीहि पुणु तहि पवेसु।
उव्वसिरभाणामालियाहि, आहल्लाभेणइ बालियाहि।
घत्ता—आमेल्लियणवकुसुमजलिहि देविहि रगि पइट्ठियहि।
माहिउ जणु मगणमोगणिहि ण वम्महधणुलट्ठियहि।
(मपु० ४।१७।२-१४)

अभिनय-दक्ष अप्सराओ के नृत्य से वसुमति डोलती है। नृत्य-नाट्य के नाना अगो का प्रदर्शन होता है। कवि ने इस प्रसग मे अनेक प्रकार के पद-प्रचार, शरीर के अवयवो के सचालन, शीश-सचालन, भ्रू-नृत्य आदि के उल्लेख करके अपने सगीत-ज्ञान का परिचय दिया है—

जभेट्टिया—अहिणयकोच्छरो भुवणिहियच्छरो।
णच्चइ सुरवई डोल्लइ वसुमई॥
विरइय णडेहि णाणावियार, चारी वत्तीस वि अगहार।
अण्णण्णदेहपरिठवण भिण्णु, करणहं अट्ठोत्तरु सउ विदिण्णु।
चोद्दह वि सीससचालणाइ, भूतडवाइ रजियमणाइ।
णव गीवउ णयणमुहावियाउ, छत्तीस वि दिट्ठिउ दावियाउ। आदि।
(मपु० ४।१८।१-६)

नीलजसा नृत्य के प्रसग मे भी कवि ने नृत्य के शास्त्रीय विवेचन को प्रमुख स्थान दिया है। (देखिए मपु० ६।५-६)

अपभ्रंश के कवियो मे स्वयभू का जल-क्रीड़ा वर्णन (पउम चरिउ, सधि ४) बडा प्रसिद्ध था। पुष्पदत ने भी उसी के अनुरूप जल-उपवन क्रीडा के अनेक वर्णन किये है। महापुराण मे कृष्ण-नेमि, वसुदेव, विश्वनदि एव राजा जयधर का वर्णन णायकुमार चरिउ मे है। जसहर चरिउ मे भी नारियो के जल-विहार करने के उल्लेख हैं।

कृष्ण, नेमि आदि शरद् ऋतु के आगमन पर अपनी-अपनी रानियो के साथ मनोहर नामक सरोवर मे जल-कीडा करते हैं। कवि उनकी अनेक कामोत्तेजक चेष्टाओ का वर्णन करता हैं। वहाँ जल क्रीडा करती हुई युवतियो पर कृष्ण जल उछालते है। किसी युवती की हारावलि-लता विगलित हो गई है, जो शरीर पर ऐसी प्रतीत होती है मानो कमल-पत्र पर जल-कण विखर गये हैं। किसी युवती ने अपने उरस्थल के कु कुम से पति को सिक्त कर दिया है, जिसका शरीर रति-रस से रजित प्रतीत होता है। किसी तरुणी का शरीर वस्त्र-रहित हो गया है जिसके कारण उसके समस्त अगावयव प्रकट हो रहे हैं। कोई नव-लता रूपी रमणी पूर्ण जल-सिक्त हो गई है, मानो उसके रोमावलि रूपी अकुर निर्गत हो रहे है। कोई कवलित वल होकर कृष्ण की जलाजलि द्वारा आर्द्रित हो गई है तथा विरह की ज्वाला मे जल रही है। कोई कान मे नील कमल लगाये हुए मानो अपने नेत्रो के वैभव का फल ग्रहण कर रही है।

देखिए—

तहिं जलकील करइ तरुणीयणु, अहिंसिच तु देउ णारायणु।
काहि वि वियलिय हारावलिलय, सयदलदलजलकण ससय गय।
पयलिउ थणकु कुमु पइ सित्तउ, णावइ रइरसु राविय गत्तउ।
काहि वि सुण्हु वत्थु तणुघडियउ, अङ्गावयवु सव्वु पायडियउ।
काहि वि सित्तहि णवविल्लि व वर, ण णिग्गय रोमावनिअकुर।
काहि वि उल्हाणउ कवलियबलु, कण्ह जलजलिहउ विरहाणलु।
काहि वि दिण्णु कण्णि णीलुप्पलु, गेण्हइ णाइ णयणवइहवहलु।
(मपु० ८८।१८।८ १४)

नागकुमार की जल-क्रीडा भी अवलोकनीय है। वह सरोवर मे इस प्रकार अपनी पत्नियो के साथ प्रवेश करता है जैसे हाथी हथिनियो सहित हो। कोई नारी अपने निर्वस्त्र शरीर को जल मे छिपाती है, कोई अर्ध-उन्मीलित स्तन दिखलाती है तथा किसी की त्रिवली तरग दर्शित हो रही है—

अण्णहिं दिणि वरु सेविउ घरिणिहिं, सरे पइट्ठु करिविदसहु करिणिहि
पणइणि परिमिएण वित्थारें, सलिलकील पारद्धकुमारें।
गयणिवसण तणु जलेल्लिवकावइ, अद्धुम्मिल्लु का वि थणु दावइ।

... ...

का वि तरंगहिं तिवलिउ लक्खइ, सारिच्छउ तहो सुहयहो अक्खइ।
(णाय० ८।८।२-९)

रामायण के अंतर्गत राम लक्ष्मण का अपनी पत्नियो के साथ उपवन तथा जल-विहार करने का वर्णन अत्यन्त मनोहर तथा भाव-पूर्ण है। इस प्रसंग मे कवि के उच्च कोटि के काव्य के दर्शन होते हैं। सम्पूर्ण वर्णन पाँच कडवको मे है। कुछ विशिष्ट स्थल देखिए—

अंत पुर की नारियाँ नवीन पुष्प-मंजरियो को लिये हुए क्रीडा कर रही हैं। वे रानिया डोलती हुई तरु-शाखाओ पर क्रीडा करती हुई, कानो मे किसलय तथा मनोहर पुष्पो का श्रृंगार किये हुए ऐसी प्रतीत होती है मानो वन मे निवास करने वाली देविया हो।

कोई नारी, जिसके सम्मुख अनेक मयूर नृत्य कर रहे है। अत्यन्त भली लगती है। उसके दोनो पार्श्व मे रखे हुए कमलो की नालो के अंत मे बैठे भ्रमर ऐसे प्रतीत होते है मानो सुर-नर के हृदय विदीर्ण करने वाले कामदेव के वाण हैं।

कोई नारी राम को पुष्प-रज से पिंजरित करके ऐसा दृश्य उपस्थित करती है मानो सन्ध्या-राग के मध्य चन्द्रमा प्रकट हो और वह स्वयं उनके साथ शरद् मेघ सी शोभित होती है।

सहुँ अंतेउरेहिं कीलारय, गहियणवल्लफुल्लमंजरिरय।
घत्ता—कयकिसलयकण्णउ कुसुम रवण्णउ ण देविउ वणवासिणिउ।
दुमसाहदोलणि उववणकीलणि लग्गउ रायविलासिणिउ॥
(मपु० ७१।१३।१०-१२)

काइ वि जणणयणहं रुच्चितिइ, मोरें सहुँ सहासु णच्चंतिइ।
सोहइ कमलु दुवासिहिं धरियउ, णालतालिपिंछविच्छुरियउ।
णाइ कंदु रइणाहहु केरउ, दावइ सुरणरहिययवियारउ।

काइ वि जाइवि मह्इइ धरियउ, कुसुमरएण रामु पिंजरियउ।
सझाराए ण मयलंछणु, तेण य सोहइ ण सारयघणु।
(मपु० ७१।१४।८-१०)

कोई नारी कुंद-पुष्पों से अपने दांतो की तुलना दर्पण में मुख देखती हुई करती है। कोई बकुल-पुष्प से अपने शरीर की सुगंध की तथा कोई बिंबाफल से अधरों की समता करती है। कोई बाला पुष्पित आम्र-वृक्ष को देख वासुदेव (लक्ष्मण) के साथ बाहु-युद्ध करने की आकांक्षा करती है। कोई सुखकारिणी इक्षु-दंड लिये हुए मानो काम-धनु-धारिणी प्रतीत होती है। कोई पुष्प-मालाओं के रूप में मानो कामदेव के के बाण ही लिये है। कोई पलाश के प्रसूनों को बीन कर लक्ष्मण को भेंट करती है। कोई श्याम वर्ण वाली कोकिल को देख कर कहती है कि वसंत में यह भी अत्यन्त वाचाल हो गई है। यह मनुष्यों को विरहाग्नि के धूम से काली हो गई है इसका स्वर मधुर भी है, और विषाक्त भी है, जो प्रवासी व्यक्ति के मरण का कारण है। हे सखी, यदि लक्ष्मण मेरे साथ आज रमण करें तो कोकिल का शब्द मुझे निश्चय ही सुखदायी प्रतीत होगा—

कावि कुंदकुसुमइं णियदंतहिं, जोयइ दप्पणि समउ फुरंतहिं।
वउलु परिक्खइ णियतणुगंधें, बिंबीहलु अहरहु सबंधें।
क वि फुल्लिउ साहारु णिरिक्खइ, बाली हरिसाहारणु कंखइ।
....
का वि उच्छुकरयल सहकारिणि, णावइ विसमसरासणधारिणि।
का वि फुल्लमालउ संचारइ, सरु सरपंतिउ ण दक्खालइ।
का वि पलासपसूयइं वीणइ, केकयतणयहु पाहुडु आणइ।

काइ विं कोइल कसण गिरिक्खिय, पुच्छिय अवरइ विहसिवि अक्खिय।
सर्पाह एह वि वोल्लणसीली, जणविरहाणलधूमे काली।
एयहि सद्दु महुरु महुरउ विसु, दोहिं मि हम्मइ पवसिउ माणुसु।
जइ महु लक्खणु अज्जु रमेसइ, ता हलि कलपलविउ सुहुं देसइ।
(मपु० ७१।१५।१-१३)

इसी प्रसंग में जल क्रीडा भी द्रष्टव्य है। कवि कहता है कि जल से आर्द्र सीता ऐसी प्रतीत होती है, मानो दर्पण-सदृश हृदय में पुण्य प्रवृत्ति हो। दूसरी ओर राम के उरस्थल पर नील कमल ऐसा शोभित होता है। मानो पूर्ण चन्द्र में मृगमल है।

लीला-सहित हँसती हुई सुन्दरियों द्वारा सिंचन किया गया जल ऐसा प्रतीत होता है जैसे कपूर के कण उछल रहे हों। प्रिय द्वारा जल उछाले जाने के कारण किसी की कंचुकी का सूत्र ही टूट जाता है और इस प्रकार वस्त्र हट जाने से वह लज्जित होकर जल में अपना अंग छिपा लेती है—

सीयापंजलि पाणियसित्तहु, ण दप्पणयलि पुण्णपवित्तहु।
दीसइ रामहु उरि णीलुप्पलु, सोहइ ण छणयंदहु मयमलु।
. ...

सिंचिय सिंचिय हसइ सलोलउ उच्छलत कप्पूर कणालउ ।
काहि वि पिथकरजल विच्छुनियहि, सुत्तजालु तुट्टउ कचुलियहि ।
अल्लउ परिहणु ढलिउ विहाविउ लज्जइ सलिलि अगु ल्हिक्काविउ ।
(मपु० ७१।१६।१-८)

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की तूलिका आनन्द और उल्लास के स्थलो मे अपनी रुचि के कितने ही रग भरती है । धार्मिक कथा को मनोरम बनाने मे ऐसे प्रसग निश्चय ही महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं ।

सवाद

प्रबन्ध-काव्यो के कथानको मे रोचकता उत्पन्न करने के उद्देश्य से सवादो का नियोजन किया जाता है । इसके द्वारा नाटकीय वातावरण की सृष्टि होकर कथा-प्रवाह आगे बढता है । इसके अतिरिक्त सवादो के माध्यम से पात्रो के चरित्र-चित्रण भी अधिक प्रभावशाली ढग से प्रस्तुत किये जा सकते हैं ।

काव्य मे सवाद-परपरा अति प्राचीन है । रामायण मे लक्ष्मण-परशुराम तथा अगद-रावण के सवाद बडे प्रसिद्ध हैं । वाल्मीकि के पश्चात् तुलसी ने इन सवादो का वर्णन अत्यन्त कौशल से किया है । केशव ने रामचद्रिका मे इन सवादो का और भी अधिक व्यग्य तथा तर्क-पूर्ण भाषा मे प्रस्तुत किया है ।

कुशल सवाद-लेखन के लिये कवि मे प्रत्युत्पन्नमति, व्यवहार-कुशलता, एव राजनीति के ज्ञान के अतिरिक्त भाषा पर पूर्ण अधिकार होना आवश्यक है । हमारे कवि मे ये समस्त गुण विद्यमान हैं । राज-वर्ग के सम्पर्क मे रहने के कारण वह दरबारी शिष्टाचार, कूटनीति आदि से पर्याप्त परिचित था । परन्तु कवि के स्वभाव की सबसे प्रमुख विशेषता उसका स्वाभिमान है, जिसकी छाया उसके सवादो मे स्पष्ट परिलक्षित होती है ।

कवि के श्रेष्ठ सवाद रामायण (उत्तर पुराण के अतर्गत) मे प्राप्त होते हैं । इनमे उल्लेखनीय सवाद चद्रनखो-सीता, हनुमान-सीता, रावण-मदोदरी, रावण-हनुमान एव रावण-विभीषण के हैं । आदि पुराण मे भरत-दूत तथा बाहुबलि का सम्भाषण भी सुन्दर है । राम दूत हनुमान तथा भरत के दूत मे दूतत्व के सभी लक्षण, यथा भाषा-प्रवीणता, पाण्डित्य, मिष्ट-भाषण, गाम्भीर्य, धैर्य, न्यायशीलता, साहस, पर-चित्त को को समझना, स्वपक्ष का कुशलता से पोषण करने मे दक्ष होना आदि प्राप्त होते हैं ।

निम्नलिखित पक्तियो मे कुछ विशिष्ट सवादो का परिचय प्रस्तुत किया जाता है ।

ऋषभ-पुत्र भरत अपने भ्राता बाहुबलि को अपनी अधीनता स्वीकार करने के अभिप्राय से दूत भेजते है । दूत बाहुबलि की स्तुति करके (मपु० १६।१५) आसन पर बैठता है । कुशल क्षेम पूछे जाने पर वह चतुराई से कहता है कि और तो सब कुशल

है परन्तु अकुशल यही है कि आप अपने भ्राता से दूर हैं। दूर रहते हुए बधु-स्नेह दुष्टो द्वारा उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे रवि अपनी किरणें पकज तक भेजना तो चाहता है, परन्तु जलधर बीच मे ही उन्हे रोक लेते हैं—

एक्कु जि अकुसलु सुहिउक्कठिउ, ज तुहुं देव दूरि परिसठिउ।
घत्ता—दूरत्थहु बधुहु णेहु जइ णासइ पिसुणकयतरु।
रवि मेल्लइ किरणइ पकयहु ताइं णिवारइ जलहरु।

(मपु० १६।१५।१५-१७)

पश्चात् दूत और भी चतुराई से अपना वास्तविक मन्तव्य प्रकट करता हुआ विनीत शब्दो मे कहता है कि जिस भ्राता को भुजाओ मे आलिगन किया, उसी के प्रति अविनीत होना लज्जा की बात है। कुल के स्वामी, महाबली राजा के सम्मुख जो नमित नही होते, उनका गृह दरिद्र हो जाता है, (मपु० १६।१६।१०-१३)। अपने स्वामी भरत की दिग्विजय तथा अन्य महान् कार्यों का वर्णन करके वह दृढ़ता के साथ बाहुबलि को चेतावनी देता है—

मा पज्जलउ तासु कोवाणलु, मा णिड्डहउ तुहारउ भुयवलु।

(मपु० १६।१८।८)

बाहुबलि को यह धृष्टता असहनीय प्रतीत होती है। वह कहता है कि मेरे सम्मुख आकर कौन मेरे प्रभुत्व का हरण कर सकता है? भरत का चक्र-दण्ड तो मेरे लिए कुम्भकार के चक्र के ही समान है—

चक्कु दडु त तासु जि सारउ, महु पुणु ण कुभारहु केरउ।

(मपु० १६।१६।८)

बाहुबलि द्वारा युद्ध का सकेत किये जाने पर दूत कहता है कि जैसे पत्थर से मेरु का दलन, खर द्वारा मातग का स्खलन, खद्योत द्वारा रवि का निस्तेजन, तथा घूट द्वारा जलधि का शोषण असंभव है, उसी प्रकार आप भरत को नही जीत सकते—

पत्थरेण किं मेरु दलिज्जइ, किं खरेण मायगु खलिज्जइ।
खज्जोए रवि णित्तेइज्जइ, किं घुट्टेण जलहि सोसिज्जइ।
....
किं पइं भरहणराहिउ जिप्पइ।

(मपु० १६।२०।३-४, १०)

अब अधिक सहन करना बाहुबलि की शक्ति से परे था। वह युक्ति के साथ कहता है कि जो पर-द्रव्य हरण करता है अथवा कलहकारी है, वह राजा कैसे हो सकता है? वृद्ध जम्बूक-शिवा के समान ये शब्द सुनकर मुझे हँसी आती है। जो बलवान चोर है, वही राजा हो जाता है और निर्बल को निष्प्राण कर देता है—

जे परदविणहारिणो कलहकारिणो ते जयम्मि राया ।
वुड्ढउ जवुउ मित्र सद्दिज्जइ, ण ण णाइ महु हासउ दिज्जइ ।
जो वलवतु चोरु सो राणउ, णिग्गलु पुणु किज्जइ णिप्पाणउ ।

(मपु० १६।२१।२-४)

अत मे दूत से स्पष्ट शब्दो मे वाहुवलि कहता है कि हे दूत, मानभग होने पर जीवन की अपेक्षा मृत्यु श्रेष्ठ है। यही मेरा दृढ निश्चय है। भाई आवें तो मैं रण मे उन्हे सध्या-राग के सदृश क्षण मे परास्त कर दूँगा—

माणभगि वर मरणु ण जीविउ, एहउ दूय सुट्टु मइ भाविउ ।
आवउ भाउ घाउ तहु दसमि, सझाराउ व खणि विद्धसमि ।

(मपु० १६।२१।८-९)

बाहुवलि के इन शब्दो मे मानो स्वय कवि की आत्मा झाँकती सी प्रतीत होती है। यही कारण है कि कवि ने वडे मनोयोग से इस प्रसग का वर्णन किया है।

दूसरा सवाद सीता तथा रावण की वहन चद्रनखी (शूर्पनखा) का है। रावण चद्रनखी को सीता के हृदय का मर्म ज्ञात करने के लिये वाराणसी भेजता है। एक वृद्धा के रूप मे वह सीता के निकट जाकर कहती है कि तुमने पूर्व-भव में जिस व्रत के प्रभाव से ऐसा लावण्य, ऐसा पति तथा ऐसी लक्ष्मी प्राप्त की है, मैं भी उसी व्रत की साधना करके वैसा ही स्त्रीत्व प्राप्त करना चाहती हूँ, (मपु० ७१।१९।४-६)। इस पर सीता नारी-जन्म की अनेक कुत्सित वातो का उल्लेख करती हुई कहती है, कि तू नारीत्व क्यों चाहती है ? रजस्वला होने पर नारी को कोई भी नही छूता। निज वश की प्रभुता भी उसे प्राप्त नही होती। वह अन्य कुल मे उत्पन्न होती तथा अन्य कुल मे रहती है। स्वजन-वियोग से रोती है और जीवन भर उसे पराधीन होकर रहना पडता है, (मपु० ७१।१९।७-१०)। आगे पतिव्रत धर्म का उपदेश देती हुई कहती है कि—

जइ सइ चक्केसरु अहव सुरेसरु तो वि अण्णु णरु जणणसमु ।
चितेव्वउ णारिहि कुलगुणधारिहि णउ लघेव्वउ गोत्तकमु ।

(मपु० ७१।१९।१४-१५)

इस प्रकार सीता ने वडी युक्ति के साथ चद्रनखी को अपनी दृढता से परिचित करा दिया। अव वह मन मे सोचती है कि इसका शील कौन खडन कर सकता है ? अत मे वह निरुत्तर हो कर लका चली जाती है।

लका मे सीता-हनुमान सवाद भी सीता के सतीत्व तथा हनुमान की कुशाग्र बुद्धि का परिचय देता है। हनुमान सीता को प्रणाम करके तथा राम की मुद्रा उनके सम्मुख रखकर अत्यन्त सरल शब्दो मे अपना परिचय देते हैं—

परमेसरि मइं रजियमणास, परियाणहि पुत्तु पहजणासु।
रामहु दूयउ हणुवत णामु, विज्जाहरु वरु वीसमउ कामु।
(मपु० ७३।२५।८-९)

पश्चात् वे राम की दशा का वर्णन करते हैं—

तुह विरहझीणु मायगगामि, पइ सुमरइ अणुदिणु रामसामि।
घत्ता—णउ बोल्लइ ण परिग्गहि रमइ का वि णारि णालोयइ।
जोइंसरु सासइ सिद्धि जिह तिह पइ, पइ णिज्झायइ।
(मपु० ७३।२५।१०-१२)

अर्थात् हे गजगामिनी, तुम्हारे विरह मे क्षीण स्वामी राम अनुदिन तुम्हारा ही स्मरण करते हैं। न बोलते हैं, न किसी अन्य नारी की ओर देखते है। जिस प्रकार योगीश्वर सिद्धि-साधना करते है, उसी प्रकार तुम्हारे पति भी तुम्हारे ध्यान मे लीन रहते हैं।

हनुमान के इन शब्दो ने सीता को कितना आश्वस्थ किया होगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। परन्तु इसके साथ ही उनके मन मे एक शका उत्पन्न हो जाती है और वे सोचने लगती हैं कि कही हनुमान, मुझे छलने के लिये, मायावी रावण की प्रेरणा से तो नही आया है? मेरा अनशन भग करने के अभिप्राय से रावण ने यह माया तो नही रची है? चतुर हनुमान सीता के शकालु हृदय को तुरंत ही पहचान लेते हैं-और वे सीता को राम सम्बन्धी उन बातो का स्मरण दिलाते है जो केवल अत्यन्त निकटवर्ती परिजनो को ही ज्ञात हो सकती हैं—

सुणि रामदूउ हउ कह ण होमि, गूढइ अहिणाणवयाइ देमि।
एक्कहिं दिणि पइ किउ पणयकोउ, छिंकिउ राहवु अणहुत्तभोउ।
वल्लउल्लउ चप्पिउ सहु करेण, पइ णिद्धणाह णेहायरेण।
घत्ता—हारावलि थणयलि सजमिय णयणइ वि सताविच्छइ।
पइं वियसियकुसुमइ सिरि कयइ पइजीवियणेवत्थइ।
(मपु० ७३।२६।८-१२)

अर्थात् हे सीते, मैं राम दूत के अतिरिक्त अन्य नही हूँ। अपने वास्तविक परिचय के लिए मैं आपको एक गूढ वात वतलाता हूँ। एक दिन आपने प्रणय कोप किया था। तव राम ने स्वय आपका हार, नेत्राजन आदि से शृगार किया था। उन सौभाग्य-चिह्नो को धारण कर आप कुसुमवत् विकसित हुई थी।

हनुमान द्वारा इस प्रकार विश्वस्त किये जाने पर ही सीता ने उन्हें वास्तविक राम-दूत समझा।

हनुमान तथा रावण का वार्त्तालाप भी महत्त्वपूर्ण है। लका मे सर्व-प्रथम वे विभीषण के यहाँ जाकर प्रशसात्मक शब्दो मे कहते हैं कि जिस घर मे आप जैसा

गुणवान, न्यायवत तथा भक्त पुरुष हो, वहाँ पर-नारी को आसक्ति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? अत हे विभीषण, आप रावण से प्रार्थना करें कि वह सीता को लौटा दे। पराक्रमी राम के सम्मुख आपका भ्राता क्यो गर्व करता है, (मपु० ७४।९।६-११)। आगे वे राम-लक्ष्मण की सेना एव उनकी शक्ति का अनेक प्रकार से बोध कराते हुए युद्ध के भयकर परिणामो की ओर भी सकेत करते है—

अज्ज वि णारूसइ दासरहि, अज्ज वि ण खुहइ लक्खणउवहि।
चउरासीलक्ख वरायरह, कोडिउ पण्णास भयकरह।

(मपु० ७४।१८।३-४)

इसके उपरान्त वे स्पष्ट शब्दो मे कहते है कि अभी समय है कि आप सीता को शीघ्र वापस करा दीजिए और अपने बधु की भावी मृत्यु को रोकिए—

अज्ज वि अप्पावहि सीय तुहुं, मा पइसउ बधउ जमहु मुहुं।

(मपु० ७४।१०।७)

विभीषण हनुमान को साधुवाद देते हैं—

रामानुएण ता भासिअउ, पइ चारु चारु उवएसियउ।

(मपु० ७४।१०।११)

परन्तु वे रावण के स्वभाव से परिचित थे, अत स्वय हनुमान को उसकी सभा मे ले जाते है।

नीति-कुशल रावण अनजान सा बन कर हनुमान से उनके आने का अभिप्राय पूछता है—

पभणइ पहु जडकोड्डावणिय, किं विहिय सेव रामहु तणिय।
हा कट्ठु कट्ठु कणए जडिउ, माणिक्कु अमेज्झमज्झि पडिउ।
कहिं तुहुं कहिं सो तुह सामि हुउ, भणु को ण विहाणवसेण चुउ।
अह एण वियारें काइ महुं, आओ सि काइ कहि कज्जुलहु।

(मपु० ६४।११।३-६)

अर्थात्—तू राम का कौन सी सेवा करने आया है ? हाय, तू वैसा ही है, जैसे निंद्य काष्ठ मे स्वर्ण जड दिया गया हो अथवा माणिक्य अमेध्य मे पड गया हो। कहाँ तू है और कहा तेरा स्वामी ? कहो विधि-वश कौन च्युत नही होता ? बोल, तू यहाँ किस विचार से आया है ? कौन सा कार्य है ?

हनुमान रावण के प्रशसात्मक शब्दो मे आने वाले न थे। उसके उद्धत स्वभाव को भी जानते थे। अत वे रावण की अनेक प्रकार से वदना करते हुए विनयपूर्वक सीता को लौटाने तथा राम से सधि करने का प्रस्ताव रखते हैं।

(मपु० ७४।११।७-१५ तथा ७४।१२।१-७)

नीति-कुशल दूत के वचन सुनकर रावण उत्तर देता है—

त णिसुणिव लकेसरु भणइ, को रडकहाणियाउ सुणइ।
महु किंकरु ताव पढमु जणउ, पुणरवि दसरहु दसरहतणउ।
तहु दिण्णी हउं किं किर खममि, घरलजिय सीउ किं ण रममि।
घत्ता— प व्व पउत्त महु पच्छइ रहुणाहहु दिण्णी।
सोछिद्दिवि मृगेग मइ आणिय णयणरवण्णी।

अर्थात्—तेरी राड-कहानी कौन सुने ? देख, प्रथम तो जनक मेरा किंकर है, फिर दशरथ भी और इस प्रकार राम भी मेरे दास ही हैं। उसी राम को जनक ने सीता दे दी। भला मैं उसको कैसे क्षमा कर सकता हूँ ? उस गृह-दासी सीता के साथ मैं क्यो न रमण करू ? प्रथम कथनानुसार वह मेरी है, पश्चात् वह राम को दी गई। इसी कारण मैं मृग के द्वारा छलकर उसे ले आया हूँ।

रावण के ये वचन हनुमान को कैसे सहन होते ? वे उसे अनेक प्रकार से धिक्-कारते है और अत मे लौट जाते हैं।

इस प्रकार कवि ने अपने सवादो को अत्यन्त रुचिकर बनाने की पूर्ण चेष्टा की है। भाषा मे सूक्तियो के प्रयोग से कथोपकथन सशक्त तथा स्वाभाविक बन गये हैं।

विलाप-वर्णन

करुण रस की व्यजना मे विलाप के वर्णन सस्कृत काव्यो मे प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से कालिदास के काव्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके कुमार सभव मे रति का विलाप तथा विक्रमोर्वशीय मे राजा पुरुरवा का उर्वशी के लिये रुदन अत्यन्त मार्मिक है।

अपभ्रश काव्य मे इस परपरा को और आगे बढाया गया है। स्वयभू ने विलाप के सुन्दर वर्णन किये है।[1] हमारे कवि के विलाप-प्रसग भी हृदय मे सहज ही करुण भाव उत्पन्न कर देते हैं। इसके अतिरिक्त धवल कवि (१०-११ वी शताब्दी) के हरिवश पुराण मे कस-वध के प्रसग मे परिजनो के विलाप[2] तथा यश कीर्ति (सं० १५०० वि०) के हरिवश पुराग मे जीवजसा का विलाप[3] भी उल्लेखनीय है। करकड चरिउ (मुनि कनकामर कृत, लगभग १०६५ ई०) मे रतिवेगा का विलाप भी द्रष्टव्य है।[4]

---

(१) देखिए-पउम चरिउ मे लक्ष्मण के लिये अत पुर की स्त्रियो के विलाप (६६।१३), रावण के लिये मदोदरी का विलाप (७६।१०), एव अजना के लिये पवन का विलाप (१६।१३)।

(२) अपभ्रंश साहित्य, पृ० १०८ । (३) वही, पृ० १२५

(४) वही, पृ० १८८

महापुराण मे सहस्रबाहु द्वारा जमदग्नि का वध किये जाने पर रेणुका भूमि-पतित होकर स्वामी के शव को देखती हुई रुदन करती है—

महि पलोट्टु णियसामि णिहालइ, पुच्छि विज्जइ जोहइ लालइ
....
हा हा कत कत कि मत्तउ, कि ण चवहि महुँ काइ विरत्तउ।
मुच्छिओसि कि तव सतावे, कि परवस थिउ झाणपहावे।
लइ कुसुमाइ घट्टु लइ चदणु, करहि भडारा सझावदणु।
घत्ता—उट्ठि णाह जलु ढोवहि तण्हाणि रसणउ।
करि सहवासियहरिणह करयलफसणउ।
(मपु० ६५।२०।४-११)

अर्थात्-हा कत, क्या तुम सो गये ? मुझसे क्यो नही बोलते, क्या विरक्त हो गये हो ? क्या तप के सताप से मूर्छित हो गये हो ? क्या ध्यान के प्रभाव से स्थिर हो गये ? पुष्प और चदन लेकर सध्या-वदन करो ! हे नाथ, उठो जल लाकर तृष्णा शान्त करो। सहवासी मृगो को अपने कर स्पर्श से तुष्ट करो।

दूसरा प्रसग रावण की मृत्यु पर मदोदरी के विलाप का है। वह रावण के पराक्रम तथा वैभव का स्मरण करती हुई करुण शब्दो मे कहती है—

दुवई—हा केलाससेलसचालण हा दुज्जय परक्कमा।
हा हा अमरसमरडिडिमहर हा हरिणारिविक्कमा।
हा भत्तारहारमणरजण, हा भालयलतिलय णयणजण।
हा मुहसररुहरसरय महुयर हा रमणीयणणिलय मणोहर।
....
हा लकाहिव खेयरसामिय, देव गधमायणगिरिगामिय।
हा मदरकन्दरकयमदिर, दिव्वपोमसरपोमिंदिदिर।
पइ विणु जगि दसास ज जिज्जइ, त परदुक्खसमूहु सहिज्जइ।
हा पियमम भणतु सोयाउरु, कन्दइ णिरवसेसु अतेउरु।
(मपु० ७८,२२।१-१३)

अर्थात् हे कैलाश पर्वत को उठाने वाले, हा दुर्जय पराक्रमवान, हा समर मे देवो को परास्त करने वाले, हा सिह सम शक्तिवान, हा मेरे मनोज्ञ मनरजन करने वाले स्वामी, हा मेरे भाल के सिन्दूर तथा नेत्रो के अजन हा मेरे मुख रूपी पकज के मधुकर, हा रमणियो के मनोहर निलय, लकाधिप, विद्याधरो के स्वामी, गधमादन गिरि-गामी देव, पर्वत-कन्दराओ को मदिर बनाने वाले दिव्य पद्म सरोवर के कमल, आपके बिना जीवित रहने पर मुझे घोर दुःख भोगना पडेगा। इस प्रकार हा प्रियतम, हा प्रियतम, कहती हुई मदोदरी तथा समस्त अतःपुर की नारियाँ विलाप करती हैं।

इसी समय विभीषण भी वहाँ आते है। समस्त मतभेदो को भूल कर उनका भी हृदय अपने भ्राता के लिये क्रन्दन कर उठता है। कवि ने इस समय उनके शब्दो मे आत्म-ग्लानि का प्रदर्शन करके प्रसग को और स्वाभाविक वना दिया है। वे कहते हैं—

हा हा कयउ कम्मु मइ भीसणु, णियतणु पहणिवि रुयइ विहीसणु।
अज्जु सरासइ सत्थु ण सुयरइ, अज्जु कित्ति दसदिसहिं ण वियरइ।
जयसिरि पत्त अज्जु विहवत्तणु, गयउ अज्जु पहु सत्तिपवत्तणु।
अज्जु इ दु भयवसहु म गच्छउ, अज्जु चदु सहु कतिइ अच्छउ।
अज्जु तिव्वु णहि तवउ दिणेसरु, अज्जु सुयउ णिच्चितु फणीसरु।

अर्थात्-हाय, मैंने भीषण कार्य किया था। आज भ्राता की मृत्यु पर सरस्वती पाठ नही करती। आज कीर्ति दशो दिशाओ मे भ्रमण नही करती। जय-श्री भी आज विधवा हो गई। आज शक्ति का प्रवर्त्तक प्रभु चला गया। आज इंद्र को भयभीत हो कर चलने की आवश्यकता नही। आज चद्रमा अपनी पूर्ण कान्ति के साथ चमके, आज सूर्य नभ मे तीव्रता से तपे और आज शेष निश्चित होकर सोवें।

आगे वे कहते हैं कि नारद नही आए [1], वरन् नारद के वेश मे स्वय तुम्हारी भावी मृत्यु आई। तुमने सीता हरण नही, वरन परिजनो के धैर्य का हरण किया। राम तुमसे क्रुद्ध नही हुए, वरन् स्वयं यमराज ही रुष्ट हुए। लक्ष्मण ने तुमसे युद्ध नही किया, वरन् स्वय तुम्हारे कुल-क्षय ने किया। तुम्हारा मरण वैसे हो हुआ जैसे वज्र को घुन लग गया हो। हाय, तुम्हारे विना मैं कैसे जीवित रहूँगा ? हाय, यम ने मुझे ही क्यो न अपना ग्रास वना लिया—

णारउ णाउ आउ णासणविहि, सोय ण हित्त हित्त परियणदिहि।
रामु ण कुद्धु कुद्धु जगभक्खउ, लक्खणु ण भिडिउ भिडिउ कुलक्खउ।
....

किह कुलिसु वि घुणेहिं विच्छिण्णउ, तुज्झु वि मरणु केवसपण्णउ।
हा पइ विणु मइ काइं जियते, हा हउ कवलिउ किं ण कयंते।
(मपु० ७८।२८।३-४,११-१३)

णायकुमार चरिउ मे पुत्र के कूप मे गिर जाने पर पृथ्वी देवी का करुण-विलाप इन शब्दो मे वर्णित किया गया है—

त णिसुणिवि विलुलिय मेहलिय, पुहईमहएवि विसंठुलिय।
धाइय रोवइ पत्थिवघरिणि, णियकलहविओइय ण करिणि।
हा पुत्त पुत्त तामरसमुह, हा पुत्त पुत्त किं हुयउ तुह।
बहु दुक्खमयाइं सहतियए, पइ विणु किं मइ जीवतियए।
इय पभणिवि मरणु जि चितियउ अप्पाणउ तित्थु जि घत्तियउ।
(णाय० २।१३।१-५)

इसी प्रकार जसहर चरिउ मे भी पिता यशोधर की मृत्यु पर जसवइ विलाप करता है —

णिवडिउ महिमडलि थरहरतु ण वज्ज णिहाए गिरि महतु ।
उम्मुच्छिउ धाहावतु राउ, हा पइ विणु जगु अथाह जाउ ।
सायणह लग्गु हा ताय ताय, पइ विणु महु भग्गी छत्तछाय ।
पइ विणु मुण्णउ वरवीढु जाउ, एर्वाहि को सामि अवतिराउ ।
विणु ताए रज्जहो पडउ वज्जु, विणु ताए महु ण सुहाइ रज्जु ।
(जस० २।२५।३-७)

इन प्रसगो के आधार पर हम कह सकते हैं कि कवि विषाद के स्थलो का चित्रण करने मे उतना ही पटु है जितना कि मनोविनोद के उल्लास का अकन करने मे ।

अपभ्र श काव्य के विलाप वर्णन की यह पद्धति हिन्दी मे जायसी के नागमती के विलाप तथा हरिऔध के प्रिय-प्रवास मे भी देखी जा सकती है ।

नख-शिख वर्णन

साहित्य मे नख-शिख वर्णन की परपरा हमे प्राचीन समय से ही प्राप्त होती है । सस्कृत काव्यो मे नायिका के अग-प्रत्यग के वर्णन प्रचुर परिमाण मे किये गये हैं । अपभ्र श के कवियो ने भी अपने काव्यो मे इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया है ।

हमारे कवि ने अपने विशिष्ट पात्रो के नख-शिख वर्णन मे यद्यपि अधिकतर परपरागत उपमानो की सहायता ली है, फिर भी इन स्थलो मे उसे अपनी कल्पना की उडान का अच्छा अवसर मिल गया है । नीचे हम उसके कुछ चुने हुए नख-शिखो का विवरण उपस्थित कर रहे हैं—

मपु० २।१५-१६ मे ऋषभ की माता मरुदेवी का नख-शिख वर्णन है । कवि अत्यन्त मनोयोग से उसके अगो का सौन्दर्य अकित करता है । यहाँ उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है ।

मपु० ५।१७।५-१५ मे ऋषभ की पुत्री सुन्दरी का नख-शिख है । यहाँ अवसर होते हुए भी कवि ने अपनी कल्पना का विशेष उपयोग नहीं किया । प्रत्येक अग के लिये एकाध कल्पनाए करके वर्णन पूर्ण किया गया है । इसी प्रकार मपु० २१।५।४-६ मे केवल तीन पक्तियो मे स्वयप्रभा के कुछ अगो का सामान्य चित्रण है । परन्तु उसी का श्रीमती के भव मे सुन्दर वर्णन किया गया है । (मपु० २२।४)

मपु० २८।१२।७-११ तथा २८।१३।१-८ मे राजा अकपन की पुत्री सुलोचना का नख-शिख है । यह अनेक सुन्दर भावो से पूर्ण है ।

मपु० ५।१४।६-१६ मे बाहुबलि के नख-शिख वर्णन मे अगो के लिये कुछ उपमान सामान्य जीवन से ग्रहण किये गये है, अत वर्णन मे कृत्रिमता के स्थान पर

स्वाभाविकता आ गई है। इसके साथ ही भाषा मे कोमल वर्णों के नियोजन से और सरता आ गई है। देखिए—

गज्जमाणजलहरजलणिहिसरु, फलिड पईहथोरकरपजरु।
पुण्णमियकुवयणु जसहलतरु, सिरिकीलागिरिंदसमभुयसिरु।
पुरकवाडपविउलवच्छत्थलु, विससद्दूलखधु अवियलवलु।
दलियासामयगलगलसंखलु, णीलणिद्धमउपरिमियकुतलु।
तणुमज्झप्पएसि रइ रगउ, अगें सहु जि अउव्वु अणगउ।
वियडणियवु तबबिंबाहरु, उच्छुचावजीयासाधियसरु।

घत्ता—णवजोव्वणि जायइ घणि पचहिं तेहिं पयडहिं।
पुरयीयणु कपियमणु विद्धउ कोसुमकडहिं॥

यहाँ वक्ष स्थल के लिये पुर-कपाट तथा अश-अवलम्बित केशो के लिये हाथी के गले में पडी हुई शृ खला के उपमान द्रष्टव्य हैं।

मपु० २१।१३।४-१३ मे किये गये ललिताग देव के नख-शिख वर्णन मे कवि विभिन्न अगो मे धारण किये हुए आभूषणादि द्वारा उसके देव-स्वरूप का लावण्य अकित करता है।

मपु० ७०।१० तथा ११ मे सीता के नख-शिख की विशेपता यह है कि कवि उसके अगो का सादृश्य दिखा कर ही चुप नही रह जाता वरन् प्रत्येक अग के सौन्दर्य का व्यापक प्रभाव अकित करके रूप-विधान का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करता है। कुछ पक्तियाँ देखिए—

कडियलु गरुयत्तणगुणणिहाणु, इयरह कह गरुयहं महइ माणु।
गभीरिम णाहिहि णवर होउ, इयरह कह णिवडिउ तहिं जि लोउ।
पत्तलउ उयरु सिगारु करइ, इयरह कह मुणिपत्तत्तु हरइ।
सकयत्थउ मुट्ठिहि मज्झु खीणु, इयरह कह दमणि विरहि रीणु।
वलियाहिं तीहिं सोहइ कुमारि, इयरह कह तिहुयणहिययहारि।

मपु० ८५।२१ कवि ने कृष्ण का नख-शिख वर्णन किया है। यहाँ अगो के लिये अनेक कल्पनाओ की योजना की गई है। कुटिल केशो को वृद्ध मत्री तथा पर-मन-हारिणी कान्ता के समान वतलाया गया है।

णाय० १। ७।४-१६ मे कवि ने अत्यन्त तल्लीनता के साथ नव-वधू के रूप मे पृथ्वी देवी के नख-शिख का वर्णन किया है। यहाँ त्रिवली को लावण्य रूपी जल मे उठती हुई तरगें कहा गया है। वर्णन के अत मे कवि कहता है कि जब कुटिल भौंहो के द्वारा कामदेव ने प्रथम ही लोगो को धराशायी कर दिया, तब केशो की कुटिलता (घु घराले होना) की आवश्यकता ही क्या थी—

जइ भउहाकुडिलत्तणेण णर सरघणुरुहेण पहय मय।

तो पुणु वि काइ कुडिलत्तणहो सुन्दरिसिरि धम्मिल्लगय।

णाय० ३।४ मे नागकुमार के अगो का अलकृत वर्णन है। यह स्थल वराह मिहिर की वृहद् सहिता (अध्याय ६७, श्लोक ८५-८८) मे दिये हुए नख-शिख वर्णन से मिलता-जुलता है।[1]

नख-शिख मध्ययुगीन काव्य का प्रिय विषय रहा है। अपभ्रंश के प्राय सभी उत्कृष्ट काव्यो मे ऐसे वर्णन देखे जा सकते है। स्वयभू ने सीता (पउम चरिउ, ३८।३) तथा मदोदरी (पउम चरिउ, १०।३) के सुन्दर वर्णन किये है। इसके अतिरिक्त अब्दुल रहमान के सदेश रासक (२।३२-३९), धाहिल के पउम सिरी चरिउ (१।४) आदि काव्यो मे भी नख-शिख वर्णन प्राप्त होते है।

———

(१) विशेष विवरण के लिये देखिए-णाय० पृ० १९३-१९४

अध्याय
८

कवि की भाव-व्यंजना

रस-सिद्धान्त—

काव्य की चमत्कार पूर्ण अभिव्यक्ति के पठन अथवा श्रवण के फलस्वरूप उद्बुद्ध भावो की प्रबलता से सहृदय को अनुभूति जो आस्वादन- क्रिया करती है, वही आस्वाद रस है। आचार्य विश्वनाथ ने रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए उसे अखड, स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, वेद्यान्तर स्पर्श-शून्य, ब्रह्मानन्द-सहोदर तथा लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण बतलाया है।[1]

वस्तुत रस काव्य की आत्मा है शब्द एव अर्थ उसके शरीर हैं। काव्य मे व्यावहारिक जगत् का द्वैत-भाव उसकी वाक्यत्व, शरीरत्व आदि सत्ताओ द्वारा स्पष्ट हो जाता है। अत काव्य का रस ब्रह्मानन्द न हो कर ब्रह्मानन्द-सहोदर माना गया है। वह अव्यक्त ब्रह्मानन्द का व्यक्त रूप है। व्यक्तीकरण का प्रारम्भ मानव शरीर के विज्ञानमय कोश से होता है, जिसका मूल-स्रोत आनन्दमय कोश है। इसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है, जो मनोमय तथा प्राणमय कोशो मे उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई अन्त मे अन्नमय कोश मे स्थूलतम होकर इन्द्रियो का विषय बन जाती है। यही कारण है कि मुक्तावस्था मे, जबकि अन्तरात्मा पूर्ण आनन्दमय हो जाता है तथा जब, उस स्थिति मे विभावानुभावादि का भी सर्वथा अभाव रहता है, रसास्वादन सभव नही है।

भरत मुनि ने रस की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावो के

(१) सत्वोद्रेकादखण्ड स्वप्रकाशानन्द चिन्मय.
वेद्यान्तर-स्पर्श-शून्यो ब्रह्मानन्द-सहोदर
लोकोत्तरचमत्कार प्राण कैश्चित्प्रमातृभि
स्वकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस । साहित्य दर्पण पृ० ३

सयोग से वतलाई है ।[1] जैन-अजैन विद्वानो ने भी इसो का समर्थन किया है ।[2] भाव अनेक हैं परन्तु उनमे से नौ को ही स्थायी माना गया है । इन स्थायो भावो की वासना रूप मे स्थिति प्रत्येक मानव मे होती है । अनुकूल परिस्थितियो मे ये जागृत होकर, आश्रय की सवेदनशीलता की मात्रानुसार, उसे रस-विभोर करते है ।

यथपि सस्कृत के अनुरूप प्राकृत-अपभ्र श मे रस का शास्त्रीय विवेचन नहो हुआ, परन्तु इसका यह अर्थ नही कि उनके कवि काव्य-गत रसानुभूति से अपरिचित थे । वास्तव मे प्राकृत-अपभ्र श का काव्य सस्कृत के रस-सम्वन्धो मान-दण्डो का ही अनुगमन करता है । उनके कवि मार्मिक प्रसगो मे रस-सृष्टि करने मे सदव सचेष्ट रहे हैं एव उन्हे सफलता भी प्राप्त हुई है ।

कवि की रसानुभूति—

पुष्पदन्त पूर्णत रसवादी कवि हैं । वे रस को काव्य तथा नाटक का अभिन्न अग मानते हैं । उनका कथन है कि यदि काव्य और नाटक नीरस हुए तो व्यर्थ हैं ।[3] नीरस काव्य रचना को देख, उनका सरस हृदय वितृष्णा से भर जाता है और वे उसके रचियता को कुकवि तक कह देने मे किंचित सकोच नही करते ।[4] कवि की चित्तवृति रस के लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण आनन्द की ओर भी है । वह कहता है कि कुकवि का काव्य सहृदय के चित्त को चमत्कृत करने मे कभी समर्थ नही हो सकता ।[5] उसका यह भी कथन है कि जो कवि मनोहारी रचना नही कर सकता, उसका काव्य करने का प्रयास आत्म वध के समान है ।[6] उसी भाव धारा मे तरगायित होते हुए कवि यहाँ तक कह जाता है कि यदि मैं कविता के द्वारा विद्वानो के हृदयो मे प्रवेश करने मे असमर्थ रहूँ तो मेरी काव्य-रचना को धिक्कार है ।[7] सक्षेप मे, कवि के ये उद्गार उसके उत्कृष्ट काव्य सम्वन्धी विचारो के परिचायक है, जिनमे रसानुभूति को महत्वपूर्ण स्थान मिला है ।

अव हम विभिन्न रसो के आश्रय से कवि की भाव व्यजना का अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे ।

---

(१) विभावानुभावव्यभिचारि सयोगाद्रस निष्पत्ति । नाट्यशास्त्र, अ० ६

(२) देखिए—जैनाचार्य का वाग्भट्टालकार तथा मम्मट का काव्यप्रकाश (४।२८)

(३) कव्वे णडेण किं णीरसेण । मपु० ५०।७।३

(४) णीरसु कव्वु व कुकइहिं केरउ । मपु० २२।१५।३

(५) कुकइहि कव्व व णउ चिम्मक्कइ । मपु० १६।२।३

(६) जो कइ ण करइ मणहारिणि कह
सो चिततु करड अप्पहवह । मपु० ५१।२।४

(७) वड्डु हियवइ जइ वि ण पइसरमि, घिट्ठत्तो तइ वि कव्वु करमि ।
मपु० ६८।१।११

शान्त का रस-राजत्व—

जैन कवियो की रचनाओ का चरम लक्ष्य मानव मात्र को सदाचार के पथ पर लाना रहा है। इस दृष्टि से उनके काव्य शृंगार के स्थान पर शान्त का रस-राजत्व स्वीकार करते हैं। अनिर्वचनीय आनन्द की वास्तविक अनुभूति सासारिक राग-द्वेष समन्वित मनोविकारो के अभाव मे ही होती है। शृंगारादि रसो मे लौकिक आधारो के निमित्त से रसानुभूति होती है, परन्तु शान्त-रस तृष्णा-क्षय के दिव्य महा-सुख से परिपूर्ण होता है। उसमे न दुःख है, न सुख है, न द्वेष है, और न मात्सर्य है।[1] वह पारलौकिक होने के कारण निवृत्तिमूलक है, अत: स्थायी आनन्द-प्रदायक है।

भक्ति के क्षेत्र मे जैन-अजैन सभी शान्त को ही प्रधानता देते हैं। नारद तथा शाण्डिल्य के भक्ति-सूत्रो मे जिस परम प्रेम रूपा परानुरक्ति को भक्ति कहा गया है, वह तभी सभव है जब जीव की मनोवृत्ति सासारिक पदार्थों से अनुरागहीन होकर एकाग्र रूप से परमात्मा मे केन्द्रित हो जाय। इसीलिये जैनाचार्य समन्तभद्र सासारिक क्लेशो की उपशान्ति हेतु शान्ति-विधायक जिनेन्द्र भगवान की शरण-याचना करते हैं—

स्वदोष शान्त्या विहितात्म शान्तिः
शान्तेर्विधाता शरण गतानाम्।
भूयाद्भवक्लेश भयोपशान्त्यै
शान्तिर्जिनो मे भगवान् शरण्यः।

(स्वयभू स्तोत्र, ८०)

डॉ० भगवान दास ने अपने रस मीमासा नामक लेख में शान्त को प्रधान रस मानते हुए, अन्य आठ रसो का उसमे अन्तर्भाव दिखलाया है। उनके अनुसार राग-द्वेष ही मूल भाव है। रति, हास, उत्साह तथा विस्मय, अस्मिता के उपकारक होने के कारण राग के अन्तर्गत आ जाते हैं। शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा अस्मिता के उपकारक होने के कारण द्वेष के अन्तर्गत हैं। प्रथम चार मधुर होने के कारण सुख की अभिव्यक्ति करते हैं। दूसरे चार कटु होने के कारण दु:ख की भावना प्रकट करते है। निर्वेद मे इन सबका सामजस्य हो जाता है। वहाँ आत्मा-परमात्मा के परम प्रेम मे रति, संसार की विडम्बनाओ पर उपहास, घोर अन्धकार मे भटकते हुए दीन जनो पर करुणा, षट् रिपुओ पर क्रोध, इन्हे पराजित करने, इन्द्रियो को जीतने आदि मे उत्साह, षट् रिपु कही असावधान पाकर विवश न कर दें इसका भय,

---

(१) न यत्र दु:ख न सुख न द्वेषो नापि मत्सरः
शम: सर्वेषु भूतेषु स शान्त: प्रथितो रस:। नाट्यशास्त्र

इन्द्रिय विषयो अथवा अस्थि, मज्जा, रुधिर-युक्त शरीर पर जुगुप्सा तथा नाना रूप समन्वित अनन्त सृष्टि करने वाली परमात्मा की शक्ति पर विस्मय की व्यजना होती है।[1] परन्तु जैन धर्म के परमात्मा तथा जगत् सम्बन्धी विचार तत्वत भिन्न होने के कारण, इस विवेचन के पूर्णत सगत नही बैठते। उसके अनुसार यह सृष्टि ईश्वर का कर्तृत्व नहीं है, वरन् अनादि तथा स्वयचालित है।

शान्त रस के स्थायी भाव के सम्बन्ध मे अनेक मत हैं। मम्मट के मतानुसार तत्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद उसका स्थायी भाव है।[2] विश्वनाथ ने शम् को शान्त का स्थायी भाव मानते हुए उसका यह स्वरूप उपस्थित किया है—

न यत्र दुखं न सुख न चिंता न द्वेष रागौ न च काचिदिच्छा।
रस स शान्त कथितो मुनीन्द्रै सर्वेषु भावेषु शम प्रधान ॥

अर्थात जहाँ न दु ख हो, न सुख हो, न चिन्ता हो, न राग-द्वेष हो तथा न कोई इच्छा ही हो, उसे शान्त रस कहते हैं। यह परम वीतराग की अवस्था है, जहा अखण्ड शान्ति विराजती है। पुष्पदत ने इसी अवस्था का वर्णन इन शब्दो मे किया है—

जहिं भुक्ख ण तण्ह ण णिद्दडिय, णउ देह सत्तधाउद्दु घडिय।
जहिं सत्तु ण मित्तु ण घरिणि घरु, जहिं लोहु ण कोउ ण कामजरु।
णउ माणु ण माय ण मोहु मउ, जहिं केवलु जोउ जि णाणमउ।
(मपु० ३६।१३।१-३)

इस स्थिति मे तृष्णा का पूर्ण अभाव हो जाता है। आनदवर्धन के विचार से तृष्णा-क्षय ही शान्त का स्थायी भाव है। उनका कथन है कि ससार मे जो विषयो के सुख हैं एव जो स्वर्गीय महासुख हैं, वे सब एकत्रीभूत होकर तृष्णाक्षय से प्राप्त होने वाले सुख के सोलहवें अश के समकक्ष भी नही हो सकते—

यच्च काम सख लोके यच्च दिव्य महत्सुखम्
तृष्णाक्षय सुखस्यैते नार्हत षोडशीकलाम्।[3]

एक अन्य मत से तत्वज्ञान ही शान्त का स्थायी भाव है, क्योंकि वही आत्मा का ज्ञान है और उसी की सहायता से मोक्ष प्राप्त होता है। यह अभिनवगुप्त का मत है।[4]

---

(१) रीति काव्य की भूमिका, डॉ० नगेन्द्र, (पूर्वार्द्ध) पृ० ७५, (उत्तरार्द्ध) पृ० १११—११२

(२) काव्य प्रकाश, पृ० ११८

(३) काव्य दर्पण, राम दहिन मिश्र, पृ० २७९ पर उद्धृत।

(४) वही, पृ० २७८

उपर्युक्त स्थायी भावो मे कोई मौलिक अन्तर नही है। वे सब एक ही भाव-धारा के विविध रूपान्तर मात्र है। निर्वेद तत्वज्ञान का ही फल है। इसी प्रकार शम् और निर्वेद भी तत्वत एक ही है। जैनाचार्य जिनसेन शम् के सवध मे कहते हैं कि विरक्ति आदि के द्वारा मन का निर्विकारी होना शम् है।[1] निर्वेद मे भी यही अपेक्षित है। यद्यपि मम्मट निर्वेद को शान्त का स्थायी मानते हैं, तो भी वे शम् को उससे अभिन्न ही समझते हैं।[2] तृष्णा-क्षय भी तत्वज्ञान की ही एक आवश्यक भूमिका है। निष्कर्ष यह है कि सासरिक राग-द्वेषादि को निस्सारता का बोधहोना ही तत्वज्ञान है। इसी की सहायता से मानव-आत्मा मे निर्वेद या शम् का भाव उदय होता है। अत यही शान्त का स्थायी भाव है।

पुष्पदत क काव्य मे तत्वज्ञान मूलक भावनाओ की अतिशय प्रधानता है। इसके दो कारण हैं एक तो उनका वर्ण्य-विषय ही वीतरागी महापुरुषो के उदात्त जीवन-चरित्रो से सबधित है, दूसरे खल-सकुल जगत् की कुठाओ से विपन्न उनका मानस स्वय ही भौतिक राग-द्वेषो के माया-जाल से ऊब कर परमात्म-चितन अथवा तत्वान्वेषण की ओर केन्द्रित हो गया जान पडता है। इसी कारण अनुकूल अवसर प्राप्त होते ही कभी वे राज्यलक्ष्मी की भर्त्सना करते है, कभी मानव-शरीर की नश्वरता की ओर सकेत करते हैं, कभी पार्थिव भोग-विलासो की क्षणभगुरता पर लवी-लवी वक्तृताएँ देते चलते हैं, कभी क्रोध-मोहादि से निर्लिप्त रहने का उपदेश देते है और कभी अत्यन्त दैन्य-भाव से सम्यग्दर्शन-प्राप्ति हेतु जिन-स्तवन करते है। इस प्रकार वैयक्तिक क्लान्ति तथा अपने धर्म के आग्रह के कारण जिन-भक्ति मे मग्न महाकवि के काव्य मे शान्त रस के अनेक चित्र प्राप्त होना स्वाभाविक ही है।

निम्नलिखित पक्तियो मे महाराज ऋषभ के हृदय मे रग-शाला मे नृत्य करती हुई नीलजसा की आकस्मिक मृत्यु की घटना से उत्पन्न तत्वज्ञान द्वारा ❘ उत्कर्ष का वर्णन है। यहाँ ससार की क्षणभगुरता आलम्बन है। प्रत्येक नर ससार मे दो-दो दिन रह कर चले जाना, वैभव-विलास तथा ', लावण्य का क्षय, यौवन का विगलित होना, आप ही आ चले जाना आदि उद्दीपन हैं। निर्जन वन मे निवास तथा मति सचारी है। इनके सयोग मे शान्त रस की

खव्य — इह ससार दारुणे वहु सरीर
वसिऊण दो वासरा के के गया

(१) विरागत्वादिना निर्विकार मनस्त्व शम ।
हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, पृ० २२

(२) निर्वेदस्येव शम् रूपत्वात । काव्य ५०

पुणु परमेसरु सुम्मु पयासइ, घणु सुरघणु व खणद्धे णासइ।
हयगय रहमड धवलइ छत्तइ, सासयाइ णउ पुत्त कलत्तइ।
जपाणइ जाणइ वयचमरुइ, रविउग्गमणेजति ण तिमिरइ।
लच्छि विमल कमलालयवासिणि, णवजलहरचल वुहउवहासिणि।
तणु लायण्णु वण्णु खणि खिज्जइ, कालालि मयरदु व पिज्जइ।
वियलइ जोव्वणु ण करयलजलु, णिवडइ माणुसु ण पिक्कउ फलु।
तृयहि लवणु जसु उत्तारिज्जइ, सो पुणरवि तणि उत्तारिज्जइ।
जो महिवइ महिवइहि णविज्जइ, सो मुउ घरदारेण ण णिज्जइ।
घत्ता —किर जित्ताइ परबलु भुत्तउ महियलु पच्छइ तो वि मरिज्जइ।
इय जाणिवि अद्ध्उ अवलविवि तउ णिज्जणिवणि णिवसिज्जइ।
(मपु० ७।१।२-१४)

इसी प्रकार अपराजित नामक राजा के चित्त मे वैराग्य-भावना उत्पन्न होती है। उसके निम्नलिखित उद्गारो मे सासारिक सबधो के क्षणस्थायित्व का मार्मिक विवेचन है—

अरे जडजीव समासमि तुज्झु, ण कस्स वि ह जगि को वि ण मज्झु।

मयग तुरगम किंकर कासु, फलक्खइ पक्खि व जात दिसासु।
ण मित्तु कलत्तु ण पुत्तु ण बधु, सरीरु व एउ विणासि दुगधु।
(मपु ४३।३।१-५)

निर्वेद-जन्य भावना का एक अन्य उदाहरण सुविधि (नवम् तीर्थं०) के शब्दो मे देखिए। इसमे काल के मुख मे किसी का न बचना, जन्म-मरण के परिवर्तनो का प्रतिक्षण घटित होना, ससार के दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थों का उल्का-सदृश क्षण मे विनाश होना आदि तत्वज्ञान की बातो का उल्लेख हुआ है, जिनके कारण अत मे वे वैराग्य ले लेते है—

उक्क पडती दिट्ठी तइयहु।
त जोइवि जिणणाहु वियक्कइ, कालहु कलिहि ण कोइ वि चुक्कइ।
जणणमरणपरिवट्टणलक्खणु, एउ तिजगु परिणवइ पडिक्खणु।
ज ज काइ वि णयणहि दीसइ, उक्का इव त त खणि णासइ।
अथिरु सव्वु भणु कहि रइ कीरइ, तो वि चित्तु विसयामइ हीरइ।
वड्माणरु इवणतणपवणे, ण समइ कहु णक्खवक्कइयणे।
भोए इदियतित्ति ण पूरइ, वड्ढइ दुट्ठ तिट्ठमइ जूरइ।
(मपु० ४५।११।१-७)

बाहुबलि द्वारा द्वद्व युद्ध मे पराजित होने पर भरत चक्रवर्ती के हृदय मे वैराग्य भावना आती है। वे बाहुबलि से कहते है कि तुम आज से अयोध्या के सिंहासन पर

बेठो। मैं तुम्हारे भाल पर राज-पट्ट बाँधूँगा। पराजित होकर राज्य करना लज्जा की बात है, अत मैं मुनि-दीक्षा लूँगा—

आउ जाहु उज्झाउरि पइसहि, अज्जु जि तुहुँ सिंहासणि बइसहि।
पट्टु णिबधमि भालि तुहारइ, अक्ककित्ति जीवउ तुह केरइ।
एवहिं रज्जु करतउ लज्जमि, एवहिं परमदिक्ख पडिवज्जमि।
(मपु० १८।४।४-६)

भरत के इन शब्दो मे इष्ट-नाश (पराजय के कारण गौरव, प्रतिष्ठा, स्वाभिमान आदि का नाश) से उत्पन्न निर्वेद-भाव प्रकट हुआ है। मम्मट के अनुसार ऐसा निर्वेद स्थायी भाव नही वरन् सचारी होता है।[1] अत यहाँ पर शान्त रस की सृष्टि नही होती। भरत का वैराग्य-भाव केवल कथन मात्र ही रहता है, क्योकि बाहुबलि स्वयं मुनि हो जाते हैं और भरत पूर्ववत् राजा बने रहते हैं।

शान्त रस का एक अन्य प्रसग नेमि (२२ वे तीर्थङ्कर) के चरित्र मे है। अपने विवाह के अवसर पर होने वाले भोज के निमित्त वध के लिये लाए जाने वाले पशुओ को देखकर नेमि को बडी व्यथा होती है। वे पशु-वध मे एक की तृप्ति तथा अनेक जीवो का प्राण-नाश देखकर उसके प्रति अत्यन्त घृणा प्रकट करते हैं। और इस प्रकार दारुण ससार की चिंता करते हुए उनमे वैराग्य-भावना व्याप्त हो जाती है—

तथा—एक्कहु तित्ति णिविसु अण्णेक्कु वि जहिं प्राणिहिं विमुच्चए।
त भवविहुरकारि पलभोयणु महु सुन्दरु ण रुच्चए।
ससार घोरु चितंतु सतु, गउ णियणिवासु एव भणतु।
(मपु० ८६।१।३-५)

णायकुमार चरिउ मे पिहिताश्रव मुनि द्वारा पृथिवीदेवी से कहे गए वचनो में भी निर्वेद के दर्शन होते हैं। यहाँ वृद्धावस्था द्वारा यौवन का नाश, जीव का जन्म तथा मरण, श्रीमन्तो का दरिद्र होना, अति सुन्दर रूप का क्षय, प्रिय-पात्र से भी घृणा होना आदि बातो का उल्लेख हुआ है—

णियसिरि किं मण्णंति णरा, णवजोव्वणु णामइ एइ जरा।
उप्पण्णहो दीसइ पुणु मरणु, भीसावणु ढुक्कइ जमकरणु।
सिरिमतहो घरि दालिद्दडउ, पइसरइ दुक्खभारुब्भडउ।
अइ सुन्दररूवें रूउ ल्हसइ, वीरु वि मगामग्गि तसइ।
पियमाणुसु अण्णु जि लोउ जिह, णिण्णेहे दीसइ पुणु वि तिह।(णाय० २।८।१-२)

---

(१) काव्यदर्पण, पृ० २७७ मे संगीत रत्नाकर मे उद्धृत—
स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि। इष्टानिष्ट वियोगाप्ति-कृतस्तु व्यभिचार्यसौ।

जसहर चरिउ मे महाराज यशोधर अपनी परासक्ता नारी अमृतमती का कुकृत्य देखकर अत्यन्त व्यथित होते हैं। वे विचार करते हैं कि मानव-शरीर दुःख की पोटली है। यह धोने से भी पवित्र नही होता, सुगंधित करने से भी सुरभित नही होता, पोषण करने से भी बलवान नही होता, प्रसन्न किया हुआ भी अपना नही होता। इस प्रकार चिन्तन करते हुए वे इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि प्रभात होते ही नगर, परिवार तथा राज्यलक्ष्मी का त्याग कर गहन वन और सघन पर्वतो की गुफाओ का आश्रय लूँगा। वही सुर, नर तथा नागो द्वारा पूजित मुनि-लिंग धारण कर महातप का आचरण करूँगा।

माणुससरीरु दुहपोट्टलउ, धोयउ धोयउ अइविट्टलउ।
वासिउ वासिउ णउ सुरहि मलु, पोसिउ पोसिउ णउ धरइ बलु।
तोसिउ तोसिउ णउ अप्पणउ, मोसिउ मोसिउ धरभायणउ। आदि
(जस० २।११।१-३)

पुरु परियणु मिल्लिवि रायसिरि, कल्लइ आसर्यमि गहण गिरि।
पय पाडिय णरफणिसुरवरइ, तउ करमि धरमि मुणिवरवयइ।
(जस० २।१२।१-२)

वीर रस—

चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषो को अपने राज्यकाल मे या तो दिग्विजय-यात्राएँ करनी पडी है अथवा अपने प्रतिद्वन्दियो का रण-निमन्त्रण स्वीकार कर युद्ध करने पडे है। ऐसे प्रसगो मे कवि को शौर्य तथा पराक्रम के साथ उत्साह का चित्रण करने का पर्याप्त अवसर मिला है। इन स्थलो के सवाद भी दर्पोक्तियो से भरे हैं।

वीर रस के कुछ स्थल इस प्रकार हैं—

दिग्विजय के उपरान्त अयोध्या लौटने पर जब भरत चक्रवर्ती का चक्र नगर के भीतर प्रवेश नही करता, तब कारण-स्वरूप उन्हे ज्ञात होता है कि उनकी दिग्विजय अभी पूर्ण नही है, क्योकि बाहुबलि आदि भ्राताओ ने उनकी अधीनता नही स्वीकार की। इस समाचार ने भरत को उत्तेजित कर दिया। कवि के शब्दो मे उनके उद्गार सुनिए—

जमहु जमत्तणु को दरिसावइ, मइ मुएवि कि करणु समावइ।
एम कोवि कि जगि नतावइ, को किर मिहिमिहाहि ननावइ।
कहु महु तणउ पहुत्तु ण भावइ, को पडिवक्खिउ जसु णहि भावइ।
आसमुद्द मेइणिकउ वालहु, को णामकउ महु पच्चालहु।
को किर मिच्च महारा मारइ, को चिणिवारइ गज्जं पि मारइ।
(मपु० १६।६।६-११)

बेठो। मैं तुम्हारे भाल पर राज-पट्ट बाँधूँगा। पराजित होकर राज्य करना लज्जा की बात है, अत मैं मुनि-दीक्षा लूँगा—

आउ जाहु उज्झाउरि पइसहि, अज्जु जि तुहुँ सिंहासणि बइसहि।
पट्टु णिबधमि भालि तुहारइ, अक्ककित्ति जीवउ तुह केरइ।
एवहिँ रज्जु करतउ लज्जमि, एवहिँ परमदिक्ख पडिवज्जमि।
(मपु० १८।४।४-६)

भरत के इन शब्दो मे इष्ट-नाश (पराजय के कारण गौरव, प्रतिष्ठा, स्वाभिमान आदि का नाश) से उत्पन्न निर्वेद-भाव प्रकट हुआ है। मम्मट के अनुसार ऐसा निर्वेद स्थायी भाव नही वरन् सचारी होता है।[1] अत. यहाँ पर शान्त रस की सृष्टि नही होती। भरत का वैराग्य-भाव केवल कथन मात्र ही रहता है, क्योकि बाहुबलि स्वय मुनि हो जाते हैं और भरत पूर्ववत् राजा बने रहते हैं।

शान्त रस का एक अन्य प्रसग नेमि (२२ वे तीर्थङ्कर) के चरित्र मे है। अपने विवाह के अवसर पर होने वाले भोज के निमित्त वध के लिये लाए जाने वाले पशुओ को देखकर नेमि को बड़ी व्यथा होती है। वे पशु-वध मे एक की तृप्ति तथा अनेक जीवो का प्राण-नाश देखकर उसके प्रति अत्यन्त घृणा प्रकट करते है। और इस प्रकार दारुण ससार की चिता करते हुए उनमे वैराग्य-भावना व्याप्त हो जाती है—

तथा—एक्कहु तित्ति णिविसु अण्णेक्कु वि जहिं प्राणिहिं विमुच्चए।
त भवविहुरकारि पलभोयणु महु सुन्दरु ण रुच्चए।
ससार घोरु चिततु सतु, गउ णियणिवासु एव भणतु।
(मपु० ८९।१।३-५)

णायकुयार चरिउ मे पिहिताश्रव मुनि द्वारा पृथिवीदेवी से कहे गए वचनो मे भी निर्वेद के दर्शन होते हैं। यहाँ वृद्धावस्था द्वारा यौवन का नाश, जीव का जन्म तथा मरण, श्रीमन्तो का दरिद्र होना, अति सुन्दर रूप का क्षय, प्रिय-पात्र से भी घृणा होना आदि बातो का उल्लेख हुआ है—

णियसिरि किं मण्णति णरा, णवजोव्वणु णामइ एइ जरा।
उप्पण्णहो दीसइ पुणु मरणु, भीमावणु ढुक्कइ जमकरणु।
सिरिमतहो घरि दालिद्दडउ, पइसरइ दुक्खभारुब्भडउ।
अइ सुन्दररूवें रूउ लहसइ, वीरु वि सगामगि तसइ।
पियमाणुसु अण्णु जि लोउ जिह, णिण्णेहे दीसइ पुणु वि तिह। (णाय० २।४।५-६)

---

(१) काव्यदर्पण, पृ० २७७ मे सगीत रत्नाकर से उद्धृत—
स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि। इष्टानिष्ट वियोगाप्ति-कृतस्तु व्यभिचार्यसौ।

जसहर चरिउ मे महाराज यशोधर अपनी परासक्ता नारी अमृतमती का कुकृत्य देखकर अत्यन्त व्यथित होते हैं। वे विचार करते हैं कि मानव-शरीर दुःख की पोटली है। यह धोने से भी पवित्र नही होता, सुगंधित करने से भी सुरभित नही होता, पोषण करने से भी बलवान नही होता, प्रसन्न किया हुआ भी अपना नही होता। इस प्रकार चिन्तन करते हुए वे इस निश्चय पर पहुँचते है कि प्रभात होते ही नगर, परिवार तथा राज्यलक्ष्मी का त्याग कर गहन वन और सघन पर्वतो की गुफाओ का आश्रय लूँगा। वही सुर, नर तथा नागो द्वारा पूजित मुनि-लिंग धारण कर महातप का आचरण करूँगा।

माणुससरीरु दुहपोट्टलउ, धोयउ धोयउ अइविट्टलउ।
वासिउ वासिउ णउ सुरहि मलु, पोसिउ पोसिउ णउ धरइ बलु।
तोसिउ तोसिउ णउ अप्पणउ, मोसिउ मोसिउ धरभायणउ। आदि
(जस० २।१११-३)

पुरु परियणु मिल्लिवि रायसिरि, कल्लइ आसयमि गहण गिरि।
पय पाडिय णरफणि सुरवरउ, तउ करमि धरमि मुणि वरवयइ।
(जस० २।१२।१-२)

वीर रस—

चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषो को अपने राज्यकाल मे या तो दिग्विजय-यात्राएँ करनी पडी हैं अथवा अपने प्रतिद्वंद्वियो का रण-निमत्रण स्वीकार कर युद्ध करने पडे है। ऐसे प्रसगो मे कवि को शौर्य तथा पराक्रम के साथ उत्साह का चित्रण करने का पर्याप्त अवसर मिला है। इन स्थलो के सवाद भी दर्पोक्तियो से भरे हैं।

वीर रस के कुछ स्थल इस प्रकार हैं—

दिग्विजय के उपरान्त अयोध्या लौटने पर जब भरत चक्रवर्ती का चक्र नगर के भीतर प्रवेश नही करता, तब कारण-स्वरूप उन्हे ज्ञात होता है कि उनकी दिग्विजय अभी पूर्ण नही है, क्योंकि बाहुबलि आदि भ्राताओ ने उनकी अधीनता नही स्वीकार की। इस समाचार ने भरत को उत्तेजित कर दिया। कवि के शब्दो मे उनके उद्गार सुनिए—

जमहु जमत्तणु को दरिसावइ, मइ मुएवि किर कवणु रसावइ।
एम कोवि किं जगि सतावइ, को किर सिहिसिहाहि सतावइ।
कहु महु तणउ पहुत्तु ण भावइ, कें पडिखलिउ जसु णहि भावइ।
आससुद्द मेइणिकरवालहु, को णासकइ महु करवालहु।
को किर मिच्च महारा मारइ, को विणिवारइ गज्झु वि मारइ।
(मपु० १६।६।६-११)

भरत कहते है कि स्वय यमराज को यमत्व कौन दिखा सकता है ? मेरी मृत्यु के पश्चात् फिर कौन राजा है ? ऐसा कौन है जिसे मेरी प्रभुता स्वीकार नही ? आकाश मे गमन करते हुए सूर्य को कौन प्रतिस्खलित कर सकता है ? कौन मेरी करवाल से शंकित नही होता ? आदि

यहाँ बाहुबलि आदि आलम्बन हैं। उनका अधीनता स्वीकार न करना उद्दीपन है। धृति तथा गर्व संचारी हैं। अपने पराक्रम का वर्णन अनुभाव है। सम्पूर्ण कथन मे उत्साह स्थायी भाव की व्यजना है।

अब बाहुबलि का उत्साह भी देखिए भरत का दूत उनके पास अधीनता स्वीकार करने का प्रस्ताव लेकर आता है। स्वाभिमानी बाहुबलि के लिये यह असह्य हो जाता है और वे तिरस्कारपूर्ण शब्दो मे भरत की भर्त्सना करते हुए युद्ध के लिए सनद्ध हो जाते हैं। इसी प्रसग मे दूत से वे कहते हैं कि मान-भग हुए जीवन की अपेक्षा मरण श्रेष्ठ है। भाइ आवे और मेरा आघात देखें। सन्ध्या-राग के समान उन्हे क्षण भर मे विध्वस कर दूँगा। मेरे वाणो का आघात देवेन्द्र भी नही सहन कर सकते। मैं भरत सेना के गज-समूह को नष्ट कर डालूँगा तथा रण-निमित्त आए सुभटो का दलन करूँगा। हे दूत, तुम्हारे प्रभु आवें और मुझ बाहुबलि के सम्मुख अपना बाहुबल प्रदर्शित करें—

माण भगि वर मरणु ण जीविउ, एहउ दूय सुट्ठु मइ भाविउ ।
आवउ भाउ घाउ तहु दंसमि, सझाराउ व खणि विद्धसमि ।
सिहिसिहाहं देविंदु वि ण सहइ, महु मणसियहु विसिह को विसहइ ।
एक्कु जि परउव्वारु णरिंदहु, जइ पइसरइ सरणु जिणयदहु ।
घत्ता—सघट्टमि लुट्टमि गयघडहु दलमि सुहड रणमग्गइ ।
पहु आवउ दावउ वाहुबलु महु बाहुवलिहि अग्गइ ॥
(मदु० १६।२१।८-१३)

यहाँ बाहुबलि के उत्साह के आलम्बन भरत हैं। दूत के वाक्य उद्दीपन तथा गर्व, धृति एव औत्सुक्य सचारी है। बाहुबलि के इन शब्दो मे असीम उत्साह की व्यजना है।

रामायण के अनेक प्रसगो मे वीर रस का सुन्दर निर्वाह हुआ है। लकेश रावण द्वारा सीता-हरण किये जाने का समाचार प्राप्त होते ही, भरत, शत्रुघ्न तथा अन्य सामन्त-सुभट आदि गज-तुरगो के समान शब्द करते हुए राम के निकट आते हैं। इसी समय राम को दुर्मन देखकर जनार्दन (लक्ष्मण) का हृदय शत्रु (रावण) का सहार करने के उत्साह से भर जाता हैं और वे तत्काल गरज कर कहते हैं—

घत्ता— रिउ जरकुरगु महु आवडइ हउं हरि उद्धयकेसरु ।
जइ दुट्ठु दिट्ठिगोयरि पडइ तो मारमि लकेसरु ॥
(मपु० ७३।६।१२-१३)

अर्थात् मुझ सिंह के सम्मुख रावण जरकुरग सा आभासित होता है। यदि दुष्ट लंकेश्वर मुझे दृष्टिगोचर हो तो मैं अवश्य उसका वध करूंगा।

राम-दूत के रूप आए हुए हनुमान, रावण के अतस् मे कर्त्तव्य-बुद्धि उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं। परन्तु उस पर कोई प्रभाव न पडते देखकर अत मे वे कहते हैं कि हे रावण, तू मेरे कथन पर ध्यान नही देता अत सग्राम मे तेरा लक्ष्मण द्वारा अवश्य मरण होगा। इस पर रावण कहता है—

हेला—सरण सुरवरस्स पइसरइ जइ वि काम।
तो वि अहं हणामि सहुं किंकरेहि राम।
धुवु पावमि भुक्खिउ कालकलि, तिलमेत्तइ खडइ देमि वलि।
लक्खणहु सुलक्खणु अवहरमि, वदिग्गहि पुहइदेवि धरमि।
णयरिउ मदिरणिज्जियससिउ, गेण्हिवि कोसलवाणारसिउ।
भडरुहिरमहासमुद्दि तरमि, सुग्गीवहु गीवभगु करमि।
खलणीलहु णीलउ सिरु लुणमि, कुमुयहु कुमुयप्पएसु वणमि।
दसरहदसप्राणइ णिट्ठवमि, जणयहु जिउ जमपुरि पट्ठवमि।
(मपु० ७४।१६।१-८)

अर्थात् यदि राम इद्र की शरण मे भी जाये, तो भी मैं उनको सेना सहित मारूंगा। तिल मात्र मे उनका खडन करके वलि दूंगा। लक्ष्मण की सुलक्षणता नष्ट करके सीता को वदीगृह मे रखूंगा। कोशल, वाराणसी को जीत कर वीरो के रुधिर रूपी महासमुद्र मे तैरूंगा। सुग्रीव की ग्रीवा भग करूंगा। दुष्ट नील का शिर काट कर, कुमुद को मार कर दशरथ को दशो प्राणों को समाप्त करूंगा। जनक को यमपुरी भेज दूंगा।

रावण की यह उद्दडता लक्ष्मण को कब सहन हो सकती थी ? हनुमान ने लौट कर जैसे ही यह वृत्तान्त सुनाया, वैसे ही लक्ष्मण उत्साह से रोमाचित होकर कह उठे—

रणि मारमि दससिरु कुंभयण्णु, दलवट्टमि झत्ति णिकुंभु कुंभु।
जीवावहाह खरदूसणाह, दारमि उरु रहुवइदूसणाह।
पहरति केम हत्थप्पहत्थ, मइ मुक्कसरावलिछिण्णहत्थ।
मारीयउ मारिहि देमि गासु मउ णिम्मउ रणि कासु वि खगासु।
विद्धसमि इदइइदजालु अरिपुरु पलित्तु लग्गग्गिजालु। (मपु० ७५।१।७-१२)

यादवो के जीवित होने का समाचार सुनकर जरासघ कहता है कि मेरे जीते जी यादव नही जीवित रह सकते। मैं शीघ्र ही उन्हे मारूंगा जैसे अग्नि लगने पर वन के पादप नही खडे रह सकते। मैं उनके वल-विलास की छवि को नष्ट करूंगा।

मइ जियति जीवति ण जायव, हुयवह्व लग्गु धरति ण पायव ।
मारमि तेण समउं णीसेसवि, फेडमि बलविलासु पसरन्छवि ।
(मपु० ८८।३।४,८)

कवि ने युद्ध के लिये प्रस्तुत स्वामिभक्त वीरो के उत्साह का चित्रण करते हुए उसमे कतिपय रति संबधी भाव भी सम्मिलित कर दिये है। इस प्रकार वीर के साथ शृ गार रस संचारी के रूप मे आ गया है।

बाहुबलि की सेना का एक भट अपनी पत्नी से कहता है कि मैं आज शत्रु को नष्ट करके अपने स्वामी का राज्य निष्कटक कर दूंगा। शत्रु तुच्छ है और मैं धैर्यवान हूँ। हे सुन्दरी, तू क्यो विचार करती है ? आ, शीघ्र मुझे आलिंगन का हाथ दे। कौन जानता है कि पुन कब मिलन-सयोग होगा—

भड्डु को वि भणइ परु हणमि अज्जु, णिक्कटउ सामिहि देमि रज्जु ।
पहु तुच्छु पउर रिउ हउ वि धीरु, भणु सुन्दरि किं कीरइ वियारु ।
अवरुडहि लहु दे देहि हत्थु, को जाणइ पुणु सजोउ केत्थु ।
(मपु० १७।५।९-११)

ऐसे प्रसगो मे स्वामिभक्त वीरो के उत्साह के साथ ही उनकी कर्त्तव्य-निष्ठा का भी सुन्दर चित्रण हुआ है। इसी प्रसग मे एक अन्य वीर के विचार भी देखिए—

कोई महासुभट अपनी पत्नी से कहता है कि यह उचित नही है कि मैं तुम्हारे साथ भोग-विलास मे लिप्त रहूँ, जब कि हमारा राजा युद्ध के लिये प्रस्थान कर रहा है। आज ही तो मै रण मे शीश-दान देकर अपना ऋण चुकाऊ गा।

घत्ता—भासइ कोवि महासुहडु मुइ मुइ कति ण एवहि मज्झमि ।
णिग्गवि रायहु तणउ रिणु अज्जु सीसदाणेण विसुज्झमि ।
(मपु० १७।५।१३-१४)

वीर-प्रसूता भारत भूमि का इतिहास जहाँ वीर पुरुषो की गाथाओ मे गौरवान्वित है, वहाँ वीर ललनाओ के त्याग एव शौर्य-पूर्ण दृष्टान्तो से अलकृत भी है। कवि उन वीर रमणियो को कैसे भूल सकता है ? निम्नलिखित पक्तियो मे वीर-पत्नियो के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

भरत-बाहुबलि के युद्ध-प्रसंग मे कोई नारी युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए पति मे रण का उत्साह भरती हुई कहती है कि हे प्रियतम, मेरे हाथो मे मणि-कंकण शोभा नही देते। उनमे तो शत्रु के हस्ति-दत के वलय ही शोभा देंगे। अत आप मेरे प्रेम के वशीभूत होकर उन्ही को लायें, जिनकी धवलिमा में आपके पुरुषार्थ रूपी यश की दीप्ति हो—

वहु का वि भणइ हत्थागएण, किं कीरइ मणिककणसएण ।
अरिकरिदतुंभउ एक्कु जइ वि, वलउल्लउ सोहइ हत्थि तइ वि ।
त धवलउ तुह पोरिसजसेण, आणेज्जसु पिय महु रइवसेण ।
(मपु० १७।२।१-३)

एक अन्य नारी का अपने पति को दिया जाने वाला प्रोत्साहन भी द्रष्टव्य है । उसका कथन है कि हे प्रिय, आप अभिमानी शत्रु राजा से युद्ध करें क्योकि सामान्य सैनिको का वध करने से कोई लाभ न होगा । जैसे राहु तारागणो से रुष्ट नही होता वरन् सूर्य तथा चन्द्रमा से ही युद्ध करता है, वैसे ही बलवान को मारने से आपको यश प्राप्त होगा —

वहु का वि भणइ अहिमाणगाहि, लग्गिज्जसु पिय पडिवक्खणाहि ।
ऊणेण हएण वि णत्थि लाहु, उडुगणहु ण रूसइ तुण राहु ।
जिम मिहरहु जिम हिमयरहु भिडइ, वलिणा हएण जसु चदि चडइ ।
(मपु० १७।२।६-११)

त्रिपृष्ठ-हयग्रीव के युद्ध-प्रसग मे भी हमे नर-नारियो के वीर रस पूर्ण वचनो तथा चेष्टाओ के दर्शन प्राप्त होते है ।

कोई भट अपने खड्ग को हाथ मे नही लेता, क्योकि वह वैरी का खड्ग छीनने मे समर्थ है । कोई भट अपने अग मे कुकुम नही लगाता, क्योकि वह शत्रु के रुधिर से अपने अग का शृगार करेगा ।

भडु को वि ण खग्गहु देइ हत्थु, परपहरणहरणि सया समत्थु ।
भडु को वि ण लावइ घुसिणु अगि, रावेसइ तणु रिउरुहिरु अगि ।
(मपु० ५२।११।६-१०)

कोई भट कहता है कि यदि मेरे प्राण जायें तो जाये, परन्तु मेरे प्रभु का प्रताप स्थिर रहे । कोइ वीर कहता है कि रिपु कितना हो प्रचण्ड हो, मैं आज उसे खड-खड कर डालूगा । कोई सैनिक अपनी पत्नी से कहता है कि मुझे स्नान करादे, जिससे मैं शुद्ध शरीर होकर प्राण-दान दे सकू । अन्य कहता है कि यदि रण मे मेरा शिर कट जायेगा, तो मेरा रुड (कबध) शत्रु को मार कर नृत्य करेगा । कोई भट कहता है कि मैं असि रूपी धेनु से यश रूपी दुग्ध प्राप्त करूगा । कोई स्वाभिमानी वीर कहता है कि यदि युद्ध मे मेरी मृत्यू होगी तब भी मेरे पैर शत्रु के सम्मुख ही होंगे । कोई भट उत्साह के साथ अपने धनुष के दोषो को दूर कर रहा है तथा बाणो को उज्ज्वल कर-करके रख रहा है । किसी के बधे हुए युगुल तूणीर मानो गरुड के कम्पित पक्ष पटल से प्रतीत होते हैं ।

कोई अपनी पत्नी से कहता है कि हे सौभाग्यवती, तुम मेरी साक्षी हो, यदि मैं शत्रु सेना से भिड कर तथा वैरी का सिर काटकर अपने राजा को विजय श्री न

प्रदान कर सकूँगा तो मैं पर्वत पर जाकर पाप को नष्ट करने वाले घोर तपश्चरण का आचरण करूंगा—

भड्ड को वि भणइ जइ जाइ जीउ, तो जाउ थाउ छुड्ड पहुपयाउ।
भड्ड को वि भणइ रिउ एंतु चड्ड, मइ अज्जु करेवउ खड्ड खड्ड।
. ...
भड्ड को वि भणइ हलि देइ ण्हाणु, सुइ देहे दिज्जइ प्राणदाणु।
....
भड्ड को वि भणइ जइ मुंडु पडइ तो महु रुंडु जि रिउ हणवि णडइ।
. .. .
भड्ड को वि भणइ असिधेणुयाहि, जसदुद्धु लेमि णरसत्थुयाहिं।
भड्ड को वि भणइ हलि छिण्णु जइ वि, महुँ पाउ पडइ रिउसउहुँ तइ वि!
भड्ड को वि सरासण दोसु हरइ, सरपत्तइ उज्जुय करिवि धरइ।
भड्ड को वि वद्धतोणीरजुयलु, ण गरुडसमुद्धुयपक्खपडलु।
भड्ड को वि भणइ कलहंसवाणि, महु तुहु जि सक्खि सोहग्गखाणि।

घत्ता—

परवल अब्भिडिवि रिउसिरु खुडिवि जइ ण देमि रायहु सिरि।
तो दुविकयहरणु जिणतवचरणु चरवि घोरु पइसिवि गिरि।।

(मपु० ५२।१२।३-१६)

वीरो के ये कथन क्षात्र धर्म के चरम लक्ष्य का दिग्दर्शन कराते हैं। स्वामि-धर्म का अनुसरण करने वाला ही सच्चा शूर होता है। युद्ध का समय इन योद्धाओ के लिये अत्यन्त आनन्द का क्षण उपस्थित करता है। रण-क्षेत्र मे हसते-हसते प्राणो का वलिदान करने वाले इन असीम साहसी वीरो के उद्‌गार कितने मार्मिक हैं तथा उनका उत्साह भी दर्शनीय है।

वीर बालाओ के कुछ उद्‌गार हम पूर्व ही प्रस्तुत कर चुके है। अब कुछ अन्य वीर-वधुओ का उत्साह भी देखिए—

वहु कासु वि देइ ण वहियतिलउ, अहिलसइ वइरिरुहिरेण तिलउ।
वहु कासु वि पिवइ ण अक्खयाउ, खलवइ करिमोत्तिय अक्खयाउ।
वहु कासु वि करइ ण धूवधूमु, मग्गइ पडिमुहडमसाणधूमु।
वहु कासु वि ण पइ कुसुममालु, इच्छइ ललनि पिसुणतमाल।
× × ×
वहु का वि ण भुंजइ मुसगलाइं, आवेक्खइ अरिसिरमग्गलाइं।
वहु कासु वि णाउ दावइ पईवु, भो कंत तुहुं जि कुलहरपईवु।
वहु कासु वि पारभइ ण णट्टु, मचितइ सत्तु कवंघणट्टु।
वहु का वि ण जोयइ किं मिरोइ, पियपमु जोएवइ उयमिरोइ।

(मपु० ५२।१३।४-१२)

अर्थात् कोई वधू रण-भूमि के लिए प्रस्थान करते हुए अपने पति के मस्तक पर दधि-तिलक नही लगाती वरन् वह शत्रु के रुधिर का तिलक लगाने की अभिलाषा करती है। किसी की वधू अपने पति पर अक्षत नही चढाती वरन् वह शत्रु के हस्ति-मुक्ता रूपी अक्षतो को चढाने की कामना करती है। किसी की वधू धूप-धूम्र नही करती, वह युद्ध मे मारे गये शत्रु के वीरों की श्मशान भूमि के धूम्र को चाहती है। किसी की वधू उसे पुष्प-माला नही अर्पित करती, वह तो पति को विजय के उपरान्त शत्रुओ की अतडियो की माला पहनाना चाहती है। किसी वीर की वधू मगल गान नही गाती, वह शत्रु के कपालो को देखकर आनन्दित होना चाहती है। किसी की वधू दीपक जला कर आरती नही उतारती, वह पति से कहती है कि हे कत, आप तो स्वय अपने कुल के दीपक है, अत दीपक को दीपक दिखलाना क्या ? किसी की वधू नृत्य नही करती वरन् वह शत्रु के कवधो के नृत्य का विचार करती है और कोई नारी अपनी शोभा की ओर ध्यान नही देती, वह तो अपने प्रियतम की विजय-श्री के दर्शन करना चाहती है।

इस प्रकार हम देखते है कि कवि ने रणोन्मत्त वीरो के उत्साह के साथ ही उनकी वीर पत्नियो का भी चित्रण किया है, जो समय आने पर स्वय वीरोचित आशा एव शक्ति की मूर्ति बन कर अपने पतियो मे अदम्य साहस भरती हुई उन्हे युद्ध-भूमि मे कौशल दिखलाने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। भारतीय नारी का यह आदर्श अन्यत्र कठिनाई से प्राप्त होगा।

रौद्र रस

रौद्र का स्थायी क्रोध है। प्रतिकूल व्यक्तियो के विषय मे तीव्रता के उद्बोध को ही क्रोध कहेंगे। कवि ने युद्ध के प्रसगो मे क्रोध की सुन्दर अवतारणा की है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है—

चक्रवर्ती भरत मगध-राज के प्रासाद मे बाण-निक्षेप करते है। अपनी कीर्ति तथा प्रतिष्ठा का यह अपमान देख कर उसकी भ्रू-भङ्गिमा कुटिल हो जाती है। वह विस्फुरित दशनो से अपने अधर दबाता हुआ मेघ गम्भीर स्वर से प्रश्न करता है कि किसने स्वय यमराज की जिह्वा उत्पाटन करने का साहस किया ? बोलो, कौन काल द्वारा अपना क्षय चाहता है ? कपायमान नाग-वलय को कौन ग्रहण करना चाहता है ? धरणि-सिंहासन को किसने भग्न करना चाहा ? बोलो, किसने पर्वत को अपने हाथो मे लिया ? किसने सोते हुए सिंह को जगाया ? नभ मे गमन करते हुए सूर्य को किसने स्खलित किया ? किसके सिर पर काक ने शब्द किया ? यम के दातो के नीचे कौन बसा है ? बोलो, किसने मेरे मान का खडन किया ? जिसने रण प्रारम्भ करने की इच्छा की है, वह मुझसे आज नही बच सकता। यह कहते हुए उसने तलवार निकाल ली—

भूभगभीसभिउडीहरेण, विप्फुरिय दसणडसियाहरेण।
सुरसमरसहास भयकरेण, दुणिरिक्खविवक्खखय करेण।
देवेण समुद्दपरिग्गहेण, तं पेक्खिवि गज्जिउ मागहेण।
भण केणुप्पाडिय जमहु जीह, भणु केण लुहिय खयकाललीह।
णायउलवलयविलुलतु गीढ़, भणु केण णिसु भिउ धरणिवीढु।
भणु केण कलिउ मदरु करेण, उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण।
भणु केण खलिउ णहि भाणु जतु, णिव्विण्णउ प्राणह को जियतु।
भणु कासु कराडिहि रिट्ठु रसिउ, भणु को कयतदतति वसिउ।
भणु केण विहडिउ मज्झु माणु, केणेहु विसज्जिउ कुलिसवाणु।

घत्ता—

जेणेउ वियभिउ रणु पारभिउ सो महु अज्जु ण चुक्कइ।
णिब्भगु जमाणणु भीयउ काणणु बिहि वि एक्कु ध्रुवु ढुक्कइ।

(मपु० १२।१७।१-११)

इय भणिवि तेण कड्ढिउ करालु...... ।

इस स्थल पर वाण निक्षेप करने वाले भरत आलम्वन है। वाण उद्दीपन है। आवेग, उग्रता, अमर्ष तथा गर्व सचारी है। भ्रू कुटिल होना, अधर चबाना, गर्जन करना, तलवार निकालना आदि अनुभाव हैं। मगध राज के प्रत्येक वचन से क्रोध व्य जित होकर रौद्र रस का परिपाक हो जाता है।

हिमवत कुमार भी इसी प्रकार भरत के प्रति क्रोध करता है—

दीहर जालामालाजलिउ, पलयाणलु केण पडिक्खलिउ।
केसरिकेसरु उल्लूरियउ, कालाणिलु केण वियारियउ।
....
जगि केण भाणु णित्तेइयउ, महु केण रोसु उप्पाइयउ।
को पारु पराइउ णहयलहो, को सुपहुत्तउ णियभुयवलहो।
किं ण मरइ करवालेण हउ, ण वियाणहु किं सो वज्जमउ।
सरु मज्झु वि केण विसज्जियउ, खयडिडमु कासु पवज्जियउ।

जेण विमुक्कु सरु अइदीहु समाणु फणिदहो।
सो महु मरइ रणे जइ पइसइ सरणु मुणिंदहो।

(मपु० १५।३।१-१२)

दूत द्वारा वाहुवलि का रण-निमत्रण प्राप्त कर महाराज भरत क्रोधाभिभूत हो जाते हैं। कवि ने इस अवस्था मे उनके अनुभावो का चित्रण इस प्रकार किया है—

ता समरचित्तु विसरिसु विरुद्धु, विप्फुरियदसणडसियाहरुद्धु।
कढिणयरपाणिपीडियकिवाणु, उद्धुयमोमियहरमडंहकाणु।

तिवलीतरगभगुरियभालु, ण सीहु कुडिलदाढाकरालु ।
अरुणच्छिच्छोह रजियदिय तु, ण पलयजलणु धगधगधगतु ।
(मपु० १७।१।३-६)

अत भरत ने विस्फारित दशनो से अपने अधर दवा लिये । शक्तिशाली हाथ मे कृपाण कस कर पकड ली । उनकी भौंहो के कोण कु चित हो गये । भाल पर तीन रेखाओ की भगिमा दृष्टिगत होने लगी मानो सिंह के कुटिल दात ही हो । उनके अरुण नेत्रो के क्षोभ मे दिशाए रजित हो गई मानो प्रलयाग्नि धग्-धग् जल रही हो । ऐसे ही रोप मे भरे हुए वे बोले—

सुयरेप्पिणु तायहु तणउ चारु, जइ कह व ण मारमि रणि कुमारु ।
तो धरिवि णिरुभवि करमि तेम, अच्छइ करि जिह णियलत्थु जेम ।
महु कुद्धहु रणि देव वि अदेव, सो ण करइ कि महु तणिय सेव ।

यदि रण म मेरे द्वारा वाहुवलि के मारे जाने के कारण पिता (ऋपभ) को कष्ट होगा तो मैं उसको हाथी की भाँति शृ खला से वाँध कर रखू गा । जव रण मे मेरे क्रोध से देव-अदेव भी नही वचते, तो वह (वाहुवलि) मेरी सेवा क्यो न करेगा ।

यहाँ भरत द्वारा अपने पिता के कष्ट का स्मरण करने के कारण क्रोव की तीव्रता मद पड जाती है । परन्तु कवि ने भरत की इस गर्जना के उपरान्त अतिभीपण काल स्वरूप तथा गिरेन्द्रधीर मुकुटवद्ध माण्डलिक राजाओ का भरत के सम्मुख सन्नद्ध होने का वर्णन करके रौद्र रस को सृष्टि करदी है ।

लका-दहन करते हुए हनुमान का रौद्र रूप भी देखने योग्य है—

कुडिलवद्ध मच्छर इच्छियकलि, जलियजलण जालाकेसावलि ।
गु जापु ज रत्तणेत्तुब्भड, दाढाचडतु ड पललपड ।
दीहदीहजीहादललालिर, परवलघोलिर हूलिर मूलिर ।
(मपु० ७६।८।४-६)

सग्राम मे राम-पक्ष की ओर विभीपण को देखते ही रावण का क्रोध उवल पडता है । वह कहता है—

ता दहमुहेण भाइ दुव्वोल्लिउ, पइ णियवसुम्मूलिवि घल्लिउ ।
विणु अब्भासवसेण सरासइ, गोत्तकलिइ लच्छि व्रुवु णासइ ।
एउ ण चितउ कुलविद्धसण, दुम्मुह दुट्ठ कट्ठ दुद्दसण ।
(मपु० ७८।११।१०-१२)

भीपण युद्ध करते हुए रावण का रौद्र रूप भी देखते ही वनता है—

दुवई—ता धगधगधगतु खयजलणु व खेयरलच्छिमाणणो ।
खणि वहुरूविणीइ वहुरूवहि उद्धाइउ दसाणणो ॥

चउहु मि पासहिं भडु भीसावणु, जलि थलि महियलि णहयलि रावणु।
वीसपाणिपरिभामियपहरणु, तिणयणगलतमाल सणिहतणु।
गुंजा पुंज सरिस णयणारुणु, हणु हणु हणु भणतु रणदारुणु।
अग्गइ पच्छइ चचलु धावइ, मणहु वि पासिउ वेए पावइ।

. . ... .

घत्ता—भीमाहवचंडहिं दढभुयदडहिं चप्पिवि ह्रकरेवि धरइ।
करि रोहइ जोहइ करणहिं मोहइ दसणविहिण्णु वि णीसरइ॥
(मपु० ७८।१६।१-१५)

क्रोध-भाव की व्यजना णायकुमार चरिउ के इस प्रसग मे भी देखी जा सकती है। गौडराज अरिदमन की सभा मे महाव्याल शान्ति-प्रस्ताव लेकर जाता है, परन्तु वह इस प्रस्ताव को ठकरा देता है और क्रोधित होकर अनेक वचन कहता है। कवि ने उसका चित्रण इस प्रकार किया है।

विप्फुरियरयणकुंडलधरेण, अपणामे खडियतुहसिरेण।
मरु कवणु दूउ किर कवणु राउ, सव्वहं पाडमि जमदडघाउ।
णीसारहु मारहु पिसुणु धिट्ठु, सरसुत्तियारु पाविट्ठु दुट्ठु।
(णाय० ४।६।८-१०)

यहाँ दूत के वचन आलम्बन हैं। अरिदमन द्वारा कहे गये शब्दो मे रौद्र का स्पष्ट रूप लक्षित होता है।

भयानक रस—

कवि ने भय का परिपाक अनेक स्थलो पर किया है। यहाँ हम केवल कुछ विशिष्ट स्थलो को ही विचारार्थ प्रस्तुत करेंगे।

दिग्विजय-अभियान के प्रसग मे चक्रवर्ती भरत जब मगधराज के भवन को देखकर अपने धनुष को घोर टकार करते हैं, तब समस्त तारा, ग्रह, सूर्य आदि आन्दोलित हो जाते हैं। पृथिवी हिलने लगती है, सूर्य के अश्व आतकित हो जाते हैं, मेरु, शेष वरुण आदि कपित होते हैं, तथा यम वैश्रवण एव पवन आशकित हो जाते हैं। सरिताएँ, सागर आदि चलायमान होते हैं। पुर-प्राकार, गृहादि धराशायी होने लगते हैं। कायर भय के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं। श्रेष्ठ वीर भी खड्ग पर दृष्टि लगाये रहते हैं। अन्य चिल्लाते हैं कि हा, सृष्टि नष्ट हो गई। धनुष के भीम शब्द को सुनकर भटादि भी भय का अनुभव करते हैं। शका होती है कि क्या मदर का शिखर स्थानाच्युत हो गया अथवा जग को कवलित करके काल भीषण अट्टहास कर रहा है। इस समय पाताल मे शेष, धरती पर नाजा-नाग तथा स्वर्ग में सुरेन्द्र भी कम्पित हो जाते हैं। कवि कहता है कि ऐसे धनुष के शब्द मे कौन भयभीत नहीं हुआ। देखिए—

रिउभवणु पलोइवि णिववरेण, अप्फालिउ धणुहुँ धणुद्धरेण ।
अदोलिय तारागहपयग, महि चालिय विवरणिग्गयभुयग ।
अच्छोडियववण विवलियग, णिण्णासिय तासिय रवितुरग ।
थरहरिय धराहर धरण वरुण, आसकिय जम वइमवण पवण ।
मचालिय सरिसरसायरभ, गयमयगल मुडियालाणखभ ।
णिवडिय पुरवर पायार गेह, मुय कायर णर भयभतदेह ।
वरवीरहिंखग्गहु दिण्ण दिट्ठि, अवर वि चवति हा णट्ठ सिट्ठि ।
दप्पिट्ठ दुट्ठ भुयवलविमद्द, भडभीयरु भाइ भीमु सद्द ।
कि मदरसिहरु सठाणल्हसिउ कि जगु कवलिवि कालेण हसिउ ।
घत्ता—पायालि फणिदहिं महिहि णरिंदहिं सग्गि सुरिंदहिं कपिउ ।
धणुगुणटकारें अइ गभीरें कासु ण हूयउ विप्पउ ॥

(मपु० १२।१५।४-१४)

यहाँ भय का आलम्बन भरत के धनुप की टकार है । तारा-ग्रहो का आन्दोलित होना धरती का डगमगाना, मेरु का कपित होना, सागर का चलायमान होना तथा पुर प्राकार आदि का धराशायी होना उद्दीपन है । शका, चिंता, त्रास, आवेग आदि सचारी भाव भी यहाँ स्थायी भाव को पुष्ट करते है । कायरो का मरना, वीरो का आशकित होना, तथा सुरेन्द्रादि का कपित होना अनुभाव है । इस प्रकार भयानक रस की परिपुष्टि होती है ।

भय का दूसरा उदाहरण उस समय का है, जब भरत की दुर्दमनीय सेना म्लेच्छ-मडल को कपित करती हुई प्रस्थान करती है । कवि ने दडक छद मे गजो की चिग्घाड, तुरगो का हिनहिनाना आदि का वर्णन ऐसी वर्ण योजना द्वारा किया है कि समग्र वातावरण मे भय व्याप्त होता हुआ प्रतीत होता है—

ज गुलुगुलतचोइयमयग पय भूरिभार भारिज्जमाण भूकपणमिय
णाइद मुक्कपुक्काररावघोर ।
ज हिलिहिलत वाहियतुरग खरखुररयावणी चलिय धूलि णासत
तियसतरुणीविचित्त चोलतचेलचित्त

(मपु० १४।७।३-४)

ऐसी विकट वाहिनी को चारो ओर से आच्छादित होते देख म्लेच्छ राज भयभीत होकर कहता है कि अब कहाँ शरण है । मेरा मरण निश्चित है क्योकि शत्रु प्रचण्ड रूप से बढता चला आ रहा है—

घत्ता—त पेच्छिवि पवलु रत्थरिउ बलु वोलिज्जइ मेच्छकुलेसहिं ।
एवहिं को सरणु ढुक्कइ मरणु रिउ धाइय चउहु पासहिं ।

(मपु० १४।७।११-१२)

यहाँ भय का आलम्बन भरत की विशाल सेना है। पूर्वोक्त उद्धरण मे वर्णित सेना का प्रचण्ड रूप ही उद्दीपन है। त्रास, शका तथा चिंता के भाव सचारी रूप मे है।

पाताल से धरणेन्द्र के आगमन का दृश्य भी भय का सचार करता है। उसके विस्तृत फण-सघात द्वारा नि.सृत फुफकार से महिधर भी कपित हो जाते हैं। सिंह तथा गज व्याकुल होकर गर्जन करते तथा चिग्घाडते हैं। पर्वतो के अति निघर्षण से अग्नि प्रज्ज्वलित होकर समस्त कानन प्रदेश मे फैल जाती है और उसके ताप से आशकित होकर मुनि-वृ द तक भागने लगते है—

ता णिग्गमणमेव धरणेण कय सभरियजिणवर ।
फारफणाकडप्प फुक्कारुल्लालियसमहिमहिहर ॥
महिहररुदकदराय पण णिग्गयकूरहरिवर ।
हरिओरालिरोलवित्तासिय णासियमत्तकु जर ॥
कु जरचडुलचरणपडिपेल्लण पाडियपयडभूरुहं ।
हुयवहविप्फुलिग जालावलि जलियसमत्तकाणण ।
काणणसणिसण्णमुणितावासंकियसयलसुरयण ॥

(मपु० ८।७।५-१२)

राम की विशाल सेना के प्रयाण से महि कपित होती है, शेष धरा-भार से नमित हो मौन रह जाते हैं, हाथियो के गमन से मार्ग क्षुभित तथा मदजल से कर्दम-पूर्ण हो जाता है, जिसके कारण जन-समुदाय शका से भर जाता है। समुद्र भी भयातुर हो जाता है और देवेन्द्र कातर तथा व्याकुल होकर स्थिर रह जाते हैं।

सचल्लति रामि महि कपइ, धरभरणमिउ ण फणिवइ जपइ ।
गय पयकुडिय कुहिणि मयपके, दुग्गम भावइ कयजणसके ।
....,........
रसिय भएण णाइ रयणायर, थिय देविंद त्रिसुठल कायर ।

(मपु० ७८।१।५-६, ११)

इसके अतिरिक्त वानर सेना द्वारा लका घेरने (मपु० ७७।५) तथा गोकुल मे मूसलाधार वृष्टि (मपु० ८५।१६) के प्रसग भी भय का भाव उत्पन्न करते हैं। श्मशान के दृश्यो मे कवि ने भयानक के साथ वीभत्स का सयोग उपस्थित किया है। इसका विवेचन हम वीभत्स रस के अन्तर्गत करेंगे।

वीभत्स रस

वीभत्स के दर्शन हमे श्मशान तथा युद्ध के दृश्यो मे विशेष रूप मे प्राप्त होते हैं। कवि ने श्मशान के दो स्थलो पर वर्णन किये हैं। एक तो महापुराण मे है और दूसरा जसहर चरिउ मे।

महापुराण मे वसुदेव के शमशान-भूमि मे पहुँचने पर कवि ने उसका विस्तार से वर्णन किया है। वहाँ वसा की दुर्गंध आ रही थी। शव पडे हुए थे। श्वान इधर-उधर घूम रहे थे। मुक्त शब्द करती हुई शृगालियाँ लवी-लवी आतो का भक्षण कर रही थी। शूल-भग्न शरीर पडे थे। चोर क्रदन कर रहे थे। विलाव घोर शब्द करते हुए विचर रहे थे। वीरेश मत्र के साधक हुकार कर रहे थे। धूम्र का अधकार सर्वत्र व्याप्त था। उलूक कभी आकाश मे उडते तथा कभी भूमि पर वैठते थे। वट वृक्ष वैताल-वत् खडे थे। दिशा-डाकिनी खाती-पीती तथा नर-ककाल की वीणा वजाती हुई गा रही थी—

वसा वीसढ देहि देहावसाण, पविट्ठो असाण ससाण मसाण।
कुमारेण त तेण दिट्ठ रउद्द, ललततमाल सिवामुक्कसद्द।
महासूल भिण्णगकदतचोर, विय भत मज्जार घोसेण घोर।
विहृटत वीरेस हुकारफार, पलिप्पत सत्तच्चिधूमधयार।
णहुड्डीणभूलीणकीलाउलूय, समुट्ठतणग्गुग्ग वेयालरूय।
नृककाल वीणासमालत्तगेय, दिसाडाइणी दुग्गखज्जतपेय।

(मपु० ८३।५।३-८)

यहाँ वसा, शव, आतो आदि से हृदय मे जुगुप्सा का भाव उत्पन्न होता है। साथ ही विलाव के शब्द करने, मत्र-साधको के हुकार करने तथा उलूको के उडने मे भय की निष्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रायः वीभत्स तथा भयानक का साहचर्य काव्यो मे देखा जाता है। मालती माधव के शमशान वर्णन तथा चदवरदायी कृत रासो के युद्ध-प्रसगो मे इन दोनो रसो के साथ-साथ दर्शन होते है।

जसहर चरिउ के शमशान का दृश्य भी ऐसा ही है। वह स्थान शृगाल-शृगालियो द्वारा विदारित उदर वाले मृतको के समूह तथा कर-कर शब्द करने वाले काक-कुलो से व्याप्त हो रहा था। वहाँ फल-रहित शुष्क वृक्ष थे, राक्षसियो के मुखो से दीर्घ नि श्वास निकल रही थी और शूली पाए हुए चोरो के भयानक शव पडे हुए थे। वसस्य माम-भक्षी पक्षी उड रहे थे तथा निशाचर किलकिल निनाद कर रहे थे। चिता मे जलते हुए केश-पुज के धूम्र की गध वातावरण मे सर्वत्र फैल रही थी। भग्न भाजन तथा कपाल पडे हुए थे—

त च केरिस काल गोयर, सिवसियाल दारियमओयर।
करयरतकायउलसकुल, दखरुक्ख सुक्खेहि णिप्फल।
रक्खसामुहामुक्कणीसण, सूलभिण्ण चोरउलभीसण।
पक्खिपक्खलक्खेहि छाइय, किलकिलतणिसियर णिणाइय।
भीयर चियाचिच्चिजालय, धितवालधूलालिणोलय।

धूमगधघावत साणय, सव्वदेहिदेहावसाणय ।
पवणपेल्लणुल्ललियभप्पर, भग्गभाण विक्खित्तखप्पर ।
जस० १।१३।२-८)

राम-रावण युद्ध मे एक स्थल पर वीभत्स का निरूपण हुआ है—

किलिकिलिरवसोसिय कीलालइ, दिसिविदिसुट्ठउग्गवेयालइ ।
मिलियदलियपक्कलगाइक्कइ, वसकद्दम णिमण्ण रहचक्कइ ।
अतमिलतथत कायउलइ, वालपूल णीलियधरणियलइ ।
(मपु० ७८।४।७-९)

इस स्थल पर कल-कल शब्द करता हुआ रक्त-प्रवाह, वसा के कर्दम मे निमग्न रथ-चक्र, आतो के ढेर मे काक-समूह तथा केश-निचय-पूरित धरणीतल देख कर सहज ही जुगुप्सा का भाव उत्पन्न होता है ।

इसी प्रकार कृष्ण-जरासध युद्ध मे हिंस्र जतु मास-भक्षण करते हैं, गृद्ध भक्षित शरीरो मे लुब्ध हैं, घावो से रक्त की धाराए बह रही हैं तथा योगिनी, वैताल आदि प्रसन्न हो रहे है—

मासखडपीणियभेरुडइ ।
लुद्धगिद्ध खद्ध गपएसइ, सूरकामिणिकरघल्लियसेसइ ।
वणवियलिय धाराकीलालइ किलिकिलति जोइणिवेयालइ ।
(मपु० ८८।५।९-११)

जसहर चरिउ मे देवी चंडमारी का रूप भय तथा जुगुप्सा दोनो ही भाव उत्पन्न करता है ।

कुछ अश देखिए—

ललललियजीह रुहिरोलवोल, वसकद्दम चच्चिचक्कियकवोल ।
घोणसकडिसुत्तय लिहियपाय, पिउवण धूलीधूसरियकाय ।
णिम्मंस भीम चम्मट्ठिसेस, सिहिसिह सणिह फरुसुद्धकेस ।
पेय तावलि भूसिय भुअग्ग, तासियपासिय बहु जीववग्ग ।
(जस० १।६।५-८)

अर्थात् देवी की रक्त-रजित लपलपाती जिह्वा थी, वसा के कर्दम से चर्चित कपोल थे, सप का कटिसूत्र था, शरीर पर श्मशान की भस्म लगी थी, मास-रहित अस्थि-चर्म था, मयूर-शिखा के समान कठोर तथा उन्नत केश थे तथा मृतको की अत्रावली से विभूषित भुजाए थी । इस प्रकार वह देवी अनेक जीवो को त्रास देती हुई स्थित थी ।

देवी का मदिर-प्रागण भी वैसा ही घृणोत्पादक था । वह प्रागण पशु-रुधिर से सिक्त था । वहाँ पशुओ की दीर्घ जिह्वा-मय पात्र मे पूजन होता था । पशु-अस्थियों की रंगावली बनाई थी तथा वसा से पूर्ण दीपक का प्रकाश होता था—

पमुरुहिरजलमित्तपगणपएसम्मि, पमुदीहजीहादलच्चणविमेमम्मि ।
पसुअट्ठिकयपिट्ठरगावलिल्लम्मि, पसुतेल्लपज्जनियदोवयजुइल्लम्मि ।
(जस० १।१६।१२-१३)

एक स्थान पर लक्ष्मीमती नामक स्त्री के शरीर मे व्याप्त कुष्ट का वर्णन करते हुए कवि लिखता है—

तक्खणि सडियड रोमइ णक्खइ, भग्गइ णामावमकडवखइ ।
परिगलियउ वीस वि अगुलियउ, तणुलावण्णवण्णु खणिढलियउ ।
रुहिरपूय किमिपुज करडउ, देहु परिट्ठिउ मासहु पिडउ ।
(मपु० ६०।४।५-७)

मुनि निंदा के कारण तत्क्षण उसके रोम-नख सड गये, नासिका-वश भग्न हो गया तथा बीसो उगलियाँ गल गईं। क्षण मे तन-लावण्य ढल गया। देह केवल माम पिण्ड रह गई और सडे हुए रुधिर मे कृमि-पुंज उत्पन्न हो गए।

अन्यत्र, एक राक्षस द्वारा घट-घट करके नर-रक्त पीने, अस्थियो के कड-कड चबाने, चर-चर शब्द करते हुए चर्म को फाडने आदि के वर्णन मे वीभत्स की पूर्ण व्यजना होती है—

घडहड त्ति णरलोहिउ घोट्टइ, कडयड त्ति हड्डइ दलवट्टइ ।
चरयरत तणुचम्मइ फाडइ, णाइ णिवद्धणाइ अच्छोडइ ।
(मपु० ६०।११।२-३)

अद्भुत रस—

कवि की रचनाओ मे विद्याधरो द्वारा विविध प्रकार के आश्चर्य-जनक एव कुतूहल-पूर्ण कार्यों को सपादित करते हुए दिखलाया गया है। इन विद्याधरो को अनेक विद्याएँ सिद्ध होती हैं, जिनकी सहायता से वे आकाश मे उडते है तथा इच्छानुमार दूसरे शरीर धारण करते हैं।

मपु० की सधि ३२ से ३५ तक राजकुमार श्रीपाल तथा सुखावती के चरित्र मे विद्याधरो द्वारा अनेक अद्भुत कार्य किये जाने के वर्णन प्राप्त होते हैं। इमके अतिरिक्त मपु० की सधि ३ मे इद्र का अद्भुत नृत्य, मधि ६ मे नीलजसा अप्मरा की आकस्मिक मृत्यु, सधि १४ मे रत्न दड के प्रहार से गुफा के कपाट खुलना, सधि ५१ मे त्रिपृष्ठ द्वारा कोटि शिला-सचालन आदि अलौकिक घटनाओ के वर्णन भी मिलते हैं।

उक्त निर्दिष्ट कतिपय स्थलो पर विचार करके हम देखेंगे कि उनमे अद्भुत रस को कहाँ तक सृष्टि हो सकी है।

ऋषभ के जन्मोत्सव पर इन्द्र का असाधारण नृत्य होना है। इमके कारण मेरु विचलित हो जाता है, धरती कपायमान होती है, व्याकुलता से एव कोप-युक्त

हो शेष विष-वमन करने लगते हैं और उसको ज्वाला से दिशाएं जलने लगती हैं, महि-विवर फूटने लगते हैं। आदि।

सुरमहिहरो फुडइ　　महिवीढु कडयडइ
परिभमइ थरहरइ　　णियदेहु सवरइ।
रोसेण फुप्फुवइ　　फणि फरुसु विसु मुयइ।
विसजलणु वित्थरइ　　धगधगइ हुरुहुरइ।
तावेण कढकढइ　　जलयरकुल लुढइ।
जलही वि झलझलइ　　सेर समुल्लसइ।

घत्ता—रिक्खइ णिवडंति दिसउ मिलंति महिविवरइं फुट्टंति।
णच्चंते इंदें णयणाणंदे गिरिसिहरइ तुट्टंति।

(मपु ३।२०।१३-२०)

इन्द्र का यह नृत्य निश्चय ही अलौकिक है। इससे सहज ही विस्मय का भाव उत्पन्न होता है, अत उसका आलम्बन नृत्य है। गिरि-शिखरो का टूटना आदि उद्दीपन है, परन्तु भय का व्यापक प्रभाव हो जाने के कारण एव सचारियो तथा अनुभावो के अभाव मे अद्भुत रस का पूर्ण परिपाक नही हुआ।

ऋषभ की राज-सभा मे नृत्य करती हुई नीलजसा की अचानक मृत्यु हो जाती है—

झत्ति धरन्ती　　दिट्ठ मरन्ती।

(मपु० ६।१।२)

यह देखकर सभा मे उपस्थित जन-समुदाय कुतूहल से भर जाता है। कुछ हा, हा, करके शोक प्रदर्शित करते हैं। महाराज ऋषभ स्वय करुणा से कपित होते हैं तथा चकित होकर मौन रह जाते हैं। कवि कहता है कि उसकी दशा देखकर प्रत्येक व्यक्ति विस्मित होता है—

अमराहिवणारिरयणु मुयउ,　　तं पेच्छिवि कोऊहलु हुयउ।
हा हा भणतु सोए लइउ,　　अत्थाणु असेसु वि विम्हइउ।

घत्ता—तहि मरणें करुणें कंपियउ भरहजणणु मवियक्कउ।
तुण्हिक्कउ थक्कउ तिजगगुरु कुसुमयतु रइमुक्कउ॥

(मपु० ६।६।१२-१५)

इस स्थल पर नीलजसा की मृत्यु विस्मय स्थायी भाव का आलबन है। घटना की आकस्मिकता उद्दीपन है। शोक, जडता, स्मृति, चिता आदि संचारी भाव हैं। स्तम्भ तथा कंप अनुभाव हैं। इनमे पुष्ट होकर अद्भुत रस का परिपाक हो जाता है।

राजकुमार श्रीपाल एक घोडे पर चढ कर दूर निकल जाते है। उनके पीछे स्वजन हाहाकार करते हैं। वैताढ्य पर्वत के निकट पहुँच कर वह मायावी घोडा भयकर राक्षस का रूप धर लेता है।

वेयड्ढ महामहिहररणियडि काणणि कुसुमियतरुवरि वियडि।
रिउणा तुरयत्तणु परिहरिउ भीउरु रयणीयररूवु धरिउ।

(मपु० ३२।५।११-१२)

पश्चात् एक यक्ष उस विद्याधर राक्षस को ललकार कर कहता है—

मा ओहट्टउ आउ तुहारउ, मा तासहि कुमारु महु केरउ।

(मपु० ३२।७।३)

परन्तु राक्षस खड्ग से उस यक्ष के दो भाग कर देता है। अब यक्ष के दोनो भाग उससे युद्ध करने लगते हैं। राक्षस पुन उनके चार टुकडे कर देता है। इस पर वे चारो अग ही युद्ध करने लगते है। इस प्रकार राक्षस जैसे ही जैसे यक्ष के अग काटता जाता है, वैसे ही वैसे उनकी सख्या दुगुनी होती जाती है। होते-होते जल, थल, आकाश सर्वत्र यक्ष ही यक्ष हो जाते हैं—

सो रक्खे खग्गेण दुहाइउ, वणमुरवरु विहि रूविहि धाइउ।
हय विण्णि वि चत्तारि समुग्गय, गलगज्जत दिव्व ण दिग्गय।
पहय चयारि अट्ठ पडिआया, अट्ठ वि हय सोलह सजाया।
हय सोलह बत्तीस भयकर, बत्तीसह चउसट्ठि सउद्धुर।
चउसट्ठिहि वेउव्विउ रूवउ, अट्ठावीसउ सउ सभूयउ।
त पि दुवाड्ढउ वनगयसग्गहि, जलु थलु णहयलु पिहियउ जक्खहि।

(मपु० ३२।७।५-१०)

इस प्रसग मे असभावित घटना-चक्र द्वारा सहज ही आश्चर्य का भाव उत्पन्न हो जाता है।

सीता-हरण के प्रसग मे मारीच कपट-मृग के रूप मे आकर अनेक कौतुक करता है। राम उसके पीछे दौडते हैं। मृग अपने अविरल पदो द्वारा भूमि को लाँघता वेग से दौडता है और राम के निकट आता है। वे उसे पकडने की चेष्टा करते है, परन्तु वह आगे बढ जाता है। इस प्रकार वह कभी दूर दिखाई देता है, कभी मद गति से क्रीडा करता है, कभी तरु-पल्लव चरता है, कभी वन मे जल पीता दिखाई देता है और कभी वक्र ग्रीवा करके पीछे देखता है। क्षण मे चपा तथा आम्र वृक्ष के नीचे और क्षण मे अन्यत्र वेलि-कुजो मे दृष्टिगोचर होता है। अत मे राम द्वारा उसे हस्तगत करने की चेष्टा करते-करते वह आकाश मे उड जाता है। श्रम से व्याकुल राम विस्मय से उसे देखते रह जाते हैं। अद्भुत रस की सृष्टि के साथ ही कवि का काव्य कौशल भी इस प्रसग मे द्रष्टव्य है—

पविरलपएहिं लंघतु महि, लहु धावइ पावइ दासरहि ।

....

पहु पाणि पसारइ किर धरइ, मायामउ मउ अग्गइ सरइ ।
दूरतरि णियतणु दक्खवइ, खेलइ दरिसावइ मदगइ ।
णवदूवाकदकवलु भरइ, तरुवरकिसलयपल्लव चरइ ।
कच्छतरि सच्छसलिलु पियइ, वकियगलु पच्छाउहु णियइ ।
सुयचचुघायपरियलियफलि, खणि दीसइ चपयचूयतलि ।
खणि वेल्लिणिहेलणि पइसरइ, अण्णण्णपएसहिं अवयरइ ।
ओहच्छइ अइकोड्डावणउ, लइ माणमि णयणसुहावणउ ।
इय चिंतिवि राहउ सचरइ, पसु पुणु धरणास तासु करइ ।
धरिओ वि करग्गहु णीसरइ, कहिं वेसायणु कहिं णीसरइ ।

. . ..

घत्ता—गउ गयणुल्ललिउ मिगु ण कुवाइहत्थहु रसु ।
थिउ दसरहतणउ समणीससतु विभियवसु ॥

(मपु० ७२।४।१-१४)

करुण रस

करुण अत्यन्त कोमल रस है । इष्ट वस्तु की हानि, अनिष्ट की प्राप्ति अथवा प्रेम-पात्र के चिर-वियोग आदि कारणो से करुण की निष्पत्ति होती है। इसमे सहानुभूति के साथ सहृदयता, उदारता, समरसता आदि भावनाएँ भी मिश्रित रहती हैं । जैन कवि बनारसीदास शोक के स्थान पर कोमलता को इसका स्थायी भाव मानना अधिक तर्क-सम्मत समझते हैं, क्योकि शोक के मूल मे चिन्ता रहती है और चिन्ता से भय का प्रादुर्भाव होता है, अत. उनके अनुसार शोक से करुण की उतनी अनुभूति नही होती जितनी कोमलता से होती है ।[1] परन्तु साहित्य मे सामान्यत प्राचीन परम्परा के अनुसार शोक ही इसका स्थायी भाव माना जाता है ।

कवि ने करुण के मार्मिक चित्रण किये है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि के अतस् का आक्रोश उसके काव्य के करुण-प्रसगो मे ही अभिव्यक्त हो गया है । सभवत डॉ० भायाणी को कवि मे भवभूति के दर्शन होने का यही कारण है ।

सहस्रबाहु तथा कृतवीर द्वारा जमदग्नि का वध किये जाने पर उसकी पत्नी रेणुका के विलाप का उल्लेख हम पूर्व ही कर चुके हैं ।[2] इस प्रसग मे करुण का पूर्ण परिपाक हुआ है । कवि ने स्मृति, भ्रम, उन्माद, विषाद आदि सचारियो

---

१. हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन, नेमिचन्द्र शास्त्री, पृ० २३० ।
२. देखिए ऊपर पृ० १८३ ।

तथा भूमि-पतन, रुदन, प्रलाप आदि अनुभावो द्वारा रेणुका के शोक का अत्यन्त हृदयग्राही चित्र उपस्थित कर दिया है।

ऐसा ही एक अन्य करुण दृश्य रावण के निधन पर मन्दोदरी तथा विभीषण के शोक का है। कवि के विलाप-वर्णन के अंतर्गत इसका भी विवेचन हम कर चुके है।[1] मंदोदरी द्वारा रावण के पराक्रम तथा उसके रति सम्बन्धी गुणो का स्मरण किये जाने से उसका शोक और भी उद्दीप्त होता है और वह उसके रुदन, निश्वास, प्रलाप आदि अनुभावो द्वारा व्यक्त होता है। इसी प्रकार विभीषण भी अपने भ्राता के अनेक गुणो का स्मरण करके अपने भाग्य पर पश्चाताप करता है। वह सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, यम, अग्नि आदि को अब स्वेच्छापूर्वक कार्य करने के लिये कहता है। उसे अपने जीवित रहने मे भी सन्देह है। वह काल से पूछता है कि तूने भ्राता के स्थान पर मुझे ही कवलित क्यो नही किया? ये कथन उसकी मानसिक ग्लानि तथा विषाद का परिचय देते हैं।

पुन ऐसे ही एक अन्य चित्र का उद्घाटन उस समय होता है जब लक्ष्मण की मृत्यु पर राम मूर्छित हो जाते हैं। सलिल-सिंचन के उपरान्त जब उन्हे चेतना आती है तब वे हा भ्राता, हा लक्ष्मण, हा लक्ष्मी-धर आदि कहते हुए प्रलाप करते है—

विहिणा सोसिउ गुणणिहिगहीर, मोएण पमुच्छिउ रामु वीरु।
सिंचिउ सलिलें माणवमहतु, उम्मुच्छिउ हा भायरु भणतु।
घत्ता—हा दहमुहणिहण हा लक्खण हा लच्छीहर।
हा रयणाहिवइ हा वालिहरिणकंठीरव।

(मनु० ८६।११।११-१८)

और प्रिय देवर के हेतु सीता का शोक भी कम नही है। वह कहती है कि हे देवर, तुमने राम को अकेले क्यो छोड दिया? तुम्हारे बिना अब जीवन मे क्या है—

धाहावइ सीय मणोहिरामु, एक्कल्लउ छंडिउ काइ रामु।
हा हे देवर महु देहि वाय, पइ विणु जीवमह कवण छाय।

(मनु० ७६।१२।१-२)

अत्यन्त व्यथित है। अच्छा होता कि मैं अपने पति के सम्मुख ही मर जाती। कोई कहती है कि नियति का चक्र नही ज्ञात होता। प्रभु (रावण) गोत्र का विनाश करने वाली सीता को लाया। ऐसी कलहकारिणी सीता को आग लगे। दुष्ट दैव द्वारा उत्पन्न की गई वह मेरी वैरिन है। उन्माद की अवस्था मे अन्य स्त्री कहती है कि मेरा प्रिय उर्वशी, रंभा आदि अप्सराओ की ओर आकर्षित नही हो सकता। अपने विवाह के समय मेरी आयु अत्यल्प थी, अत हमारा प्रेम अटूट है। शोक के साथ मानसिक विक्षोभ, आत्म-विश्वास तथा प्रेम के ये स्वाभाविक उदगार निश्चय ही अत्यन्त मार्मिक हैं—

का वि भणइ हलि जूरइ महु मणु, लक्खणेण महु रडालक्खणु।
पायडियउ एवहिं किं किज्जइ, वर णियणाहे समउ मरिज्जइ।
का वि भणइ णियणियइ ण याणिय, पहुणागोत्तमारि कहिं आणिय।
डज्झउ सीय सुविप्पियगारिणि, खलदइवे सजोइय वइरिणि।
का वि भणइ उव्वसि पिउ मेल्लहि, रंभि तिलोत्तमि किं पि म बोल्लहि।
कण्णावरु इहु णाहु महारउ।

(मपु० ७८।२१।८-१३)

कृष्ण द्वारा यमुना मे घुस कर कालीदह के कमल लाने के प्रसग मे नन्द तथा यशोदा का भावी विपत्ति की आशका से व्यथित होकर करुण-क्रदन करने का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

ता णदु कणइ सिरकमलु धुणइ।
जहि दीणसरणु तहिं ढुक्कु मरणु।
जहिं राउ हणइ अण्णाउ कुणइ।
किं धरइ अण्णु तहिं विगयगण्णु।
हउ काइ करमि लइ जामि मरमि।

(मपु० ८६।१।६-१३)

यहाँ नन्द राजा कस की निन्दा करते हुए अपनी विवशता के कारण सिर धुनते हैं और स्वय मरने के लिए उद्यत हो जाते हैं। उधर बिलखती हुई यशोदा कहती है कि मेरा एक ही पुत्र है जिसका मुख देख कर मैं जीवित हूँ। मैं स्वय काल का ग्रास बनू परन्तु मेरे पुत्र को कुछ न हो। इस प्रकार दीर्घ निश्वास लेती हुई वे त्रसित होती हैं—

उप्पण्ण सोय कंदइ जसोय।
महु एक्कु पुत्तु अहिमुहि णिहि [illegible]।
मा मरउ बालु मइ गिलउ कालु।
इय जा तसति दीहर ससनि।

(मपु० ८६।१।१५-२०)

कृष्ण के निधन पर, बलराम के बंधु-विनाश-जन्य शोक के वर्णन में कवि ने स्मृति, आवेग, प्रलाप, व्यग्रता आदि के समावेश से चित्रण को अत्यन्त प्रभाव-शाली बना दिया है—

उट्ठि उट्ठि अप्पाणु णिहालइ, लइ जलु महुमह मुह पक्खालहि।
दामोयर धूलीइ विलित्तउ, उट्ठि उट्ठि किं भूमिहि सुत्तउ।
उट्ठि उट्ठि केसव मइ आणिउ, णिरु तिमिओ सि पियहि तुहुं पाणिउ।
उट्ठि उट्ठि सिरिहर साहारहि, मइ णिज्जण वणि किं अवहेरहि।
उट्ठि उट्ठि हरि मइ बोल्लावहि, चिंताऊरिउ केत्तिउ सोवहि।
पूयणमयण सयडविमद्दण, विमणु म थक्कहि देव जणद्दण।
इंदु वि बुड्डइ तुह असिवरजलि, अज्ज वि तुहुं जि राउ धरणीयलि।

जहिं तुहुं तहिं सिरि अवसें णिवसइ, जहिं ससि तहिं किं जोण्ह ण विलसइ।
उट्ठि उट्ठि भद्दिय जाइज्जइ, किं किर गिरिकदरि णिवसिज्जइ।
(मपु० ९२।१२।१-११)

यहाँ बलराम अनेक वचन कह कर मृत कृष्ण को उठने के लिये प्रेरित कर रहे हैं। वे कहते हैं देखो कृष्ण, मैं जल लाया हूँ, अपना मुख धो डालो। उठो, उठो, तुम धूलि मे विलिप्त हो भूमि पर क्यो सोते हो ? उठो केशव, मैं तुम्हारी तृषा शान्त करने के लिये जल लाया हूँ। उठो श्रीधर मैं इस निर्जन मे किसे देखूँ ? उठो हरि, मैं बुलाता हूँ, तुम चिंता मे पूरित कैसे सोए हो ? हे जनार्दन, पूतना का मथन करने वाले, शकट का विमर्दन करने वाले, तुम विमन मत हो, तुम्हारी असि के जल मे इन्द्र भी डूब जाता है। आज इस धरती के तुम्ही तो राजा हो, जहाँ तुम होते हो श्री वहाँ अवश्य निवास करती है। जहाँ शशि है वहाँ ज्योत्स्ना का विकास क्यो न होगा ? हे नारायण, अब उठ जाओ, इस गिरि कंदरा मे क्यो निवास करते हो ?

पुत्र-शोक का एक करुण दृश्य णायकुमार चरिउ मे उस समय दृष्टिगत होता है जब शिशु नागकुमार अचानक कूप मे गिर जाता है। यह समाचार सुनते ही माता पृथिवी देवी विसंष्ठुल होकर भूमि पर गिर पडती है। वह रुदन करती हुई कहती है कि हा पुत्र, तुम्हे यह क्या हो गया ? मैं सभी प्रकार के दुःख सहन कर सकती हूँ, परन्तु तेरे बिना मैं कैसे जीवित रहूँगी ? यह कह-कर वह स्वयं कूपमे गिर कर मरने के लिए उद्यत होती है—

तं णिसुणेवि विलुलियमेहलिय, पुहईमहएवि विसंठुलिय।
धाइय रोवइ पत्थिवघरिणि, णियकलहविओइ ण करिणि।
हा पुत्त पुत्त तामरसमुह, हा पुत्त पुत्त किं हूयउ तुह।

बहुदुक्खसयाइं सहतियए, पइं विणु किं मइं जीवंतियए ।
इय पभणिवि मरणु जि चिंतियउ, अप्पाणउ तित्थु जि घत्तियउ ।

(णाय० २।१३।१-५)

हास्य रस

कवि के काव्य मे हास्य के स्थल अधिक नही है। दो एक प्रसंगो मे जहां वाणी और विपरीत चेष्टाओ द्वारा हास्य की व्यजना होती है, नीचे प्रस्तुत किए जाते हैं—

राजकुमार वसुदेव के नगर-भ्रमण के प्रसग मे कवि काम-पीडित पुर-नारियो की अनेक चेष्टाओ का वर्णन करता है। कवि के शब्दो मे ये नारियाँ लोक-लज्जा, कुल-भय तथा पति, देवर, श्वसुर आदि को सुधि भूल कर वसुदेव के लिये पागल सी हो जाती हैं—

लोहलज्ज कुलभयरसमुक्कउ, वरदेवरसधुरय सुहि चुक्कउ ।

(मपु० ८३।२।६)

ऐसी ही एक अतृप्त काम-विह्वला अपने पति के प्रति ईर्ष्या का भाव रखती तथा दर्पण मे अपना तारुण्य देखती हुई विचार करती है कि मैं विरहाग्नि मे जल कर मर रही हूँ और यह (पति) स्वय सो रहा है।

क वि ईसालुयकत दप्पणि तरुणु पलोइवि ।
विरहहुयासें दड्ढ मुय अप्पाणउ सोइवि ॥

(मपु० ८३।२।११-१२)

यह उक्ति जिस ढग से कही गई है, उससे हास्य की व्यजना होती है।

एक और नारी वसुदेव को देखकर इतनी सुध-बुध खो बैठती है कि शून्य गृह मे अपने शिशु को भूलकर गोद मे बिल्ली को ले दौड पडती है और इस प्रकार लोगो के लिये हास्य की परिस्थिति उपस्थित कर देती है—

तग्गयमण क वि मुहआलोयणि, वीसरेवि सिसु सुण्णणिहेलणि ।
कडियलि घरमज्जारु लएप्पिणु, धाइयजणवइ हासु जणेप्पिणु ।

(मपु० ८३।३।१-२)

इसी प्रकार कोई नारी उलूखल (ओखली) को छोड कर धरती पर ही मूसल चलाने लगती है—

काहि वि क डतिहि ण उद्दूहलि, णिवडिउ मुसलघाउ धरणीयलि ।

(मपु० ८३।३।३)

अपनी पत्नियो की यह दशा देकर नगर-निवासी राजा के द्वार पर जा कर पुकारते हैं हे नाथ, हमारा उद्धार कीजिय। हे देव, आप बताएं कि हम क्या करें ? हमारी गृहणियो की यह दशा है तब गृहस्थी किस प्रकार चले—

णरणाहहु कयसाहुद्धारे, ता पय गय सयल वि कूवारें।
देव देव भणु किं किर किज्जइ, विणु घरिणिहिं घरु
केंव धरिज्जइ।

(मपु० ८३।३।१०-११)

इस प्रकार हम देखते है कि शृ गार की लपेट मे हास्य की मधुर व्यजना उपस्थित करके कवि ने इस प्रसग को अत्यन्त मनोरजक बना दिया है।

शृ गार रस

साहित्य मे शृ गार रस का विशेष महत्व है। रामायणादि शान्त रस प्रधान काव्यो मे हमे शृ गार के रमणीक चित्रण प्राप्त होते है। जैन कवियो के काव्य भी प्राय शान्त रस प्रधान होते है, परन्तु शृ गार की उपेक्षा वे भी नही कर सके।

पुष्पदत के काव्य मे शान्त तथा वीर रसो की भाँति शृ गार के अनेक सरस स्थल हैं। उनमे से कुछ विशिष्ट स्थलो का विवेचन हम नीचे प्रस्तुत कर रहे हैं।

सयोग पक्ष का एक उत्कृष्ट चित्र जसवइ तथा सुनदा के साथ ऋषभ के विवाहोत्सव पर उपलब्ध होता है। इस स्थल पर यह ध्यान देने योग्य है कि कवि की दृष्टि विवाह द्वारा वर-वधुओ के सामान्य शारीरिक बधन मे बँधने की ओर नही है, वरन् वह उनके स्नेह-पूरित हृदयो के पारस्परिक प्रणय-सूत्र मे आबद्ध होने का विशेष रूप से उल्लेख करता है। इस मानसिक प्रेम की अभिव्यक्ति कवि के शब्दो मे देखिए—

णयणेसु णयण लग्गा तिरिच्छ, मच्छेंहिं णाइ पडिखलिय मच्छ
पियणेहाऊरिय वित्थरंति, णावइ सुइसुसिरहिं पइसरंति।
चित्ताइ चित्ति मिलियाइ केम, गयवर णइसलिलइ सलिलि जेम।

(मपु० ४।१४।३-५)

अर्थात् नेत्रो मे तिरछे नेत्र लगे जैसे मच्छ ने मच्छ को प्रतिस्खलित कर दिया हो। प्रिय के स्नेह-पूरित वचन कर्ण विवरो म प्रवेश कर रहे है। चित्त मे चित्त इसी प्रकार मिल रहे हैं जैसे सरिताओ का जल परस्पर मिलता है।

दोनो पार्श्व मे एक-एक पत्नी को भुजाओ मे आबद्ध किये हुए ऋषभ देव ऐसे निकले मानो वल्लरियो से वेष्टित कल्प वृक्ष हो—

एक्केणुच्चाइय एक्क तरुणि, बीएण भुएण दुइज्ज घरिणि।
बेण्णि वि लेप्पिणु णीसरिउ णाहु ण कप्परुक्खु वेल्लीसणाहु।

(मपु० ४।१

दीर्घ वियोग के पश्चात् लका मे राम तथा सीता के मिलन के दृश्य की तुलना कवि गगा तथा समुद्र के मिलन से करता है—

आणिय मिलिय देवि बलहद्दहु, अमरतरगिणि णाइ समुद्दहु ।

(मपु० ७८।२७।१०)

इस स्थल पर सीता के असीम हार्दिक आनन्द को उनके पुलकित शरीर द्वारा व्यक्त किया गया है।

ज दिट्ठु समाहउ णियपइ राहउ त सीयहि तणुकचुइउ ।
पुलएण विसट्टउ उद्ध जि फुट्टउ पिसुणु व सयखडइ गयउ ॥

(मपु० ७८।२७।१५-१६)

मपु० सधि ३२ मे राजकुमार श्रीपाल को देख कर पुरुष-वेश मे नृत्य करती हुई एक नारी के हृदय मे रति भाव जाग्रत होता है। कवि ने यहाँ नीवी बधन का ढीला होना नेत्रो की चपलता, मन का कम्पन, अधरो का फडकना, शरीर का प्रस्वेदित होना, दृढ केश भार का खुलना आदि कायिक अनुभावो द्वारा उसको दशा का वर्णन किया है—

ढिल्लीहूयउ णीवीबधणु, परिभमति णयणइ कपइ मणु ।
फुरइ अहरु पासेउ पवियलइ, केसभारु दढबद्धु वि वियलइ ।

(मपु० ३२।३।५-६)

कृष्ण को अपने पूर्व-राग का स्मरण दिलाती हुई कोई गोपो यमुना-तट पर उनके द्वारा वस्त्र-हरण किये जाने को घटना का उल्लेख करती है। साथ ही कृष्ण का मथुरा की कामिनियो मे अनुरक्त होकर उसकी ओर से अस्थिर चित्त कर लेने की शिकायत द्वारा वह अपनो प्रेम-जन्य ईर्ष्या का भी परिचय देती है—

पगुत्तउ पइ माहव सुहिल्लु, कालिदितोरि मेरउ कडिल्लु ।
एवहि महुराकामिणिहि रत्त, महु उप्परि दोसहि अथिरचित्तु ।

(मपु० ८६।१०।५-६)

गत भव मे ललिताग देव के साथ हुए अपने पूर्व-राग का स्मरण करतो हुई श्रीमतो विरह से व्याकुल होतो है। हा ललिताग देव, कहती हुई वह भूमि पर गिर पडती है और अपने शरीर को धुनती हुई रुदन करतो है। मूर्च्छित होने पर जल-सिंचन तथा चमर-वायु के उपचार द्वारा उसकी चेतना लौटती है और वह प्रिय-वियोग मे दीर्घ-श्वास लेकर उठती है। इस समय उसके अंग विरहाग्नि से तप्त है, इसी कारण उस पर छिडका हुआ जल जलता सा प्रतीत होता है।

उसे मलयानिल प्रलयाग्नि के समान लगती है, आभूषण मन-बंधन प्रतीत होते हैं तथा स्नान वस्त्र, भोजन, पुष्प, ताम्बूल आदि कुछ भी रुचिकर नहीं लगते।

इस प्रकार इस प्रसग मे स्मृति, अभिलापा, चिंता, मोह आदि वियोग-दशाओ का सुन्दर चित्रण किया गया है—

हा ललियग देव पभणती, पडिय स महियलि तणु विहुणती ।
मुच्छिय सिंचिय सलिलणिवाएं, आसासिय चलचामरवाए ।
उट्ठिय णीससति अडरीणी, दइयवियोगवयविद्दाणी ।
वम्मह अट्ठ विअगइ तावइ, घित्त जलद्द जलइ जणियावइ ।
मलयाणिलु पलयाणलु भावइ, भूमणु सण करि वढ्ढउ णावइ ।
जहिं स जायउ चित्तु जि सयदलु तहिं कि किज्जइ सीयलु सयदलु ।
ण्हाणु सोयण्हाणु व णउ रुच्चइ, वसणु वसणसणिहु सा सुच्चइ ।
असुहारु व आहारु ण गेण्हइ, णदणवणु पिउवणसमु मण्णइ ।
फुल्लु णयणफुल्लु व असुहावउ, तवोलु वि वोलु व कयतावउ ।
पुरु जमपुरु व घरु वि अरइयरउ, परहुयविउ महुरु ण महुरउ ।
गेयमहु वि ण रिउमुक्कउ सरु, मवलहणउ मवलहणु व दिहिहरु ।

(मपु० २२।६।१-११)

औत्सुक्य के साथ स्मृति सचारी का मार्मिक वर्णन वज्रजघ (पूर्व भव मे ललिताग देव) के विरह मे प्राप्त होता है। वह अपने तथा श्रीमती (पूर्व भव मे स्वय प्रभा) के पूर्व जन्म की कुछ घटनाओ को एक चित्र मे देख कर, उनका स्मरण करता हुआ कहता है कि यह ईशान कल्प है, यह वही नन्दन वन है, यह मैं ललिताग देव हूँ, इस स्थान पर मैं रहता था, यहाँ रमण करता था और यह मेरी मनोहर स्वय प्रभा है—

एहु ईसाणकप्पु विविहामरु, लिहियउ एहु सिरिमहु सुरहरु ।
एहु दिव्वतरुवरु णदणवणु, पलवमाणु चलकलकोइलगणु ।
एहु ललियगु देउ हउ होतउ, एत्थु वसतउ एत्थु रमतउ ।
थणयलघुलियहार मणहारी, एह सयपह देवि महारी ।

(मपु० २४।४।१-४)

परन्तु उसकी आकुलता और बढ जाती है जब उसे अपने पूर्व प्रणय-व्यापार की अन्य घटनाए स्मरण हो आती हैं और वह उन्हे चित्र मे नही देखता। वह कहता है कि इसमे उस समय का दृश्य नही है, जब मैंने रति-नूपुर-शब्द से रोमाचित होकर क्रीडा की थी। यहाँ वह नृत्य करता मयूर भी नही है और हमारे शरीरो के परिमल पर गुजार करते हुए भ्रमर भी इसमे नही हैं। गुरुजनो के आगमन पर हम जिस प्रकार लज्जाभिभूत हुए थे, वह दृश्य भी यहाँ नही है। प्रति-वधुओ का विनाश तथा प्रणय के रोष का अकन भी इसमे नही है। कपोल-पत्रावली का मोटन तथा किसलय-ताडन के चित्र भी यहाँ नही दिखाई

देते । इसमे प्रिय का विरहातुर मुख एव उसका विपरीत हो कर बैठना भी अकित नही है :—

अण्णेत्तहि वि एत्थु णो लिहियउ, जो मइ कीलारभु पविहियउ।
रइणेउरसद्दें रोमचिउ, एत्थु ण लिहियउ मोरु पणच्चिउ।
अम्हह तणुपरिमलपरिभमियउ, एत्थु ण लिहियउ अलिगुमुगुमियउ ।
एत्थु ण लिहियउ लज्जादेसिरु, सुय गुरुयणआगमणुब्भासिरु।
....
एत्थु ण लिहियउ पडिवहुविलसिउ, एत्थु ण लिहियउ पणयारोसिउ।
इह कवोलपत्तावलिमोडणु, एत्थु ण लिहियउ किसलय ताडणु।
एत्थु ण लिहियउ विरहाउरु मुहु, एत्थु ण लिहियउ प्रिउ विवरमुहु।

(मपु० २४।५।१-८)

इसी प्रसग मे ललिताग की विरहावस्था के अन्तर्गत उन्माद, विषाद तथा जडता का विशद चित्रण प्राप्त होता है। वह कभी चिल्लाता है, कभी हसता है, कभी दीर्घ नि श्वास लेता है, कभी उठता है, कभी बैठता है और कभी मोह से मूर्च्छित होता है। कभी हाथो को दवाता है, कभी केश नोचता है, कभी अधरो को डसता है तथा कभी अनिवद्ध वचन बोलता है।

वह न स्नान करता है, न धोता है, न जिन-पूजन करता है और न अलकार ही धारण करता है। न भोजन करता है, न कदुक क्रीडा करता है और न अश्वारोहण करता है। गज, रथादि तो उसके नेत्रो को ही नही सुहाते। वह न गान सुनता है और न वाद्य वजाता है। वस, प्रतिक्षण अपनी प्रियतमा का ही ध्यान करता है—

रसइ हसइ णीससइ विरज्झइ, उट्ठउ वइसइ मोहे मुज्झइ।
कर मोडइ धम्मेल्लय मेल्लइ, अहरु डसइ अणिवद्धु पवोल्लइ।
... .
ण्हाइ ण धुवइ ण जिणवरु पुज्जइ, भूसणु लेइ ण भोयणु भु जइ।
रमइ ण कदुउ तुरउ ण वाहइ, करि वि रहु वि णयणेहि ण चाहइ।
गेउ ण सुणइ ण वज्जउ वायइ, पर णिम्मीलियच्छु पिय झायइ।

(मपु० २४।७।२-३, ६-८)

विरह-जनित उन्माद का एक अन्य चित्र हमे राम के विरह मे प्राप्त होता है। सीता के हरण के पश्चात् वे वन मे उन्हे खोजते हुए कभी हस से, कभी कुजर से, कभी भ्रमर से, कभी मयूर से और कभी कीर से सीता का पता पूछते फिरते हैं—

सइ काणणि ण्हवइ हिंडमाणु, पुच्छइ वणि मिगइ अयाणमाणु।
रे हंस हस सा हंसगमण, पइ दिट्ठी कन्थइ विउलरमण।

चगउ चिम्मवकहु सिक्खिओ सि, महु अकहतु जि खल कि गओ सि ।
रे कुंजर तुह कुंभत्थलाइ, ण मह महिलाइ थणत्थलाइ ।
सारिक्खउ लइयउ एउ काउ, भणु कतइ कहि दिण्णइ पयाइ ।
सारग कहहि महु जणयधीय, णयणहिं उवजीविय पइ मि सीय ।
अलि घरिणिकेसणिद्धत्तचोर, णिसि सररुहदलकयवधणार ।
ण वियाणहि कतहि तणिय वत्त, रे णीलगीव घणरामवत्त ।
णच्चत दिट्ठ भणु कहि मि देवि, इयरह कहि णच्चहि भाउ लेवि ।
रे कीर ण लज्जहि जपमाणु, जइ दिट्ठउ पइ मुद्धहि पमाणु ।

(मपु० ७३।४।४-१३)

सीता के वियोग का वर्णन करता हुआ कवि उनके अश्रुपात तथा विरहाग्नि के अतीव ताप मे जलने का उल्लेख करता है—

चित्ते मउलतें मउलियउ, लोयणजुयलसउ पयलियउ ।
आपडुरत्तु गडत्थलउ, विलसिउ विलसिइ विरहाणलइ ।
कढकढकढति ससहरपहइ, अगउ लायण्णवारिवहइ ।

(मपु० ७२।७।१-३)

वे एक साथ अनेक प्रश्न करती हैं—यह कौन सी दिशा है, मैं कहाँ हूँ, यहाँ मुझे कौन लाया, कैसे लाई गई, अब राम के पास किस प्रकार पहुँचू आदि। इस प्रकार चिंता करते हुए वे मोह से हत होती है और अन्त मे रावण को उसके वास्तविक रूप मे देख कर अपने सतीत्व-भग होने की आशका से वे ललितलता की भाति भूमि पर गिर कर मूर्च्छित हो जाती हैं—

का दिसि केणाणिय कॅव कहि, को पावउ एवहि रामु जहि ।
इय चितवति मोहेण हय, परपुरिसु णिहालिवि मुच्छ गय ।
पडवय परपउवयभग भय, ण पवणें पाडिय ललिय लय ।

(मपु० ७२।७।४-६)

चेतना आने पर वे पुन वेदना से व्यथित होती हैं और जडता के कारण निश्चेतन सी प्रतीत होती हैं—

दुहिनु यरण पसरियवेयणिय, सा जइ वि थक्क णिच्चेयणिय ।

(मपु० ७२।७।६)

इसके अनन्तर उनमे मति का आगमन होता है। कहीं जार (पर पुरुष) की दृष्टि अगो पर न पड जाय, इस चेष्टा मे वे अपने परिधान व्यवस्थित रखती हैं—

परिहाणु ण तो वि ताहि ढलइ, चल जारदिट्ठि कहि पइसरइ ।

(मपु० ७२।७।१०)

राम के औत्सुक्य की सुन्दर व्यजना उस स्थल पर हुई है जब लका से लौट कर आये हनुमान से वे विना उत्तर की प्रतोक्षा किये जानकी के सम्बन्ध मे प्रश्न पर प्रश्न करते चले जाते हैं—

वोल्लाविउ मारुइ तें कयत्थु, मउडग्गचडावियउहयहत्थु ।
भणु किं दिट्ठउ सिसुहरिणणेत्तु, किं णउ कुमार मरउ कलत्तु ।
किं मुच्छिय णिवडइ जोवचत्त, किं मह्व विरहे पचत्तु पत्तु ।

(मपु० ७३।३०।५-७)

कवि के काव्य मे अनेक स्थल ऐसे भी है जहाँ किसी पुरुष के अनुपम रूप को देख कर नारियो मे उद्दाम काम-वासना स्फुरित हो जाती है और वे वाणी तथा विभिन्न शारीरिक चेष्टाओ द्वारा अपने हार्दिक भाव प्रकट करती है। ऐसा ही एक प्रसंग लका मे हनुमान के विभीषण के यहाँ जाने के समय का है। पुर-नारियाँ हनुमान को देखते हो व्याकुल हो जाती हैं। कोई तरुणी उन्हे अपने कङ्कण, हार आदि आभूषण देती है, कोई मुकुलित दृष्टि से देखती है, कोई कटाक्ष करती हैं, कोई विकसित होती है तथा कोई विलुलित होती है। किसी स्त्री की कटि-मेखला टूट जाती है और कोई मूर्च्छित हो कर धरती पर गिर पडती है। किसी के शरीर से रति-जल-धारा सी प्रवाहित जान पडती है। कोई काम-विह्वला अपने उर स्थल को ही पीटती है। कोई अपने उरोज प्रकटित करती है। किसी का परिधान शीघ्र गिर जाता है।

कोई कहती है कि हे सखी, जहाँ दूत इतना रूपवान है वहाँ उसके स्वामी राम कैसे होगे ? इसी कारण सीता अपने सतीत्व की रक्षा करने मे वज्रवत् है। कवि के शब्दो मे देखिए—

हेला—कदप्प सुरूविण णिएवि चित्तचोर ।
का वि देइ सककण चारुहारदोर ॥
क वि जोयइ दिट्ठिइ मउलियइ, गुरुयणि सलज्जदरमउलियइ ।
क वि चालियकडक्खहि विवलियइ, क वि वियसियाइ क वि विलुलियइ ।
काहि वि गय तुट्टिवि मेहलिय, क वि मुच्छिय धरणीयलि घुलिय ।
काहि वि रइजलझलक्क झलिय, क वि उरयलु पहणइ भिंदुलिय ।
काइ वि थणजुयलउ पायडिउ, काहि वि परिहाणु झत्ति पडिउ ।
का वि भणइ एहु हलि दूउ जहि, केहउ सो होही रामु तहि ।
सइ सीय भडारी वज्जमिय, ण सइत्तणवित्ति अइक्कमिय ।

(मपु० ७४।८।१-६)

णायकुमार चरिउ मे कवि ने मथुरा की वेश्याओं को नागकुमार के लिए व्याकुल होते हुए चित्रित किया है। कोई वेश्या अपना उरस्थल नागकुमार के नयनों द्वारा

भग्न न हुआ देख चिंतित होती है। कोई अपनी लम्बी श्याम अलकों के उसके द्वारा न खींची जाने पर चिंता करती है। कोई सोचती है कि उसके कंठ का हार कुमार द्वारा क्यों न छिन्न-भिन्न हुआ ? कोई अधराग्र समर्पित करती है, सीजती है, विरह से तप्त होती है तथा कम्पित होती है। कोई रति-सलिल में भीग कर रोमांचित होती हुई थरथराती है—

का वि वेम चिंतइ गयमुण्णा, ए थण एयहो करहिं ण भिण्णा।
का वि वेम चिंतइ किं वड्डिय, णीलालय एं तण ण कड्डिय।
का वि वेम चिंतइ वि हारें, कंठु ण छिण्णउ तण कुमारें।
का वि वेम अहरग्गु समप्पइ, भिज्जइ खिज्जइ तप्पइ कंपइ।
का वि वेम रइसलिलें तिंतिय, वेवइ चलइ धुनइ रोमंचिय।

(णाय० ५।१।८-१०)

इसी प्रकार सुलोचना के स्वयंवर में आये हुए अनेक राजकुमार उसे देख कर काम-पीड़ित होते हैं। जहां-जहां सुन्दरी सुलोचना अपना दर्शन देती है, वहां-वहां बैठे राजकुमार कामाग्नि से दग्ध होते हैं। कोई दीर्घ निःश्वास लेता है, कोई बार-बार स्वयं को सज्जित करता है, कोई कण्ठाभरण ठीक करता है, कोई दर्पण में अपनी छवि देखता है। कोई अपने वृद्धिगत नखों को देख कर सोचता है कि कहीं सहवास के समय ये उसके उरोजों में न लग जायें। किसी को विरह-महाज्वर आ गया है। किसी का उर काम के बाण से बिंध गया है। कोई विह्वल होकर मूर्च्छित हो जाता है और कोई लज्जित हो कर उसे जल दे देता है—

जिह जिह सुन्दरि अप्पउ दावइ, तिह तिह णिवतणयहं तणु तावइ।
को णीससइ ससइ दिहि छंडइ, अप्पउ पुण वि पुण वि पुणु मंडइ।
कण्ठाहरण को वि सजोयइ, अप्पउ दप्पणि को वि पलोयइ।
को वि णियइ णियणहइं जभग्गइं, एयइं थणहिं खणहिं ण लग्गइं।

कासु वि आयउ विरहमहाजर, कासु वि उरि खुत्तउ वम्महसर।
मुच्छिउ पडिउ को वि विहलंघल, देइ वि णियगुज्झहिं सिंचइ जलु।

(महु० २८।१६।१-८)

रति के सर्वांग-चित्र के कुछ चित्र राजाओं की रानियों तथा उनकी दासियों से प्राप्त होते हैं। वस्तु-वर्णन के अन्तर्गत उनका उल्लेख किया जा चुका है अतः यहाँ उनका विवेचन अनावश्यक होगा।[1]

---

(१) देखिए ऊपर पृ० १३२-१३६

राम के औत्सुक्य की सुन्दर व्यजना उस स्थल पर हुई है जब लका से लौट कर आये हनुमान से वे विना उत्तर की प्रतोक्षा किये जानकी के सम्बन्ध मे प्रश्न पर प्रश्न करते चले जाते हैं—

वोल्लाविउ मारुइ तें कयत्थु, मउडग्गचडावियउहयहत्थु ।
भणु कि दिट्ठउ सिसुहरिणणेत्तु, कि णउ कुमार मरउ कलत्तु ।
किं मुच्छिय णिवडइ जीवचत्त, किं मह्रु विरहे पचत्तु पत्तु ।

(मपु० ७३।३०।५-७)

कवि के काव्य मे अनेक स्थल ऐसे भी है जहाँ किसी पुरुष के अनुपम रूप को देख कर नारियो मे उद्दाम काम-वासना स्फुरित हो जाती हैं और वे वाणी तथा विभिन्न शारीरिक चेष्टाओ द्वारा अपने हार्दिक भाव प्रकट करती हैं। ऐसा ही एक प्रसंग लका मे हनुमान के विभीषण के यहाँ जाने के समय का है। पुर-नारियाँ हनुमान को देखते ही व्याकुल हो जाती हैं। कोई तरुणी उन्हे अपने कङ्कण, हार आदि आभूषण देती है, कोई मुकुलित दृष्टि से देखती है, कोई कटाक्ष करती है, कोई विकसित होती है तथा कोई विलुलित होती है। किसी स्त्री की कटि-मेखला टूट जाती है और कोई मूर्च्छित हो कर धरती पर गिर पडती है। किसी के शरीर से रति-जल-धारा सी प्रवाहित जान पडती है। कोई काम-विह्वला अपने उर स्थल को ही पीटती है। कोई अपने उरोज प्रकटित करती है। किसी का परिधान शीघ्र गिर जाता है।

कोई कहती है कि हे सखी, जहाँ दूत इतना रूपवान है वहाँ उसके स्वामी राम कैसे होगे ? इसी कारण सीता अपने सतीत्व की रक्षा करने मे वज्रवत् हैं। कवि के शब्दो मे देखिए—

हेला—कदप्प सुरूविण णिएवि चित्तचोर ।
का वि देइ सककण चारुहारदोर ॥
क वि जोयइ दिट्ठिइ मउलियइ, गुरुयणि सलज्जदरमउलियइ ।
क वि चलियकडक्खहिं विवलियइ, क वि वियसियाइ क वि विलुलियइ ।
काहि वि गय तुट्टिवि मेहलिय, क वि मुच्छिय धरणीयलि घुलिय ।
काहि वि रइजलझलक्क झलिय, क वि उरयलु पहणइ भिदुलिय ।
काइ वि थणजुयलउ पायडिउ, काहि वि परिहाणु झत्ति पडिउं ।
का वि भणइ एहु हलि दूउ जहि, केहउ सो होही रामु तहि ।
सइ सीय भडारी वज्जमिय, ण सइत्तणवित्ति अइक्कमिय ।

(मपु० ७४।८।१-६)

णायकुमार चरिउ मे कवि ने मथुरा की वेश्याओ को नागकुमार के लिये व्याकुल होते हुए चित्रित किया है। कोई वेश्या अपना उरस्थल नागकुमार के नखों द्वारा

भग्न न हुआ देख चिंतित होती है। कोई अपनी लम्बी श्याम अलको के उसके द्वारा न खींची जाने पर चिंता करती है। कोई सोचती है कि उसके कंठ का हार कुमार द्वारा क्यों न छिन्न-भिन्न हुआ ? कोई अधराग्र समर्पित करती है, खीजती है, विरह से तप्त होती है तथा कम्पित होती है। कोई रति-सलिल मे भीग कर रोमांचित होती हुई थरथराती है—

का वि वेस चितइ गयमुण्णा, एं थण एयहो णहहिं ण भिण्णा।
का वि वेस चितइ किं वड्ढिय, णीलालय एं एण ण कड्ढिय।
का वि वेस चितइ किं हारें, कंठु ण छिण्णउ एण कुमारें।
का वि वेस अहरग्गु समप्पइ, भिज्जइ खिज्जइ तप्पइ कंपइ।
का वि वेस रइसलिलें सिंचिय, वेवइ वलइ घुलइ रोमंचिय।

(णाय० ५।१।८-१२)

इसी प्रकार सुलोचना के स्वयंवर मे आये हुए अनेक राजकुमार उसे देख कर काम-पीड़ित होते है। जहां-जहां सुन्दरी सुलोचना अपना दर्शन देती है, वहां-वहां बैठे राजकुमार कामाग्नि से दग्ध होते हैं। कोई दीर्घ निःश्वास लेता है, कोई बार-बार वस्त्र को सज्जित करता है, कोई कण्ठाभरण ठीक करता है, कोई दर्पण मे अपनी छवि देखता है। कोई अपने वृद्धिगत नखों को देख कर सोचता है कि कहीं सहवास के समय ये उसके उरोजो मे न लग जायें। किसी को विरह-महाज्वर आ गया है। किसी का उर काम के बाण से विध गया है। कोई विह्वलांग होकर मूर्च्छित हो जाता है और कोई लज्जित हो कर उसे जल दे देता है—

जिह जिह सुन्दरि अप्पउ दावइ, तिह तिह णिवतणयहु तणु तावइ।
को णीससइ ससइ दिहि छडुइ, अप्पउ पुण वि पुणु वि कु वि मंडइ।
कण्ठाहरणु को वि सजोयइ, अप्पउ दप्पणि को वि पलोयइ।
को वि णियइ णियणहइं अभग्गइं, एयइं एयहि थणहि ण लग्गइं।

.. .

कासु वि आयउ विरहमहाजरु, कासु वि उरि खुत्तउ वम्महसरु।
मुच्छिउ पडिउ को वि विहलंघलु, केण वि णियलज्जहि दिण्णउ जलु।

(मपु० २८।१६।१-८)

रति के संयोग-पक्ष के कुछ चित्र राजाओं की जल तथा उपवन क्रीडाओं मे प्राप्त होते हैं। वस्तु-वर्णन के अंतर्गत उनका उल्लेख किया जा चुका है अतः यहाँ उनका विवेचन अनावश्यक होगा।[1]

---

(१) देखिए ऊपर पृ० १७३-१७६

वात्सल्य रस

वात्सल्य भाव का अकन ऋषभ की शैशवावस्था के वर्णन मे किया गया है। कवि कहता है कि उनका शरीर तरणि-बिम्ब को लज्जित करता है। नितम्ब क्षुद्र घटिकाओ से अलकृत हैं। शरीर धूलि-धूसरित है। पहना हुआ वस्त्र सरक गया है। जन्म के समय के सुनहरे केश शोभित हैं—

तणुतेओहामियतरणिबिंबु, घग्घरमालालकियणियबु।
धूलीधूसरु ववगयकडिल्लु, सहजायकविलकोतलजडिल्लु
(मपु० ४।४।४-५)

अनेक स्त्रियाँ उनके साथ क्रीडा करती है। कोई उन्हे हसाती है। कोई बुलाती है। कोई उन्हे खेलने के लिये, कपि, कीर, मोर आदि के खिलौने देती है। वे नारियाँ मुर्गा, घोडा, हाथी, मेप महिष आदि के रूप मे शिशु का मनोरजन करती हैं। कोई नारी अपनी भुजाओ को ठोकती हुई मल्ल बन जाती है। पुन. कोई सोते हुए शिशु को मीठी-मीठी लोरियाँ गा कर सुनाती है—

केण वि पहसाविउ हसगामि, केण वि बोल्लाविउ भव्वसामि।
केण वि काइँ वि खेलणउ दिण्णु, कइ कीरु मोरु अवरु वि रवण्णु।
गिव्वाणु को वि हुउ तवचूलु, कु वि वरतुरगु कु वि दिव्वु पीलु।
कु वि मेसु महिसु भुयवलमहल्लु कु वि अप्फोडइ होएवि मल्लु।
सोवतउ कु वि सुइहारएण, परियदइ अम्माहोरएण।
(मपु० ४।४।८-१३)

मातृ-हृदय के स्नेह की मार्मिक व्यंजना रामायण के उस प्रसग मे हुई है, जहाँ मदोदरी को ज्ञात होता है कि सीता उसकी पुत्री है और स्वय उसका पिता रावण ही उस पर आसक्त है। वात्सल्य-जनित विषाद तथा ग्लानि के मिश्रित भाव मदोदरी के हृदय मे उत्पन्न होते है

वह दुसह दु ख के कारण मूर्च्छित हो जाती है—

दुवई—जणणसुयाहिलासणियवइखयचितामउलियच्छिआ।
मेइणियलि दड त्ति णिवडिय मदोयरि दुस्सहदुक्खमुच्छिया॥
(मपु० ७३।२३।१-२)

शीतलोपचार के पश्चात् जब उसे चेतना आती है, तो वह पूछती है कि अपने ही उदर से उत्पन्न सतान के प्रति कौन सी माता अवत्सल हो सकती है। वह अश्रु-धारा बहाती हुई मधुर शब्दो मे कहती है, हा सीते, तू मेरी सतान है। हा, दुष्ट विधाता ने मुझे यह किस जन्म के दुष्कर्म का फल दिया है। तुझ पर तेरा ही पिता आसक्त है। हा देव, तूने मुझे कितने दुःख मे डाल दिया—

कह कह व देवि सज्जीव जाय, मणु कामु अवच्छल होइ माय।
मुहकुहरहु वियलिय महुर वाय, हा मीय पुत्ति तुहुँ महुँ जि जाय।

हा विउमिउ किं विहिणा खलेण, वोलीणु जम्मु दुक्कियफलेण।
तुज्झुप्परि ण्हाउ तायचित्तु, हा दइवें विहुरतरि णिहित्तु।

(मपु० ७३।२३।५-८)

पुन सीता को विषादमना तथा विधवा की भाँति स्थित देखकर मदोदरी का मातृप्रेम अपनी चरम सीमा को पहुँच गया और उसके स्तनो से दुग्ध की धारा निकल कर सीता के ऊपर पड़ने लगी--

पेच्छिवि सीयाए सदुक्ख वयणु, मंदोयरियहि णीसरिउ थण्णु।
घत्ता--आगयणाइ थियइ विहवत्तणइ एतउ सीयइ जोइउ।
थण मेल्लिवि रामणगेहिणिहि हारु व खीरु पधाइउ॥

(मपु० ७३।२३।१०-१२)

पुत्र-प्रेम की अत्यन्त उत्कृष्ट व्यंजना कृष्ण के कालीदह मे प्रवेश करते समय नद तथा यशोदा के विरहोद्गारो मे हुई है। णायकुमार चरिउ मे भी नाग कुमार के कूप मे गिर जाने पर उसकी माता के शोक मे वात्सल्य का विशद चित्रण है। इसका परीक्षण ऊपर करुण रस के अंतर्गत किया जा चुका है।[1]

इसके अतिरिक्त कवि के काव्य में भ्रातृ-प्रेम के भी कुछ भव्य उदाहरण प्राप्त होते है। लक्ष्मण के लिए राम का तथा रावण के लिये विभीषण के करुण विलाप इस कोटि मे रखे जा सकते है। कृष्ण के लिये बलराम का शोक भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है। इन सब प्रसगो के सबध मे हम पूर्व ही विचार कर चुके है, अत यहाँ उन पर पुनर्विचार आवश्यक नही है।[2]

कवि के रस सबधी इस समस्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि की रचनाएं मानव समुदाय के भावो एव मनोवेगो के भव्य चित्रो से पूर्ण हैं। यही कारण है कि समग्र अपभ्रंश साहित्य म कवि का नाम बडे आदर के साथ लिया जाता है।

---

(१) देखिए ऊपर--पृ० २१८-२१९
(२) देखिए ऊपर--पृ० २१२ तथा २१४

अध्याय

९

कवि का कला-पक्ष

किसी कवि का भाव-पक्ष यदि उसके काव्य का आत्मा है तो कला-पक्ष उसका शरीर है। शरीर ही आत्मा का आधार होता है। इसी प्रकार काव्य का कला-पक्ष, जिसका प्रधान अग भाषा है, कवि के मनोभावो तथा कल्पनाओ को साकार करके आस्वाद्य वनाता है।

कला-पक्ष के अंतर्गत वाणो का समस्त चातुर्य निहित है। दूसर शव्दो मे काव्य के अलकार, लोकोक्तिया-मुहावरे, प्रवध-सौष्ठव, उक्ति-वैचित्र्य, छद आदि कला-पक्ष के उपकरण कहे जा सकते हैं।

इस अध्याय मे हम कवि की रचनाओ के कला-पक्ष के इन्ही उपकरणो का अध्ययन करते हुए देखेंगे कि इस क्षेत्र मे कवि को कहां तक सफलता प्राप्त हुई है।

अलकार-विधान—

काव्य के रसो तथा भावो के उत्कर्ष की वृद्धि करने मे अलकारो का महत्व प्राचीन काल से ही माना जाता रहा है। कवि-गण कही किसी भाव अथवा दृश्य का सादृश्य दिखलाने के लिये, कही किसी गुण को सवेदनीय वनाने के लिये, कही सभावनाए प्रदर्शित करने के लिये और कही केवल चमत्कार की सृष्टि करने एव अपने पाण्डित्य का परिचय देने के लिये अलकारो का प्रयोग करते हैं।

कवि ने अपनी अभिव्यक्ति को सवल तथा सुन्दर वनाने के उद्देश्य से अलकारो के प्रयोग मे विशेप रुचि दिखलाई है। वह अलकार को सुकवि के काव्य का आवश्यक अग मानता है तथा निरलकार काव्य को कुकवि की कथा कहता है।[1] एक अन्य स्थल पर उसका कथन है कि वर-कविजनो का काव्य-विवेक अलकारो की कान्ति से युक्त होता है।[2]

---

(१) सालंकारउ''' ''' कव्वु व सुकइहि केरउ। मपु० १४।६।११-१२
निरलकार कुकइकह जेही। णाय० ३।११।१२

(२) सालकारु कतिइ सहिउ कव्वविवेउ णाइ वरकइयणि। मपु० ६८।५।१३

कवि की अप्रस्तुत-योजना मे परपरागत एव कवि-प्रसिद्ध उपमानो का आधिक्य अवश्य है, परन्तु उसमे सामान्य जीवन से ग्रहण किये गये उपमानो को भी स्थान दिया गया है। कहो-कहो विराट कल्पनाएँ भी प्राप्त होती हैं। ये कल्पनाएँ वस्तु-वर्णन (रूप, गुण-स्वभाव आदि), कार्य-व्यापार, घटना तथा भाव-चित्रण के प्रसगो मे विशेष रूप से प्रयुक्त हुई है। अत सुविधा की दृष्टि से हम उन्हे इन्हो शीर्षको के अतर्गत रखकर, कवि की कल्पना-शक्ति पर विचार करेंगे।

प्रस्तुत विवेचन का उद्देश्य विभिन्न अलकारो के उदाहरण एकत्र करना नही है, वरन् देखना यह है कि कवि को कल्पनाएँ अलकारो के रूप मे किस प्रकार प्रकट हुई हैं।

वस्तु-वर्णन—

(अ) रूप —कवि अपने आराध्य तीर्थंकरो की अलौकिक शोभा का वर्णन करने मे विशेष रुचि दिखलाता है। ऋषभ के जीव के माता मरुदेवी के उदर मे आने के प्रसग मे कवि उसकी उपमा शरद्-मेघ के मध्य मे महादीप्यमान चन्द्र तथा कमलिनी के पत्र मे जल-बिंदु मे देता है—

सरयब्भमज्झम्मि रुइरु दइ दु व्व, सयवत्तिणीपत्तए तोयबिंदुव्व।

(मपु० ३।७।१०)

उपमाओ के अतर्गत एक नवीन कल्पना कवि वहाँ करता है जहाँ वह बाहु-बलि के शरीर की कान्ति को अभिनव वश के समान बतलाता है—

सिसु अविपिक्कवसपृच्छायउ, बालउ बाहुबलि वि तहि जायउ।

(मपु० ५।१४।७)

इसी प्रसग मे बाहुबलि के वक्ष स्थल की प्रविपुलता के लिए पुर-कपाट तथा उनके नील केशो के लिए हाथी के गले मे पडी हुई शृ खला जैसी सामान्य जीवन से ली गई उपमाएँ प्राप्त होती हैं। इनका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।[1]

जिन-दर्शन-हेतु जाती हुई कु कुम-पिण्ड लिये किसी नारी के प्रति एक सुन्दर उपमा देता हुआ कवि कहता है कि वह पूर्व दिशा मे उदित होते हुए शिशु मार्त्तण्ड के समान है—

सोहइ अवर वि कु कुमपिंडें, पुव्वदिशा इव सिसुमत्तडें।

(मपु० ६।२०।८)

उपमा द्वारा एक अन्य स्थल पर कवि जननी की दुग्ध-धार से सिक्त कृष्ण को चन्द्र किरणो मे विलिप्त नव मेघ के समान अकित करता है—

---

१. देखिए पृ० १८६।

दीसइ णंदणंदु णारायणु जणणीदुद्धसित्तओ ।
णाइ तमालणीलु णवजलहरु ससहरकर विलित्तओ ।।
(मपु० ८५।१५।१-२)

कवि ने अपने कल्पना-चित्रो के सृजन मे सवसे अधिक सहायता उत्प्रेक्षा से ली है। उसकी इस प्रवृत्ति का परिचय हमे उसकी सभी रचनाओ से प्राप्त होता है। इस संबध मे यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

वस्तूत्प्रेक्षा के रूप मे कवि कल्पना करता है कि चेल्लना देवी से मडित राजा श्रेणिक ऐसे शोभित होते है मानो वल्लरी सुरतरु का आलिंगन कर रही हो—

णवरेक्कहिं दिणि राणउ मो आसीणउ सिंहासणि दीहरकरु ।
चेल्लिणिदेविइ मडिउ ण अवरु डिउ वल्लरीइ सुरतरुवरु ।।
(मपु० ११७।१२-१३)

अन्य वस्तूत्प्रेक्षा मे वह कहता है कि मद-पान के इच्छुक भ्रमरो से घिरे हुए मत्त हाथी पर बैठे श्रेणिकराज ऐसे प्रतीत होते हैं मानो पवन द्वारा आन्दोलित पर्वतीय तमाल-वन मे केशरी हो—

आरूढउ महिवइ मत्तगइ मयजलघुलियचलालिगणे ।
ण महिहरि केसरि खरणहरु पवणुल्ललियतमालवणे ।।
(मपु०२।१।१८-१९)

वस्तूत्प्रेक्षा के एक अन्य प्रयोग मे वर्धमान की लंबी जटाओ के लिये चंदन के वृक्ष मे लिपटे हुए सर्पों की सभावना की गई है—

वड्ढतकेसजडमालियउ, णं चदणु फणिउलमालियउ ।
(मपु० ९७।२।२)

ऐसा ही एक स्थल वहाँ है जहाँ मनुष्यो से घिरे तथा रथारूढ चक्रवर्ती भरत ऐसे प्रतीत होते हैं मानो मानसरोवर के पक मे राजहस हो—

कइवयणरेहिं सह सूरससु, ण माणसपकइ रायहंसु ।
(मपु० १२।१३।४)

वस्तूत्प्रेक्षा के रूप मे एक और भी सुन्दर कल्पना वहाँ है जहाँ कवि स्वर्ग के देवी तथा देवता के विषय मे कहता है कि वे ऐसे शोभित होते हैं मानो मेघ मे सौदामिनी हो—

सुरु मणिमालि देवि चूडामणि, ण मेहु सोहइ सोदामिणि ।
(मपु० २०।२०।६)

अथवा जब वह एक यक्षिणी का सौंदर्य वर्णन करते हुए विभ्रम-विलासवती सुरसरि की कल्पना करता है—

हूई दाणणि जक्खसुरेसरि, बहुविब्भमविलास णं सुरसरि ।
(मपु० ३५।१६।४)

माग रूपक के द्वारा कवि ने जिन को कल्पवृक्ष के रूप में अंकित किया है। यहाँ शम- दम उसके मूल हैं, समस्त जीव-निकाय उसकी शाखाएँ हैं, सुकृत फल-पुष्प हैं, देवतादि माली उसका सिंचन करते हैं और पुण्यरूपी जल के द्वारा वह वृद्धिगत होता है—

समदममूलउ जममाहालउ
सुकयफलुग्गमो जिणकप्पद्दुमो ।
अमरामएहिं सिंचिज्जमाणु, सोहइ पुण्णेण पवड्ढमाणु ।
(मपु० ४।२।१-३)

व्यतिरेक का प्रयोग करते हुए कवि कहता है कि ऋषभ की कन्या सुन्दरी के चढते हुए यौवन को देख कर चन्द्रमा अपने कलंक के कारण लज्जित हो जाता है—

णवजोव्वणि चडंति सा छज्जइ, चंदु कलंकें वयणहु लज्जइ ।
(मपु० ५।१७।५)

अपनी कल्पना की उड़ान में कवि कभी-कभी ऐसे उपमान रख देता है जो परिमाण अधिकता के कारण अनुचितार्थ दोष के अन्तर्गत आ जाते हैं। व्यतिरेक के रूप में ऐसा ही एक स्थल वहाँ है जहाँ वह श्रीमती के नितम्बों की गुरुता के सम्मुख त्रिभुवन को भी लघु देखता है—

वण्णमि काइं णियंवगुरुत्तणु, जहिं पत्तउ तिहुयणु जि लहुत्तणु ।
(मपु० २८।१३।१)

प्रतीप के रूप में कल्पना करता हुआ कवि श्रीमती की नाभि की समता में सलिलावर्त्त (जल की भवर) को अयोग्य कहता है—

भमउ भमउ सो भूए भुत्तउ, णाहिहि सरिसु ण सलिलावत्तउ ।
(मपु० २८।१३।२)

सन्देह अलंकार के दर्शन वहाँ होते हैं जहाँ विवाहोपरान्त महाराज यशोधर तथा चन्द्रमती को देखकर पुर-नारियाँ उन्हें कामदेव तथा रति होने का अनुमान करती हैं—

णयरीतरुणि थिउ हरिसजुत्त, णारीयणु पेक्खइ एयचित्तु ।
सलहइ कि रइ किं मयणु एहु, जसहरु सपत्तउ मायगेहु ।
(जस० १।२७।१७-१८)

(आ) गुण-स्वभाव चित्रण

इस ओर सर्वप्रथम हमारी दृष्टि जिन-स्तवन के अन्तर्गत अभंग श्लेष की ओर जाती है। निम्नलिखित उदाहरण में श्लेष द्वारा जिन तथा शिव दोनों की स्तुति का अर्थ निकलता है—

जय भूयणाह विरइयविवाह ।
जय गोरिरमण जय सुविमगमण ।
जय तिउरडहण जय मयणमहण ।

(मपु० ३८।२२।४-६)

(भूयणाह · जिन-पक्ष मे सकल प्राणियो के स्वामी तथा शिव-पक्ष मे पिशाच नाथ । विरइयविवाह जिन-पक्ष मे बाधा-विनाशक तथा शिव-पक्ष मे विवाहित । गोरिरमण जिन-पक्ष मे सरस्वती-प्रिय, शिव-पक्ष मे गौरी-रमण । तिउरडहण : जिन-पक्ष मे जाति, जरा एव मरण के विध्वसक, शिव-पक्ष मे त्रिपुर दानव विनाशक ।)

व्यतिरेक के आश्रय से कवि चन्द्र, सूर्य तथा मेरु की अपेक्षा जिन को श्रेष्ठ सिद्ध करता हैं—

जो ससहरु सो तहु क तिपिंडु, चितंतु व हुउ सकलकु खडु ।
दिणयरु तहु तेए जित्तु णाइ, णहयलि भमेवि अत्थवणु जाइ ।
जो सुरगिरि सो तहु ण्हवणवीढु, ज महिमडलु त तेण गीढु ।

(मपु० ४।३।३-५)

द्वितीय तुल्योगिता के रूप मे हित-अनहित दोनो मे जिन को सम भावना का उल्लेख किया गया है—

जो पइ सेवइ तहु होइ सोक्खु, तुहु पडिकूलहु सभवइ दुक्खु ।
तुहु पुणु दोहिं मि मज्झत्थभाउ, इह एहउ फुडु वत्थुहि सहाउ ।
णिंदिज्जइ रवि पित्ताहिएहिं, चदु वि वाएण णिवाइएहिं ।
ते दोण्णि वि एयह किं करति, ससहावें णहयलि सचरति ।

(मपु० १०।१।६-९)

रूपक के द्वारा श्रेणिक राज के पराक्रम का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वे कृपाण रूपी जल से शत्रुओ की प्रताप रूपी अग्नि को शान्त करते हैं—

असिवरजलेण पसरतु दमिउ, णियरिउपयावसिहि जेण समिउ ।

(णाय० १।८।१)

अनन्वय के रूप मे एक कल्पना करता हुआ कवि भरत चक्रवर्ती को रूप, विक्रम आदि मे उन्ही के समान चित्रित करता है—

घत्ता— रूवें विक्कमेण गोत्ते बलेण णयजुत्तें ।
तुज्झु समाणु तुहुं किं अण्णें माणुसमेत्तें ॥

(मपु० १५।७।१७-१८)

इसी प्रकार एक अन्य कल्पना-चित्र मे कवि भरत की अनन्यता का वर्णन अगम अलंकार के द्वारा करता है—

भणु जलणहु उप्परि को जलइ, भणु पवणहु उप्परि को चलइ।
भणु मोक्खहु उप्परि कवण गइ, भणु भरहहु उप्परि को नृवइ।
(मपु० १५।१६।५-६)

अतिशयोक्ति के रूप मे कुछ अद्भुत कल्पनाएं हमे वहाँ प्राप्त होती हैं जहाँ कवि बलराम के मुख मे नेमि की शक्ति का वर्णन कराता है—

जसु तेए कंपइ रविमंडलु, पायहिं जासु पडइ आहंडलु।
णगिरि ससायर महि उच्चल्लइ, जो सत्त वि सायर उत्थल्लइ।
(मपु० ८८ २१।११-१२)

विरोधाभास के रूप मे एक सुन्दर कल्पना करता हुआ कवि कहता है कि महाराज दशरथ कुवलय-बन्धु होते हुए भी दोषाकर (चन्द्र) न थे अथवा वे भूमंडल के बन्धु होते हुए भी दोषों के आकर न थे—

कुवलयबंधु वि णाहु णउ दोसायरु जायउ।
(मपु० ६६।११।११)

एक स्थल पर राजा की प्रजा-वत्सलता के गुण का परिचय देने मे कवि उदाहरण तथा यमक का प्रयोग करता है—

जिह गोवउ पालइ गोमंडलु, तिह पालउ गोवइ गोमंडलु।
(मपु० २८।८।३)

(गोवउ गोप। गोवइ राजा। गोमंडलु गो-समूह, भूमि)

इसी प्रसंग मे अन्यत्र लाटानुप्रास की मनोहर छटा भी उपलब्ध होती है—

इय पत्त पयाप्पयासियउ णिवचरित्तु जो पालइ।
कमलाणण कमला कमलमुहि तहु मुहकमलु णिहालइ॥
(मपु० २८।८।१४-१५)

(ङ) प्रकृति-चित्रण

प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र मे कवि की उत्कृष्ट कल्पनाएं उत्प्रेक्षा द्वारा व्यक्त हुई हैं। अतः प्रथम हम उन्हीं के कुछ उदाहरण प्रस्तुत करेंगे।

सूर्योदय के वर्णन मे अत्यन्त भव्य कल्पनाएं करता हुआ कवि कहता है कि अरुणोदय ऐसा शोभित है मानो अशोक वृक्ष का नवीन पल्लव हो, मानो सिंदूर-पुंज हो, मानो नभ-श्री का अरुण छत्र हो मानो उदयगिरि का चूडारत्न हो—

एत्थन्तरि विमलत हो अरुणयरु, णवपल्लव णं कंकेल्लितरु।
णावइ दुमणि ससु रंजियउ, सिंदूर-पुंजु णं पुंजियउ।
अरुणायवत्तु णं णहसिरिहि णं चूडामणि उदयगिरिहिं।
(जस० २।१२।३-५)

उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत कुछ मनोरम कल्पनाए चन्द्रोदय-वर्णन मे प्राप्त होती हैं—चन्द्रमा मानो अधकार को काटने वाला चक्र है, मानो ऐरावत का मण्डित मुख है, मानो स्वयं कीर्ति का दर्शित मुख ही है, मानो जन-सुखकारी अमृत-भवन है, मानो परमेश्वर जिन का यश-पु ज है, मानो इद्र का पाण्डुर छत्र है, मानो रजनी-वधू के ललाट का तिलक है—

ण चक्कु तमोहविहडणउ, ण सुरकरिसियमुहमडणउ ।
ण कित्तिए दाविउ णियमुहु, ण अमयभवणु जणदिण्णसुहु ।
ण जसु पु जिउ परमेसरहो, ण पंडुर छत्तु सुरेसरहो ।
ण रयणी वहुहि णिलाडतिलउ। (जस० २।२।७-१०)

यहाँ मूर्त्त उपमेय के लिये अमूर्त्त उपमानो की योजना द्रष्टव्य है । इसी प्रकार वह चित्रकूट के नदनवन को महि रूपी कामिनी का यौवन होने की सुन्दर कल्पना करता है—

जोयउ चित्तकूडु णंदणवणु, ण महिमहिलहि केरउ जोव्वणु ।
(मपु० ७१।११।१०)

भ्रान्तिमान के रूप मे कुछ अत्यन्त सुन्दर कल्पनाए प्रस्तुत करने का अवसर कवि को रात्रि-वर्णन मे प्राप्त होता है । वहाँ छिद्रो से प्रवेश करती हुई ज्योत्स्ना द्वारा धवल हुए अधकार को देख कर मार्जार (बिल्ली) को दुग्ध का भ्रम होता है । इसी प्रकार रति-श्रम से उत्पन्न स्वेद-बिंदुओ मे भुजग को मुक्ता का भ्रम होता है तथा किसी गृह मे प्रवेश करती हुई चन्द्र-किरणो को श्वेत सर्प समझ कर मयूर बारम्बार पकडने की चेष्टा करता है—

रधायारु थियउ अंधारउ, दुद्धसंक पयणइ मज्जारइ ।
रइ पासेयबिंदु तेणुज्जलु, दिट्ठु भुयगहि ण मुत्ताहलु ।
दिट्ठउ कत्थइ दीहायारउ घरि पइसतउ किरणुक्केरउ ।
मोरें पडुरु सप्पु वियप्पिवि, मुद्धें कह व ण गहिउ झडप्पिवि ।
(मपु० १६।२४।९-१२)

(ई) विविध वस्तु-वर्णन

वस्तु-वर्णन के क्षेत्र मे कवि के अनेक सफल कल्पना-चित्र उत्प्रेक्षा के रूप मे हमारे सम्मुख आते है ।

रूपक गर्भित उत्प्रेक्षा के रूप मे कैलाश पर्वत के प्रति कल्पना करता हुआ कवि कहता है कि उत्तु ग पर्वत ऐसा प्रतीत होता है मानो स्वर्ग की ओर दर्शित महि रूपी कामिनी की भुजा हो—

घत्ता—सो महिहरपवरु दीसइ गयणंगणि लग्गउ ।
णं महिकामिणिहि भुयदडु पदसियसग्गउ ॥ (मपु० १५।१६।९-१०)

उत्प्रेक्षा के अन्तर्गत कु
हैं—चन्द्रमा मानो अधकार को
है, मानो स्वयं कीर्ति का दर्शित
मानो परमेश्वर जिन का यश-प्
वधू के ललाट का तिलक है—

ण चक्कु तमोहविह
ण कित्तिए दाविउ
ण जसु पु जिउ परमे
ण रयणी वहुहि णिल

यहाँ मूर्त्त उपमेय के लि
वह चित्रकूट के नदनवन को मह
करता है—

जोयउ चित्तकूडु णदणवणु

भ्रान्तिमान के रूप मे कुछ
कवि को रात्रि-वर्णन मे प्राप्त होता
धवल हुए अंधकार को देख कर मा
प्रकार रति-श्रम से उत्पन्न स्वेद-बिं
गृह मे प्रवेश करती हुई चन्द्र-किर
की चेष्टा करता है—

रयायारु थियउ अंधारइ, दु
रइ पासेयबिंदु तेणुज्जलु, दि
दिट्ठउ कत्थइ दीहायारउ घ
मोरें पडुरु सप्पु नियप्पिवि,

(ई) विविध वस्तु-वर्णन

वस्तु-वर्णन के क्षेत्र मे कवि के
हमारे सम्मुख आते हैं।

रूपक गर्भित उत्प्रेक्षा के रूप
कवि कहता है कि उत्तु ग पर्वत ऐसा प्र
रूपी कामिनी की भुजा हो—

घत्ता—सो महिहरपवरु दीसइ
णं महिकामिणिहि भुयद

दिट्ठु पुत्तु आलिंगिउ मायइ, भूमिभाउ ण पाउमच्छायइ ।

(मपु० ६०।१६।२)

भाव-चित्रण

उदाहरण के रूप मे हर्ष की व्यजना उम स्थल पर प्राप्त होती है जहाँ कवि कहता है कि अपने उदर से जिन जन्म होने का सुसमाचार ज्ञान कर सुषेणा हर्ष से वैसे ही पुलकित एव रोमाचित होती है जैसे मधुमास के आगमन को ज्ञात कर कोकिला हर्षित होती है—

घत्ता—त णिसुणिवि सु दरि सरमहिहरदरि रोमचिय पुलएण किह ।
महुममयह वत्तइ पोसियसोत्तइ पण्डणि पियमाहविय जिह ।

(मपु० ४०।४।१५-१६)

मत्री के वचनो द्वारा मगधराज के दर्प-परिमुक्त होने का भाव उदाहरण के रूप मे दर्शित करते हुए कवि कहता है कि वह वैसे ही शान्त हो गया जैसे मत्र के प्रभाव से सर्प—

ते वयणे सो परिमुक्कदप्पु, थिउ मतपहावे णाइ सप्पु ।

(मपु० १२।१६।१०)

पराजित भरत की विषादपूर्ण मुद्रा को कवि दो कल्पना-चित्रो द्वारा उत्प्रेक्षा के रूप मे प्रस्तुत करता है—

ण कमलसरु हिमाहयकायउ, दवदड्ढउ रुक्खु व विच्छायउ ।

(मपु० १८।१।३)

पर्यायोक्ति तथा लोकोक्ति के रूप मे मगधराज के रोप का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

भणु केणुप्पाडिय जमहु जीह, भणु केण लुहिय खयकाललीह ।
णायउलवलयविलुलतु गीढु, भणु के ण णिसु भिउ धरणिवीढु ।
भणु केण कलिउ मदरु करेण, उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण ।

(मपु० १२।१७।४-६)

विनोक्ति तथा असम के आश्रय से जसोह के शोक का चित्रण कवि इन शब्दो मे करता है—

उम्मुच्छिउ धाहावतु राउ, हा पइ विणु जगु अधारु जाउ ।
सोयणह लग्गु हा ताय ताय, पइ विणु महु भग्गी छत्तछाय ।
पइ विणु सुण्णउ धरवीढु जाउ, एवहि को सामि अवति राउ ।
विणु ताएं रज्जहो पडउ वज्जु, विणु ताए महु ण सुहाइ रज्जु ।

(जस० २।२५।४-७)

विरोधाभास के रूप मे विरह का वर्णन करने मे कवि कुछ और सु दर कल्पनाए करता है—

जलसिंचन पवुड्ढि घुउसासहो, चदणु इघणु विरहहुयास हो।
आहारु वि हारु वि ण वि भावइ, कमलुकमलबंघु व संतावइ।
चंदजोण्ह सिहिसिह ण ढुक्को, चित्तजलद् जलति व मुक्को।
(णाय० ३।६।९-११)

घटना–चित्रण

रूपक तथा उत्प्रेक्षा के रूप में कवि माघ राज के प्रासाद मे भरत द्वारा बाण फेंके जाने की घटना पर एक भव्य कल्पना करता है। प्रासाद के नीलम-जटित आगन मे कनक-वर्ण का बाण गिरा मानो यमुना के श्याम जल मे शतदल प्रफुल्लित हो—

मागहहु णिहेलणि हरिणीलगणि खुत्तु कणयपु खुज्जलु।
रुइणिज्जियकज्जलि जउणाणइजलि ण पप्फुल्लिउ सयदलु॥
(मपु० १२।१६।११-१२)

उदाहरण तथा उत्प्रेक्षा के रूप मे भरत के चक्र के नगर मे प्रवेश न करने के वर्णन मे कवि और भी सुन्दर कल्पनाए करता है—

थक्कउ चक्कु ण पुरि परिसक्कइ, कुकइहि कव्वु व णउ चिम्मक्कइ।
ण कोवाणलजालामडलु, ण पुरलच्छिइ परिहिउ कु डलु।
(मपु० १६।२।३-४)

नर्तकी नीलजसा की अकस्मात् मृत्यु की घटना को उत्प्रेक्षा-माला के रूप मे प्रस्तुत करते हुए, कवि उसका प्रभाव सीधे हृदय पर डालने की चेष्टा करता है। वह कहता है मानो रति की नगरी ही क्षण मे विध्वस हो गई, मानो जन-नयन-निवास-श्री हत हो गई, मानो रगभूमि रूपी सरोवर की पद्मिनी कर्म-वश काल द्वारा काट दी गई, मानो चन्द्र रेखा नभ मे अस्त हो गई, मानो इन्द्रधनुप की शोभा वायु के कारण लुप्त हो गई, मानो रम्य सुख देने वाली तथा रस-वाहिनी सुकवि की कथा किसी पिशुन द्वारा नष्ट कर दी गई—

ण खणि विद्ध सिय रइहि पुरि, ण हय जणणयणणिवासगिरि।
ण रगसरोवरि पउमिणिय, कम्मेणकालरवें लुणिय।
ण चदरेह णहि अत्थमिय, ण सुरधणुसिरि मरुणा समिय।
रसवाहिणि दिण्ण रवणसुह, ण णासिय पिसुणें सुकइकह।
(मपु० ६।६।५-८)

दाम यमक अथवा श्रृ खला यमक के दर्शन हमे कवि द्वारा प्रस्तुत धरणेन्द्र-आगमन के वर्णन मे होते हैं—

.. ..

फारफणाकडप्पफुक्कारुल्लालियममहिमहिहर ।

महिहरउदकदरायपणणिग्गयकूरहरिवर ।

हरिओगनिरोलवित्तामियणानियमत्तकुंजर । आदि

(मपु० ८।७।६-८)

कवि के अलंकार-विधान पर विचार करते हुए हमारा ध्यान कतिपय उन स्थलों की ओर जाता है जहाँ उसने दो वस्तुओं अथवा दृश्यों को लेकर उपमेय तथा उपमान के भिन्न-भिन्न अंगों का पारस्परिक साम्य दिखलाते हुए उनके पृथक्-पृथक् दो पूर्ण चित्र उपस्थित किये हैं। यह साम्य कभी श्लेष द्वारा, कभी साधारण धर्म-कथन द्वारा अथवा कभी उपमेय-उपमानगत क्रियाओं द्वारा दर्शित किया गया है। यद्यपि अलंकार के ग्रन्थों में इसका स्पष्ट लक्षण नहीं प्राप्त होता, परन्तु अपभ्रंश के कवियों में इसकी तीव्र-प्रियता होने में कोई सन्देह नहीं है। डा० हरिवंश कोछड़ ने इस पर विचार करते हुए इसे ध्वनित रूपक कहने का सुझाव दिया है।[1]

नीचे हम इसके कुछ अंश प्रस्तुत कर रहे हैं—

नदी तथा सेना का साम्य—

सरि छज्जइ उग्गय पंकयहिं, बलु छज्जइ चित्त छत्तयहिं ।

सरि छज्जइ हंसहिं जलयरहिं, बलु छज्जइ धवलहि चामरहिं ।

सरि छज्जइ सचरंत भसहिं, बलु छज्जइ करवालहि भसहिं । आदि

(मपु० १५।१२।८-७)

अथवा

गंगा तथा सुलोचना का साम्य—

जोयवि गंगहि सारसह जुयलु, जोयइ कंतहि थणकलसजुयलु ।

जोयवि गंगहि सुललियतरंग, जोयइ कंतहि तिवली तरंग ।

जोयवि गंगहि आवत्तभवणु, जोयइ कंतहि वरणाहिरमणु ।

(मपु० २८।७।४-६)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि के कल्पना-चित्र कितने विविध रूपों में उसकी रचनाओं में अंकित हुए हैं। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि उसने उन चित्रों में अपनी रुचि के कितने मनोरम रंगों को भर कर उन्हें आकर्षक बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है। कवि का सर्वाधिक प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है, जो उसकी सभी रचनाओं में प्रधान रूप से विद्यमान है। इसके पश्चात् उदाहरण तथा रूपक के नाम लिये जा सकते हैं। इनके अतिरिक्त और

---

१. अपभ्रंश साहित्य पृ० ९०-९२ ।

भी अनेक अलकारो के रूप मे कवि की रम्य कल्पनाएं हमारे सम्मुख आती हैं। इनके द्वारा हमे केवल कवि के उर्वर हृदय का ही परिचय नही मिलता, वरन् उसके विस्तृत अनुभव, सूक्ष्म निरीक्षण, सौन्दर्य-प्रियता, असामान्य प्रतिभा आदि गुणो के भी दर्शन होते हैं। वे सभी विशेषताए उसे महान् कवि का आसन प्रदान करने के लिये पर्याप्त हैं।

लोकोक्तियाँ तथा मुहावरे

काव्य के अतर्गत शब्दो का चमत्कार तथा अर्थ-गाम्भीर्य प्रकट करने के अभिप्राय से कवि-गण प्राय· लाक्षणिक तथा व्यग्य प्रयोगो का आश्रय लेते हैं। ये प्रयोग जब लोक के किसी अनुभव को प्रकट करने के लिये पूर्ण वाक्य के रूप मे आते हैं तो लोकोक्ति कहलाते हैं और जब किसी विशेष सदर्भ मे वाक्याशो के रूप मे प्रयुक्त होते है तो मुहावरे। इनमें वाच्यार्थ का बोध हो कर लक्षणा अथवा व्यजना द्वारा तात्पर्य पूर्ण होता है।

कवि ने अनेकानेक लोकोक्तियो तथा मुहावरो को अपनी रचनाओ मे स्थान देकर उनके अर्थ-गौरव का विस्तार किया है। उनमे से अनेक आज तक भाषा के सौन्दर्य को बढाते चले आ रहे है। यद्यपि लोकोक्ति स्वय एक अलकार माना जाता है, परन्तु कवि के अलकार-विधान के अतर्गत उसका उल्लेख न करने का कारण यह है कि उसमे हम कल्पना की अपेक्षा भाषा का चमत्कार ही अधिक देखते हैं। दूसरे लोकानुभव का सकलित रूप होने के कारण उसका परिचय कुछ विस्तार से देना भी उचित प्रतीत होता है। नीचे हम कवि के काव्य से कतिपय महत्वपूर्ण उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—

लोकोक्तियाँ

कि सुक्कें रुक्खें सिंचिएण (सूखे वृक्ष को सीचने से क्या लाभ)
(जस० १।२०।२)

ण सुहाइ उलूयहो उइउ भाणु (उलूक को सूर्योदय नही सुहाता)
(मपु० १।८।५)

सुंदर पएसि कि रमउ काउ (सुदर प्रदेश मे कही काक रमता है)
(मपु० १।८।३)

जो रसतु वरिसइ सो णवघणु (जो वरसे वही बादल
(मपु० २।१४।७)

जो जं करइ सोजिज तं पावइ (जो जैसा करता है, वैसा पाता है)
(मपु० ७।७।१०)

धोयंते दुद्धउ पक्खालउ, होइ कहिमि इंगालु ण धवलउ।
(दूध से भी धोने से कोयला कही उजला होता है।)
(मपु० ७।८।२२)

उट्ठाविउ सुत्तउ सीहु केण (सोते सिंह को कौन जगावे) (मपु० १२।१७।६)

भणु को कयत दतंति वसिउ (यम के दांतो के बीच कौन रह सकता है)
(मपू० १२।१७।८)

जो वलवत चोरु सो राणउ वलवान चोर ही राजा होता है)
(मपु० १६।२१।४)

सोहुउ केरउ वद्दु ण दिट्ठउ (सिंह का वृद नही देखा जाता)
(मपु० १६।२०।७)

माण भंग वरु मरणु ण जीविउ (मान-भग होने पर जीवन से मरण श्रेष्ठ है)
(मपु० १६।२०।८)

खम भूसणु गुणवतह (क्षमा गुणवान का भूपण है)
(मपु० १८।२।११)

कि तेल्लु विणिग्गइ वालुयहि (वालू से कहो तेल निकलता है)[1]
(मपु० २३।७।१३)

फणि दिण्णउ दुद्धु वि होइ विसु (सर्प को दूध देने से विप ही होता है)
(मपु० २०।१३।१०)

लूयासुत्ते वज्झउमसउ ण हत्थि णिरुज्झइ (मकडी के जाल मे मशक फसता है, हाथी नही)
(मपु० ३१।१०।६)

को त पुसइ णिडालइ लिहियउ (कपाल पर लिखा कौन मिटा सकता है)[2]
(मपु० २४।८।८)

भरियउ पुणु रित्तउ होइ (जो भरता है वह खाली भी होता है)[3]
(मपु० ३६।८।५)

णात्थि सहवाहु ओसहु । (स्वभाव की कोई औषधि नही)[4]
(मपु० १२।१४।१२)

करगय कणय वलय पविलोयणि हो कि णियइ दप्पण ।
(हाथ कगन को आरसी क्या) (मपु० ५२।८।२)

रणु वोलतउ चगउ । (युद्ध की कथा मनोहर होती है)[5]
(मपु० ५२।८।११)

---

(१) मिलाइए-वारि मथे घृत होइ वरु, सिकता तें वरु तेल। तुलसी

(२) मिलाइए-विधि का लिखा को मेटनहारा । तुलसी

(३) मिलाइए यो भृत स रिक्तो भवति ।

(४) मिलाइए मराठी मे-स्वभावास औषध नाही ।

(५) मिलाइए-युद्धस्य कथा रम्य. ।

अविहेय विहंडणि कवणु दोसु । (अविनीत को मारने में क्या दोष)
(मपु० ५२।६।१०)

सयलु वि गज्जइ णियय घरि । (अपने घर पर सभी गरजते हैं)[1]
(मपु० ५६।७।१३)

सवरुल्लउ कि मोत्तिय बुज्झइ । (सभी क्या मोती पहचान सकते हैं)
(मपु० ५७।३।६)

हंसह वि खीर जल पिहु करणु । (हंस का नीर-क्षीर विवेक)
(मपु० ६६।२७।६)

संतइ सीहि'' '' कि रम्मइ सियाल हो । (सिंह के होते शृगाल को कौन पूछे) (मपु० ७३।२१।२)

को रंड कहाणियाउ सुणइ । (रांड की कथा कौन सुनता है)
(मपु० ७४।१२।८)

करयल कतिहरु पंकेण पंकु कि धुप्पइ । (कीचड भरे हाथ से कहीं कीचड धुल सकता है) (मपु० ७६।७।१४)[2]

कि दीव जिणंति दिणेसतउ । (क्या सूर्य के आगे दीपक जल सकता है)
(मपु० ७५।४।८)

तल्लर जलि कइलासु वि जलयरु । अदुम गामि एरंडु वि तरुवरु ।
(तलैया के जल मे केकडा भी जलचर कहलाता है और वृक्ष-रहित ग्राम मे एरंड ही वृक्ष कहा जाता है) (मपु० ७८।१४।८)[3]

कहिं वसति णिय जीविउ लेप्पिणु, वणि सियाल सीहहु लिहक्केप्पिणु ।
(सिंह से अपना जीवन बचाकर शृगाल जंगल मे कब तक रह सकता है)
(मपु० ८८।३।५)

णउ दाइज्जथोत्ति कासु वि सुहु । (अपने गोत्र की प्रशंसा से किसे सुख नही होता) (मपु० ८८।२१।६)

मुहावरे

कुलिसे घाइउ—वज्रपात होना । (णाय० ३।१४।१२)
अडइ रुण्णु—अरण्य रोदन । (णाय० ४।३।१३)
पय दुद्धइ सप्पहो—सर्प को दूध पिलाना । (जस० १।१६।१०)

---

(१) मिलाइए हिन्दी मे-अपने दरवाजे कुत्ता भी शेर होता है ।
(२) मिलाइए-छूटहिं मल कि मलहिं के धोए । तुलसी
(३) निरस्त पादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते ।

मुक्कउ छणयदहु सारमेउ—श्वान का चन्द्रमा पर भूकना ।
(मपु० १।८।७)
को हुयवहु इंधणेण घवइ—आग मे ईंधन डालना । (मपु० ६।३।८)
जाहु मसाणहु—श्मशान भेजना । (मपु० ७।१०।८)
पडिहो सीसे ण तडो—सिर पर विजली गिरना । (मपु० ७।१४।२)
सिरु धुणंति—सिर धुनना । (मपु० १२।११।१३)
सूरहु अग्गइ दीवउ वोहमि—सूर्य को दीपक दिखाना ।(मपु० १६।१६।६)
किं णहहु ण ल्हसियउ—आसमान फटना । (मपु० २८।२८।१२)
मत्यइ सिंगइ—माथे पर सोग होना । (मपु ३२।११।१)
हुयवह मुहि पइसरिय—आग मे कूदना । (मपु० ३७।११।१३)
वायरण वियारणु जडहु जिह—मूर्ख का व्याकरण पढना ।
(मपु० ६२।११।४)
कट्ठ कणए जडिउ—काठ मे सोना जडना । (मपु० ७४।११।४)

उक्ति-वैचित्र्य

कवि के काव्य के अनेक स्थलो पर हम देखते है कि अपने किसी दृढ विश्वास के कारण अथवा किसी विषय की स्थापना के प्रयत्न मे अथवा किसी पात्र विशेष के प्रति अपनी उत्कट सहानुभूति या घृणा प्रदर्शित करने मे, वह एक के पश्चात् दूसरी कल्पना करता हुआ अपने कथन को प्रभावशाली बनाता है। कवि की यह विशेषता उसकी रचनाओ मे अत्यधिक मात्रा मे विद्यमान है, किन्तु हम कुछ उदाहरण उपस्थित करके उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे ।

इन्द्र द्वारा शिशु जिन को देखने के प्रसग मे कवि वदनक छद के सात चरणो मे छ सुन्दर कल्पनाए करता है—

सहसक्खें दिट्ठउ परमपरु, कमलसरे ण णवदिवसयरु ।
छज्जइ अण्णाणतमोहहरु, ण अंकुरत्ति थिउ धम्मतरु ।
ण वद्धउ सिवसुहकणयरसु, ण पुरिसरूवि सठियउ जसु ।
ण सयलकलायरु उग्गमिउ, ण एक्कहिं लक्खणपुंजु किउ ।
(मपु० ३।११।४-७)

परोपकार ही मनुष्य का मडन है, इस पर वल देने के लिये कवि अठारह विभिन्न वस्तुओ के मडन की कल्पना करता है । उदाहरण के लिये निम्नलिखित पक्तियां पर्याप्त होगी—

भुवणहु मडणु अरहतु देउ, माणिणिमुहमडणु मयरकेउ ।
वेसहि मडणु वइसिउ णिरुत्तु, ववहारहु मडणु चायवित्तु ।
....

अविहेय विहंडणि कवणु दोसु । (अविनीत को मारने में क्या दोष)
(मपु० ५२।६।१०)

सयलु वि गज्जइ णियय घरि । (अपने घर पर सभी गरजते हैं)[1]
(मपु० ५६।७।१३)

सवरुल्लउ किं मोत्तिय बुज्झइ । (सभी क्या मोती पहचान सकते हैं)
(मपु० ५७।३।६)

हंसह वि खीर जल पिहु करणु । (हंस का नीर-क्षीर विवेक)
(मपु० ६६।२७।६)

संतइ सीहि''' '' किं रम्मइ सियाल हो । (सिंह के होते श्रृगाल को कौन पूछे)
(मपु० ७३।२१।२)

को रंड कहाणियाउ सुणइ । (राड की कथा कौन सुनता है)
(मपु० ७४।१२।८)

करयल कतिहरु पकेण पंकु कि धुप्पइ । (कीचड़ भरे हाथ से कही कीचड़ धुल सकता है)
(मपु० ७६।७।१४)[2]

किं दीव जिणति दिणेसतउ । (क्या सूर्य के आगे दीपक जल सकता है)
(मपु० ७५।४।८)

तल्लर जलि कइलासु वि जलयरु । अदुम गामि एरडु वि तरुवरु । (तलैया के जल मे केकडा भी जलचर कहलाता है और वृक्ष-रहित ग्राम में एरड ही वृक्ष कहा जाता है)
(मपु० ७८।१४।८)[3]

कहिं वसति णिय जीविउ लेप्पिणु, वणि सियाल सीहहु ल्हिक्केप्पिणु । (सिंह से अपना जीवन बचाकर श्रृगाल जगल मे कब तक रह सकता है)
(मपु० ८८।३।५)

णउ दाइज्जथोत्ति कासु वि सुहु । (अपने गोत्र की प्रशसा से किसे सुख नही होता)
(मपु० ८८।२१।६)

मुहावरे

कुलिसे घाइउ—वज्रपात होना । (णाय० ३।१४।१२)

अडइ रुणु—अरण्य रोदन । (णाय० ४।३।१३)

पय दुद्धइ सप्पहो—सर्प को दूध पिलाना । (जस० १।१६।१०)

---

(१) मिलाइए हिन्दी मे-अपने दरवाजे कुत्ता भी शेर होता है ।

(२) मिलाइए-छूटहिं मल कि मलहि के धोए । तुलसी

(३) निरस्त पादपे देशे एरण्डोपि द्रुमायते ।

भुक्कउ छणयदहु सारमेउ—श्वान का चन्द्रमा पर भूकना।
(मपु० १।८।७)

को हुयवहु इधणेण घवइ—आग मे ईंधन डालना। (मपु० ६।३।८)

जाहु मसाणहु—श्मशान भेजना। (मपु० ७।१०।८)

पडिही सीसे ण तडो—सिर पर बिजली गिरना। (मपु० ७।१४।२)

सिरु घुणति—सिर धुनना। (मपु० १२।११।१३)

सूरहु अग्गइ दीवउ वोहमि—सूर्य को दीपक दिखाना। (मपु० १६।१६।६)

किं णहहु ण ल्हसियउ—आसमान फटना। (मपु० २८।२८।१२)

मत्यइ सिगइ—माथे पर सीग होना। (मपु ३२।११।१)

हुयवह मुहि पइसरिय—आग मे कूदना। (मपु० ३७।११।१३)

वायरण वियारणु जडहु जिह—मूर्ख का व्याकरण पढना।
(मपु० ६२।११।४)

कट्ठ कणए जडिउ—काठ मे सोना जडना। (मपु० ७४।११।४)

उक्ति-वैचित्र्य

कवि के काव्य के अनेक स्थलो पर हम देखते है कि अपने किसी दृढ विश्वास के कारण अथवा किसी विषय की स्थापना के प्रयत्न मे अथवा किसी पात्र विशेष के प्रति अपनी उत्कट सहानुभूति या घृणा प्रदर्शित करने मे, वह एक के पश्चात् दूसरी कल्पना करता हुआ अपने कथन को प्रभावशाली बनाता है। कवि की यह विशेषता उसकी रचनाओ मे अत्यधिक मात्रा मे विद्यमान है, किन्तु हम कुछ उदाहरण उपस्थित करके उसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

इन्द्र द्वारा शिशु जिन को देखने के प्रसग मे कवि वदनक छद के सात चरणो मे छ सुन्दर कल्पनाए करता है—

सहसक्खें दिट्ठउ परमपरु, कमलसरे ण णवदिवसयरु।
छज्जइ अण्णाणतमोहहरु, ण अकुरत्ति थिउ धम्मतरु।
ण वद्धउ सिवसुहकणयरसु, ण पुरिसरूवि सठियउ जसु।
ण सयलकलायरु उग्गमिउ, ण एक्कहि लक्खणपुजु किउ।
(मपु० ३।११।४-७)

परोपकार ही मनुष्य का मडन है, इस पर वल देने के लिये कवि अठारह विभिन्न वस्तुओ के मडन की कल्पना करता है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पक्तियाँ पर्याप्त होगी—

भुवणहु मडणु अरहतु देउ, माणिणिमुहमडणु मयरकेउ।
वेसहि मडणु वइसिउ णिरुत्तु, ववहारहु मडणु चायवित्तु।
....

किकरमडणु पहुकज्जकरणु, णरवइ मडणुपाइक्कभरणु ।
सिरिमडणु पडियग्णु णिरुत्तु, पडियमंडणु णिम्मच्छरत्तु ।
पुरिसहु मंडणउ परोवयारु, धरणिदें पालिउ णिव्वियारु ।

(मपु० ८।१५।५-१४)

भरत की अधीनता स्वीकार करने के प्रसग मे उनके भ्राताओ द्वारा कवि, मानव-जीवन मे अनिवार्यत. घटित होने वाली ग्यारह वातो का उल्लेख कराते हुए उनके प्रभाव से मुक्त व्यक्ति को प्रणाम करने का वर्णन करता है—

तं णिसुणेवि कुमारगणु घोसइ, तो पणवहु जइ वाहि ण दीसइ ।
तो पणवहु जइ सुसुइ कलेवरु, तो पणवहु जइ जीविउ सुन्दरु ।
तो पणवहु जइ जरइ ण झिज्जइ, तो पणवहु जइ पुट्ठि ण भज्जइ ।
तो पणवहु जइ वलु णोहट्टइ, तो पणवहु जइ सुइ ण विहट्टइ ।
तो पणवहु जइ मयणु ण तुट्टइ, तो पणवहु जइ कालु ण खुट्टइ ।
कहि कयतवासु ण चुहुट्टइ, तो पणवहु जइ रिद्धि ण तुट्टइ ।

(मपु० १६।७।६-१०)

धन का लोभी कैसे शोभा पा सकता है, भरत की इस चिन्ता का अकन कवि चौदह काल्पनिक चित्रो द्वारा करता है । (मपु० १६।१४-१०)

पुनः इसी प्रसग मे वह दीन को दिये जाने वाले धन की उपयोगिता छ. काल्पनिक वस्तुओ को समकक्ष रखते हुए वतलाता है—

सा राई जा ससिविप्फुरिय, सा कता जा हियवय भरिय ।
सा विज्जा जा सयरु वि णिवइ, त रज्जु जम्मिवुहयणु जियइ ।
ते वुह जे वुहहं ण मच्छरिय, ते मित्त ण जे विहुरतरिय ।

(मपु० १६।३।५-७)

अन्यत्र जिन-भक्ति का महत्व प्रदर्शित करते हुए कवि उनके नाम-स्मरण के प्रभाव द्वारा चौदह कठिन कार्यो के सहज ही सम्पन्न होने का उल्लेख करता है—

तुह णामे णउ भक्खइ अहि वि ।
तुह णामे णासइ मत्तकरि, कउ देंतु वि थक्कइ णग्ह हरि ।
तुह णामे हुयवहु णउ डहइ, परवलु गयपहरणु भउ वहइ ।
तुह णामे मंतोमियखलउ, तुट्टेवि जति पयसखलउ ।
तुह णामे सायरि तरइ णरु, ओसरइ कोट्टकंदप्पजरु ।
घत्ता—ण फलइ दुन्सिविणउ जणि अवलवणउ तिहुवणभवणुक्खिट्ठउ ।
पूरतिमणोरह गह साणुग्गह होंति देव पइं दिट्ठउ ॥

(मपु० १६।८।७-१४)

इसी प्रकार, धर्म के बिना जीवन व्यर्थ है— अपनी इस मान्यता के प्रति विश्वास प्रकट करने के लिये कवि इक्कीस कल्पनाएं उसके समकक्ष रखता है।

(मपु० २०।१५।५-११)

अपनी कल्पना की उडान मे राजा अतिबल की रानी मनोहरा का रूप-चित्रण वह बारह भाव-चित्रो द्वारा करता है, जिनको यथाक्रम छः अर्द्धालियो मे इस प्रकार व्यक्त किया गया है —

ण पेम्मसलिलकल्लोलमाल, ण मयणहु केरी परमलील।
ण चिंतामणि मदिण्णकाम, ण तिजगतरुणिसोहग्गसीम।
ण रूवरयणसधायखाणि, ण हिययहारि लायण्णजाणि।
ण घरसरहसिणि रइसुहेल्लि, ण घम्महिरुहमउणियवल्लि।
ण घरवणदेवय दुरियमति, ण घरछणससहरचित्रकति।
ण घरगिरिवासिणि जक्खपत्ति, ण लोयवसकरि मतसत्ति।

(मपु० २०।६।१-६)

जो राजा अपनी प्रजा की पीडा हरण करने का प्रयत्न नही करता, वह स्वय नष्ट हो जाता है। कवि ने पाच कल्पित वस्तुओ के दृष्टान्त द्वारा इस बात को राजा प्रजापति के मुख से स्पष्ट कराया है—

जो गोवालु गाइ णउ पालइ, सो जीवतु दुद्धु ण णिहालइ।
इट्ठ महेली जो णउ रक्खइ, सुरयसोक्खु सो कहिं किर चक्खइ।
जो मालारु वेल्लि णउ पोसइ, सा सुफुल्लु फलु केंव लहेसइ।
जो कइ ण करइ मणहारिणि कह, सो चितत्त् करइ अप्पह वह।
जो जइ सजमजत्त ण याणइ, सो णग्गउ णग्गत्तणु माणइ।

(मपु० ५१।२।१-५)

पुन जब कवि त्रिपृष्ठ वासुदेव की दुदमनीय शक्ति का परिचय देना चाहता है, तो वह चार अर्द्धालियो मे आठ असभावनाए गिना कर उसकी पुष्टि करता है—

को हालाहलु जीहाइ कलइ, को करयलेण हरिकुलिसु दलइ।
को कालु कयतहु माणु मलइ, को जलणि णिहित्तु वि णाहिं जलइ।
को गयणि जतु अहिमयरु खलइ, को णियबलेण धरणियलि तुलइ।
को फणिवइफणमणिणियरु हरइ, को पडिय विज्जु सोसेण धरइ।

(मपु० ५२।२।६-६)

और पुन दुर्व्यसन मे लिप्त पुत्र को जब वह कुल का दूपण बतलाना चाहता है तो उसी प्रकार की तेरह अन्य वस्तुओ के दूपणो को वह सात अर्द्धालियों मे प्रस्तुत करता है—

गुणदूसणु अप्पपसंसणउं, तवदूसणु मिच्छादसणउ ।
णडदूसणु णीरसपेक्खणउ, कइदूसणु कव्वु अलक्खणउ ।
घणदूसणु सढखलयणभरणु, वयदूसणु असमजसमरणु ।
रइदूसणु खरभासिणि जुवइ, सुहिदूसणु पिसुणु विभिण्णमइ ।
सिरिदूसणु जडु सालसु णिवइ, जणदूसणु पाउ पत्तकुगइ ।
गुरुदूसणु णिक्कारणहसणु, मुणिदूसणु कुसुइसमब्भसणु ।
ससिदूसणु मिगमलु मसिकसणु, कुलदूसणु णदणु दुव्वसणु ।

(मपु० ६६।७।२-८)

परन्तु इस प्रवृत्ति का सबसे सुन्दर उदाहरण उस स्थल पर प्राप्त होता है, जब कवि नृत्य करती हुई नीलजसा की मृत्यु का वर्णन कल्पना के उन्नीस भाव-चित्रो द्वारा प्रस्तुत करता है । इसका कुछ अश अलकार-विधान के अन्तर्गत उद्धृत किया जा चुका है, अत पुनरावृत्ति अनावश्यक होगी । (मपु० ६।६।३-११)

कवि की इस विशेषता पर विचार करते हुए कही-कही हमे ऐसे स्थल भी प्राप्त होते हैं जहाँ भावावेश मे आकर उसने कल्पित वस्तुओ के समान-धर्मी होने की ओर उचित ध्यान नही दिया । इस कारण उक्ति के अपेक्षित प्रभाव मे कुछ न्यूनता सी आई प्रतीत होती है । उदाहरण के लिये एक प्रसंग मे जिन की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये कवि ने तेरह कल्पित वस्तुओ का उल्लेख किया है । यहाँ जिन को सूर्य, चन्द्र, मेरु, सिंह आदि से श्रेष्ठ बतलाने के पश्चात् हाथी तथा व्याघ्र से श्रेष्ठ कहना बहुत उचित नही प्रतीत होता ।[1] इसी प्रकार भरत के बाण के लिये जहाँ काल दड, प्रलयाग्नि, गुण-च्युत कुशील मनुष्य आदि कल्पनाए एक प्रसग मे रखी गई हैं, वहाँ उसके लिये सुजन का अतरग, परमज्ञान, शुक्ल-ध्यान जैसी उज्ज्वल कल्पनाएँ खटकती सी हैं ।[2] परन्तु ऐसे स्थल इतने कम हैं कि उसके समग्र काव्य को देखते हुए, उन्हे नगण्य ही कहा जायेगा ।

कवि की छद योजना

काव्य के कला-पक्ष मे जहाँ अलकार-विधान द्वारा अर्थ तथा शब्दों का चमत्कार उपस्थित करके उसके गौरव की वृद्धि की जाती है, वहाँ छद द्वारा कविता को नाद एवं लय की गति मे बद्ध करके उसे अधिक भावग्राही तथा सवेदनापूर्ण बनाया जाता है । अनुकूल छद पाकर कवि की कल्पना अत्यन्त आकर्षक रूप धारण कर लेती है ।

अपभ्रंश काव्य मे संस्कृत-प्राकृत की परम्परागत काव्य-रूढियो का नितान्त अभाव तो नही है, परन्तु उसके कवियो ने उन रूढियों का अंधानुकरण न

1. मपु० ४।३।८-१० 2. मपु० १८।१६

का उल्लेख भी हम ऊपर कर चुके हैं ।[1] वस्तुतः इस छन्द के प्रयोग मे स्वयभू अत्यन्त प्रसिद्ध थे ।

स्वयभू छन्दस् के अनुसार कडवक की रचना पद्धडिया के आठ यमको अथवा सोलह पदो (चरणो) मे होनी चाहिए । स्वयभू ने अपने काव्य मे सामान्यत इसी नियम का पालन किया है, परन्तु उनके पश्चात् यह नियम शिथिल सा हो गया । पुष्पदत आदि परवर्ती कवियो ने स्वेच्छानुसार लवे-लबे कडवक रचे है ।

कडवक के अन्त मे घत्ता रखने की पद्धति प्राय सभी अपभ्र श कवियो मे परिलक्षित होती है । इसके द्वारा कडवक के वर्णनीय विपय की परिसमाप्ति की सूचना मिलती है । घत्ता मे अनेक प्रकार के छन्द प्रयुक्त होते हैं । हिन्दी के प्रवध काव्यो मे कुछ चौपाइयो के पश्चात् दोहे का घत्ता रखा जाता है । यह पद्धति अपभ्र श से ही वहाँ पहुँची है ।

कडवक मे इस प्रकार प्रयुक्त होने वाले तीन प्रकार के छदो के अनुसार हम कवि की समस्त छद-योजना को निम्नलिखित भागो मे विभाजित करके उनका विवेचन करेंगे—

१—कडवक के आदि के छद

२ — कडवक के मध्य भाग के छद

३—कडवक के अत के घत्ता छद

१—कड़वक के आदि के छद

कवि की रचनाओ मे इस प्रकार के छदो की नियमित योजना नही है । महापुराण की १०२ सधियो मे से केवल २४ सधियो मे, णायकुमार चरिउ की ९ मे से २ मे तथा जसहर चरिउ की ४ सधियो मे से २ संधियों मे ऐसे छद प्राप्त होते हैं । ये छद सधि विशेप के प्रत्येक कडवक के आदि मे प्राप्त होते है ।

(१) जंभेट्टिया (मात्रिक)—

इस छद का प्रयोग मपु० की सधि ४ में किया गया है । इसमे ९ मात्राए तथा ४ पद होते हैं । अत प्राय. रगण से होता है, परन्तु जगण वर्जित है । तुकान्त का क्रम इस प्रकार है—क । ख ग । घ

यह छद स्वयभू के पउमचरिउ (सधि ४८) मे भी प्राप्त होता है, परन्तु वहाँ इसके ८ चरण रखे गये हैं तथा प्रथम ४ चरणो के पश्चात सर्गात्मक शब्दावली भी प्राप्त होती है । पुष्पदंत ने केवल १९ वें कडवक मे ८ चरण रखे है ।

उदाहरण— ता कुलकारिणा णायविणासिणा ।
सुहडलसाहिणा भणिय णाहिणा ॥ (मपु० ४।८।१-२)

---

1. देखिए ऊपर पृ० २१

(२) रचिता (मात्रिक)—

यह छद मपु० की सधि ५ मे प्राप्त होता है। इसमे दो पद होते है तथा प्रत्येक पद मे सामान्यत ७, ६, १२ मात्राओ पर यति होती है। इस प्रकार कुल २८ मात्राए होती है। अत प्राय रगण से होता है, परन्तु कडवक १६ तथा २० के अत मे सगण आया है। तुकान्त क । ख है।

उदाहरण —घणयणणयणवयणकरकमयलमयलावयवमोहिया ।

समियमविमयचिरसविमवेडणि मीलमिरीपसाहिया । मपु० "।१४।१-२

(३) मलयविलसिया (मात्रिक)—

कवि ने मपु० सधि ६ मे इस छद का प्रयोग किया है। यह ४ पद का छद है तथा प्रत्येक पद मे ८ मात्राए होती हैं। अत मे यगण, नगण, सगण सभी मिलते हैं। तुकान्त—क । ख, ग । घ

उदाहरण—कचणघडियइ मणिगणजडियइ ।

हरिवरधरियइ पहविप्फुरियइ ॥ मपु० ६।१।३-४

(४) खडय (ग्वडक) मात्रिक—

यह छद मपु० सधि ७ मे प्रयुक्त हुआ है। ४ पदो वाले इस छद के प्रति पद मे १३ मात्राए होती है। अत मे रगण तथा सगण दोनो ही प्राप्त होते ह। तुकान्त—क । ख, ग । घ

उदाहरण—मणमेत्ते वावारए एसो कोम ण कीरए ।

सासयमुहओ मवरो होह होमि दियवरो ॥ मपु० ७।१५।१-२

(५) आवली (मात्रिक)—

इसका प्रयोग मपु० सधि ८ मे प्राप्त होता है। इसमे ४ पद तथा प्रति पद मे २० मात्राए होती हैं। अत मे रगण आता है। तुकान्त—क । ख, ग । घ

उदाहरण —ककणहारदोरकडिसुत्तभूसिया

णिच्च गवकूनमल्लोहवासिया ।

लच्छि भु जिउ णरा देवयाणिय

सोक्ख ज लहति त केण माणिय ॥ मपु० ८।१३।१-४

(६) हेला (मात्रिक)—

मपु० की ६, ७४ तथा ७७ सधियो मे यह छद प्रयोग किया गया है। इसके दो पद होते हैं तथा प्रति पद मे २२ मात्राए होती है। अत मे यगण आता है। तुकान्त—क । ख

पउम चरिउ की १७ तथा २५ सधियो मे इस छद का प्रयोग हुआ है, परन्तु वहाँ इसका नाम हेला दुवई है। हेमचद्र ने छंदोनुशासन के खजक प्रकरण मे इसे चार पदो का छद कहा है। स्वयभू तथा पुष्पदत ने इसे दो ही पदो के रूप मे उपस्थित किया है।

उदाहरण—ता दुंदुहिरवेण भरियं दिसावसाणं।
भणिय सुरवरेंहि भो साहु साहु दाणं ॥ मपु० ६।११।१-२

(७) दुवई अथवा द्विपदी (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० सधि १०, १४, २३, ५२, ५४, ५६, ७३, ७८,
८५, ८७, ८८, ८६, ६० तथा ६६
णाय० सधि ३ तथा ४
जस० सधि ३ तथा ४

इसके नाम से ही प्रकट होता है कि यह दो पदो का छद है। प्रति पद मे २८ मात्राएं होती हैं। कवि ने कडवक के आदि के छदो मे सबसे अधिक इसी का प्रयोग किया है। पउम चरिउ की १३, ४० तथा ५१ सधियो मे यही प्रयुक्त हुआ है। इसके अत मे अधिकतर रगण हो आता है। परन्तु कही-कही सगण तथा नगण भी प्राप्त होते हैं। संधि ७८ (३) मे यगण मिलता है। तुकान्त—क। ख

उदाहरण—जय जय सिद्ध बुद्ध सुद्धोयणि सुगय कुमग्गणासणा।
जय वइकुंठ विट्ठु दामोयर हयपरवाइवासणा ॥ मपु० १०।६।१-२

(८) आरणाल (मात्रिक)—

इस छन्द का प्रयोग मपु० सधि १६ मे हुआ है। इसमे दो पद होते हैं तथा प्रति पद ३० मात्राए। यति प्राय. १२, ८, १० मात्राओ पर प्राप्त होती है। इसका आन्तरिक तुकान्त इस प्रकार है—क। ख, घ। ङ, ग। च

पउम चरिउ की सधि ५३ मे भी यह छद मिलता है।

उदाहरण—वरकेदारदारए सालिसारए कसणववलपिच्छा।
अणुभ्रण भ्रणियघणकण कणिसमणुदिणं जहिं चुणति रिछा। मपु० १६।१३।१-२

(९) मलयमजरी (मात्रिक)—

मपु० सधि ७६ मे इस छंद का प्रयोग हुआ है। इनमें नियमित रूप मे दो पद मिलते हैं तथा प्रत्येक पद मे ३० मात्राएं (१०, १०, १० की यति से) होती है। आरणाल की भांति इसका भी अत यगण से होता है। परन्तु दोनो मे भेद यह है कि इसमे प्रत्येक यति के अत मे यगण है और आरणाल मे रगण। केवल कडवक ६ का अत सगण से हुआ है। तुकान्त—क। ख, घ। ङ, ग। च

उदाहरण—अट्ठिओ रुद्दो विविहतूरसद्दो भग्गवइरिवीरो।
चलियसाहणाण तुरयवाहणाण कलयला गहीरो ॥ मपु० ७६।१।३-४

२—कडवक के मध्य भाग के छद

प्रसंग तथा रुचि के अनुसार कवि ने इस वर्ग मे मात्रिक एवं वर्णवृत्तों का प्रयोग किये हैं, परन्तु इनमें तीन ही प्रधान हैं। वे हैं—पद्धडिया, वदनक तथा पारणक। सर्व प्रथम हम इन्हीं का विवेचन करेंगे।

४७ (२-३, १०-१३, १५-१६ , ४६ (१-१४), ५१ (१-२, ४-१७), ५४ (१-४, ६-६, ११-१८), ५७ (१-३२), ६० (१-३२), ६३ (१-६, ८-११), ६५ (२-२४), ७१ (१-११, १४-२१), ७६ (१-६ ८-१०), ७८ (१-५, ७-८, १०-११, १३-१४, १६, २०-२६), ८० (२-६, ८-१७) ८३ (१-४, ६-६, ११-२३), ८५ (१-८, १२-१५, १७-२५), ८७ (१-२, ४-१७), ८८ (१-१०, १२, १५-२४), ६० (१-१६) ६२ (१-२१), ६४ (१-१२), ६५ (२-१४), ६८ (१-२०), १०० (१-१०) तथा १०२ (१-१४)।

णाय० सधि ३ (१-१७), ५ (१-३, ६-१३), ७ (१-४, ६-१२, १४-१५), ६ (१-१५, १६, २१-२५)।

जस० सधि २ (४), ३ (४-१२, १४, १७-२६, २८-४१), तथा ४ (२३-२४, २७, ३१)।

कवि की छद-योजना मे पद्धडिया के पश्चात् वदनक का ही सबसे अधिक प्रयोग हुआ है। १६ मात्राओ वाले इस छद की गण-योजना ६,४,४,२ है। अत मे अधिकतर दो ह्रस्व रखे गये हैं।

अडिल्ला इसका एक विशेष रूप ही है, परन्तु याकोबी तथा आल्सडार्फ इसे अडिल्ला ही कहते हैं। हेमचन्द्र ने अवश्य ही इसका नाम वदनक दिया है।[1] स्वयभू छदस (४।३२। तथा प्रो० वेलणकर द्वारा सपादित कवि दर्पण (२।२१) से भी इसके वदनक नाम की पुष्टि होती है। डॉ० हीरालाल जैन ने णायकुमार चरिउ मे प्रयुक्त इस छद को अलिल्लह बतलाया है।[2]

कवि की सभी रचनाओ का अत इसी छद से हुआ है। तुलसी ने कुछ अन्तर के साथ चौपाई के रूप मे इसका प्रयोग किया है।

उदाहरण—

णिविडसधिबधइ ण कव्वइ देविहि जण्हुयाइ अइमव्वइ।
ऊरुयखभ णराहिवदमणहूं, तोरणखभाइ व रइभवणहूं।
जेण समुरणरु तिहुयणु जित्तउ, कामतच्चु ज देवहि वुत्तउ।
दिण्ण थत्ति तहु सोणीबिवहूं, किं वण्णमि गरुयत्तु णियवहूं। (मपु० २।१५।६-१७)

(१२) पारणक (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० सधि ३ (१-२, ३-४, ६, ८, ११-१३, १५-१८, २१), ६ (१-६), १३ (२-८, ११), १५ (१-३, ५-८, ११-२४), १६ (१-१३), २१ (१-५, ७-१५), २३ (४-२०), ३१ (२-२६), ३४ (१-५, ७-६, ११-१२), ३६ (१-१६), ४० (३, ६-११, १३-१५), ४५ (३-८, १२-१३), ५३ (१०), ५५ (२-११), ५६

१. पउम चरिउ, डॉ० भायाणी, भूमिका, पृ० ६६
२. णायकुमार चरिउ भूमिका पृ० ६०-६१

(७,१८), ६२ (१-२३), ६७ (१६), ६६ (१-४, ६-१६, २१-३१, ३३-३५), ७२ (२, ४, ७-१२), ७४ (२-१६), ८२ (१-१२, १४-१८) तथा ६७ (१-६, ८)।

णाय० सधि २ (१, ४, ६-१०, १२-१४), ६ (१-५, ७-१२, १४-१५, १७)।

जस० सधि २ (२, ५-१२, १४-१५, १८-२४, २५ पक्ति १-२, २८-३७)।

कवि के प्रधान छदो मे पारणक का तृतीय स्थान है। इस छद मे १५ मात्राए होती है। इसके सबध मे विद्वानो मे बडा मतभेद है। इसका कारण यह है कि अपभ्र श छदो मे अतिम गण के अतिम वर्ण को हस्तलिखित ग्र थो की अस्पष्टता के कारण कही लघु और कही दीर्घ पढा जाता है। पद्धडिया तथा पारणक मे अतर इतना कम है कि पद्धडिया के अतिम गण का प्रथम लघु हटा लेने तथा मध्य मे गुरु के स्थान पर दो लघु रख देने से पारणक बन जाता है। इसकी गण योजना इस प्रकार ४, ४, ४, ३ होती है।

डॉ० हीरालाल जैन ने णायकुमार चरिउ मे प्रयुक्त इस छद को १६ मात्राओ का ही कह कर पादाकुलक नाम दिया है।[1]

उदाहरण—क वि अलयतिलय देविहि करइ, क वि आदमणु अग्गइ धरइ।
क वि अप्पइ वररयणाहरणु, क वि चिप्पइ कुकुमेण चरणु।
क वि णच्चइ गायइ महुरसरु, क वि पारभइ विणोउ अवरु।
(मपु० ३।४।१-३)

(१३) करिमकर भुजा (पद्धडिकार्द्ध)—

प्रयोग—मपु० सधि २२ (१६), २६ (३, ६), ३८ (२२), ५४ (५, १०), ५६ (१३), ७८ (६, १६। ८० (७), ८६ (१, ७), तथा ६६ (६)।

८ मात्राओ का यह छद पद्धडिया का अतिम अर्द्ध भाग है। पउम चरिउ की सधि २७ ६ , ५१ (१४) तथा ४० (७) मे भी यह छद मिलता है।

उदाहरण—ता कट्ठभारु ण दुक्खभारु।
महियलि थिवेवि णरु मइ णवेवि। (मपु० २२।१६।१-२)

इसका अन्य नाम मधुभार भी है।[2]

(१४) करिमकर भुजा (वदनकार्द्ध)—

प्रयोग—मपु० सधि ४ (७), ८ (४), १५ (६,१०), २० (१०), २३ (३), २८ (२२), ३१ (१), ३५ (२), ३८ (१), ३६ (१८), ४१ (४), ४२ (१), ५२ (३, १६, २०), ५३ (७), ५५ (१), ५६ (६, ११, १२), ६१ (१), ६३ (७), ६७ (१४), ६८ (४), ७४ (१), ७८ (१२), तथा ८५ (६, ११)।

णाय० सधि ५ (४) तथा ६ (६)।

---

१ णाय० भूमिका पृ० ५६
२. छद प्रभाकर पृ० ४३

यह छद भी ८ मात्राओ का है। इसका निर्माण वदनक के अतिम अर्द्ध भाग से होता है। डॉ० हीरालाल जैन ने इसे मधुभार ही कहा है।[1]

उदाहरण— ससिरयणमए परिभमियमए।
उववणगहिरे घणविहुरहरे।
खगणियरहरे सुरसरिसिहरे। (मपु० १५।६।१-३)

(१५) दीपक (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० सधि ३ (२०), ८ (८), ६ (२), ११ (२४, ३३), १२ (३, ५), १३ (१), १५ (४), २४ (१२), २६ (६, १५, १३), २८ (३६), ४० (२), ४२ (३, ५, १०), ४५ (२), ४६ (१३), ४७ (१४), ४८ (७), ५२ (२३), ५६ (८), ६१ (२), ६६ (३२), ७८ (१८), ८२ (१३) तथा ६४ (१३, १६, २०)।

णाय संधि २ (२), ५ (५) तथा ७ (४)।

जस० सधि २ (१६)।

यह दस मात्राओ का छन्द है। छन्द प्रभाकर (पृ० ४४) मे दैशिक जाति के दीप नामक छन्द का लक्षण इससे मिलता-जुलता है। वहाँ इसके अत मे लघु होने का निर्देश किया गया है। कवि के काव्य मे कही-कही दीर्घ अत भी प्राप्त होता है।

उदाहरण—तालेहिं सखेहिं अण्णहिं असखेहिं।
वहिरियदसासेहिं जयतूरघोसेहिं।
वहुवयणु वहुणयणु करपिहियपिहुगयणु। (मपु० ३।२०।६-८)

(१६) शिव (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० सधि ४२ (६) तथा जस० सधि १ (१०)।

इस छन्द मे ११ मात्राए होती हैं। छन्द प्रभाकर (पृ० ४४) मे इसका लक्षण वतलाते हुए कहा गया है कि इसकी तीसरी, छठी तथा नवी मात्रा लघु रहती है। अंत मे सगण, रगण अथवा नगण मे से कोई भी आ सकता है। कवि ने इस छद के अत मे रगण ही रखा है।

उदाहरण—पाविऊण पट्टणं देवि तिप्पयाहिण।
णपि रायमदिर णिम्मिऊण णिब्भरं। (मपु० ४२।६।१-२)

(१७) उल्लाला (मात्रिक)—

प्रयोग—मपु० सधि २६ (५), ४० (१), ४२ (१२), ४८ (१), ५३ (१,६) ५८ (५), ५६ (१७), ६७ (१-१०), ७२ (६), ८० (१), ८१ (१) तथा ६३ (१)।

---

१. णाय० पृ० ६०

यह १३ मात्राओ का छद है। छद प्रभाकर मे दिये हुए इस छद के लक्षण के अनुसार (पृ० ४६), इसके अत मे लघु-गुरु का कोई नियम नहीं है, तथापि ग्यारहवी मात्रा लघु ही रहती है।

उदाहरण—तहि जि पईहरयोरकर मदूनाडय जाय णर।
पत्तभोयभूमीभवेण वज्जजघगाज्जवेण।
समहिलेण अच्छतएण नुग्गरुगिरि पेच्छनएण। (मपु० २६।५।१-३)

(१८) हाकलि—

प्रयोग—मपु० सधि ४० (४)

यह छद १४ मात्रा का है। छद प्रभाकर के अनुसार इसमे तीन चतुष्कल के पश्चात् एक गुरु आना आवश्यक है। कवि के छन्द इस नियम के अनुरूप ही है।

उदाहरण—करिण वगरु केसरिण लच्छि दाम नरोनण।
भमजुय कुभजुय च वन सायरसमसिणमसन्न। (मपु० ४०।८।१-२)

(१९) विलासिनी—

इस छद मे १६ मात्राए होती है। इसकी गण योजना इस प्रकार है—३, ३, ४, ३, लघु-गुरु। ८ मात्राओ के पश्चात् सामान्यतः यति रखी जाता है। पउम चरिउ मे यह छद दो स्थानो पर प्रयुक्त हुआ है (२७।१४, ४६।२)।

प्रयोग—मपु० सधि ८ (१०), २१ (११), २८ (२७), ३४ (१०), ४१ (२),
४६ (७), ४७ (७), ५१ (३), ५३ (६), ५६ (८, १६), ६४
(४), ६५ (१), ६७ (१३, १५), ७० (१५), ७१ (१२, १३),
७२ (५), ७७ (८), ८६ (८), ८८ (११), तथा ६४ (१६)।
णाय० सधि ४ (१०) तथा ८ (१८)।
जस० सधि १ (१२-१४, १६) तथा २ (५, ३)।

उदाहरण—पवणुद्धुयधयमालाचवल, हिमकुदसमाणगुणधवल।
गायणगणगाइयजिणधवल, सिद्धतपढणकलयलमुहल। (मपु० २३।१।५-६)

(२०) मदनावतार—

प्रयोग—मपु० सधि ३ (७), ३ (१६), ६ (६, १७), १४ (११), १७ (३),
२७ (८), ४० (५), ४२ (२, ७, ८), ४८ (२१), ५२ (२२), ५३
(८), ६७ (१२), ६६ (५), ७५ (८), ७७ (१२), ७८ (१७),
तथा ९४ (१७, २३)।
णाय० सधि ७ (१३) तथा ६ (२०)।
जस० सधि १ (१६), २ (१७), तथा ३ (१३, २७)।

यह २० मात्राओ का छद है। इसकी गण-योजना ५, ५, ५, ५ है। कवि ने इसे दो रूपो मे प्रयुक्त किया है। प्रथम रूप मे दीर्घ-लघु-दीर्घ गण की चार

वार आवृत्ति मिलती है। दूसरे रूप मे चारो गण दीर्घ-दीर्घ-लघु रहते है। दोनो में प्रथम तीन गणो के दीर्घ वर्णो के स्थान पर दो ह्रस्व भी प्राप्त होते हैं।

पउम चरिउ की सधि ३ (१), ९ (१२), २४ (२), ४६ (४, ६, १०) मे इस छंद का प्रयोग हुआ है।

उदाहरण– (१) हारणोहारमुरसरितुमारप्पहो, अद्धयदाहविद्दुमविहाणिहणहो।
गलियकरडयलनयकसणगडत्थलो, अमरगिरिसिहरसकासकुभत्थलो।
(मपु० ९।१७।३-४)

(२) सुइघोयदेवगणिवसणणियत्थेण, जलभरियदलपिहियभिंगारहत्थेण।
परिदिण्णधाराजलुद्धूमतावेण, सद्धम्मसब्भावसुप्पण्णभावेण।
(मपु० ९।९।३-४)

(२१) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० सधि ५९ (६) तथा ६८ (७)।

इस छद मे दो पद है। प्रथम मे १३ तथा द्वितोय मे ७ मात्राए हैं। इस प्रकार कुल २० मात्राए हैं। प्रथम पद उल्लाला के समान है। अत का गण अनिवार्यत लघु ही रहता है।

उदाहरण– जहिं णरणाह वि होंति गय कालेण हय।
तहिं किं किज्जइ सिरिघरणु जिणतवचरणु।
किज्जइ काणणि पइसरिवि थिरु मणु धरिवि।
(मपु० ६८।७।१-३)

(२२) प्लवगम—

प्रयोग—मपु० सधि ४६ (३)।

इस छद मे ८, १३ की यति से कुल २१ मात्राएं हैं। छद प्रभाकर (पृ० ५७) मे वर्णित इस छद के लक्षण के अनुसार इसके आदि मे गुरु तथा अत मे जगण के साथ गुरु होना चाहिए, यथा—"ISIS" परन्तु कवि ने कही-कही आदि मे लघु मात्रा रख दी है। सभव है ग्रथ के प्राचीन प्रतिलिपिकारो की असावधानी से यह मात्रा-भेद हो गया हो।

उदाहरण—गलियदाणचलजलवलोलिरभिंगय,
पेच्छइ विसालच्छि पमत्तमयंगय।
इट्ठगिट्ठतणुफसणकटइयगय,
वसहममलथलकमलपसाहियसिंगयं। (मपु० ४६।३।१-४)

(२३) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० सधि ५३ (८, ९, १२) तथा ५९ (१०, १४-१५), ६७ (११)।

यह २१ मात्राओ का छद है। इसमे १२, ९ की यति प्राप्त होती है। अतिम गण की सभी मात्राएं लघु (नगण) रहती हैं।

उदाहरण—पुज्जिवि वंदिवि तिजगगुरुणिवराणियहि
णेयर विमहर सुररमणिसमाणियहि ।
तणयालोयणतुट्ठियहि तुच्छोयरिहि
आणिवि देउ समप्पियउ करि मायरिहि । (मपु० ५३।८।१-२)

(२४) राम—

प्रयोग—मपु० संधि ४६ (१०) ।

यह छंद २२ मात्राओं का है। इसमें ८, ८, ६ पर यति होती है। अंत में गुरु अवश्य ही रहता है। यद्यपि कवि ने छंद का नाम नहीं दिया, परन्तु छंद प्रभाकर (पृ० ५६) में दिये हुए राम के लक्षण इस छंद में मिलते-जुलते हैं। अतः इस छन्द का रास नाम उपयुक्त होगा।

उदाहरण— लोयालोयविलोयणणाण सिरिणाह
थुणउ सियको अवको सवको मुणिणाह ।
ससहरकंत पयडियदंत कंकाल
हत्थे सूल खट्टंगवाल करवाल । (मपु० ४६।१०।१-२)

(१५) जग—

प्रयोग—मपु० संधि १३ (६) तथा ५६ (४)। जस० १ (१५)

इस छंद में १०, ८, ५ की यति से २३ मात्राएँ प्राप्त होती हैं। इनके अंत में क्रम से भगण, भगण तथा नगण हैं। इस प्रकार इसके दोनों पदों का तुक क। ख, घ। ङ तथा ग। च है।

यद्यपि कवि ने इसके नाम का निर्देश नहीं किया है, परन्तु छंद प्रभाकर (पृ० ६२ में रौद्राक समूह के छंदों में जग छंद के लक्षण इसके अनुरूप हैं। केवल अंतर इतना है कि जग में अंत में नन्द (दीर्घ-गुरु) रखने का विधान है और कवि ने उसके स्थान पर तीन ह्रस्व रखे हैं। अन्य नाम के अभाव में इसे जग कहना ही उपयुक्त लगता है।

उदाहरण—अवर वि सिरिदामइ दिट्ठिहि सोम्मइ ढोइयइं
णहि पडुरतवइ ससिरविबिंवइ जोइयइं ।
दुइ मीण रईणड दुइ मंगलघड सरयसरु
जलणिहि जलभीसणु सेही रासणु सक्कघरु । (मपु० ५६।४।१-४)

(२६) रोला—

प्रयोग—संधि ४१ (२), ४८ (६)

इस छंद के प्रथम चरण में ११ तथा द्वितीय में १३ मात्राएं हैं। इस प्रकार यह छंद रोला के लक्षणों की पूर्ति करता है। इसके साथ ही यह वर्णवृत्त भी जान पड़ता है, क्योंकि उसमें नियमित रूप से प्रथम चरण में ८ तथा द्वितीय में ९ वर्ण

प्राप्त होते हैं। इसकी गणयोजना इस प्रकार है—ज स ज स य ल ग। छंद प्रभाकर (पृ० १८३) में पृथ्वी नामक वर्णवृत्त का भी यही लक्षण है।

उदाहरण—तहिं विजयणदिरे णिवणिहेलणे सुंदरे।
णयगि सियणेत्तिया रयणमचए सुत्तिया।
णिएइ छउओएरी सिविणए इमे सुंदरी। (मपु० ४८।६।१-३)

(२७) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० संधि ५६ (२)

इस छंद में दो पद मिलते हैं। प्रत्येक पद में ८, ८, ८ की यति के अनुसार कुल २४ मात्राएँ हैं। अंत में भगण नियम से प्राप्त होता है।

उदाहरण—
धावइसइ पुव्वदिसायलि पुव्वविदेहइ अकुरपल्लवसोहियपायवि माहवगेहइ।
सीयातीरिणिदाहिणतीरइ वच्छयदसेइ पुरिहिसुसीमहि दसरहुराणउजयसिरि सेसइ।
(मपु० ५६।२।१-२)

(२८) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० संधि १३ (१०)

इस छंद के प्रथम चरण में १६ तथा द्वितीय में ८ मात्राएँ प्राप्त होती हैं। इसके विषय में विशेष बात यह है कि कवि ने इसकी रचना पद्धडिया (क्रम सं० १०) की सहायता से की है। छंद का प्रथम चरण पद्धडिया का है तथा द्वितीय उसका अर्द्ध भाग है।

पउम चरिउ (१७।८) में भी ऐसा ही छंद है, परन्तु उसके पदों का क्रम हमारे कवि के छंद से विपरीत है:

उदाहरण— पुव्वावरेसु परिसठियाइ वइरट्ठियाइ।
वेयड्ढगिरिहिं ओइल्लयाइ सुर्धणिल्लयाइ।
चडाइ मेच्छखंडाइ ताइ दोसाहियाइ।
(मपु० १३।१०।२-४)

(२९) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० संधि ५६ (१)।

इस छंद के दोनों चरणों में क्रमशः १६ तथा १० मात्राएँ हैं। अंत में दीर्घ है। छंद प्रभाकर (पृ० ६६) में महावतारी समूह के विष्णुपद छंद के लक्षण प्रस्तुत छंद के अनुरूप जान पड़ते हैं।

उदाहरण— लच्छीरामालिंगियवच्छं उण्णयसिरिवच्छं।
दिव्वभुणि छत्तत्तयवंतं कंतं भयवंतं।
(मपु० ५६।१।३-४)

(३०) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० २ (१३), ५९ (१९) तथा ७६ (७)।

इस छद मे दो पद हैं। प्रत्येक पद मे ७, ९, १२ की यति से कुल २८ मात्राए हैं। अत मे अधिकतर रगण ही प्राप्त होता है।

उदाहरण—ता जरमरणग्गइ आयण्णिवि मण्णिवि तणु व महियलु।
देवकुमारणामे सुइ अप्पिवि सतुग्ग नमयगन्न। (मपु० ५९।१९।१-२)

(३१) शोकहर—

प्रयोग—मपु० ४१ (९) तथा ५२ (२५)।

इस छद मे ८, ८, ८, ६ पर यति है। इस प्रकार कुल ३० मात्राएँ हैं। अत मे दीर्घ मिलता है। इसका लक्षण छद प्रभाकर (पृ० ७३) मे महातैथिक समूह के अतर्गत वर्णित है।

उदाहरण—असहतेण रिउणा दिण्ण ससवगनूल दुन्नयण।
काउ वयण डमियाहरण भूभगुरतरिग्गणयण। (मपु० ५२।२५।३-४)

(३२) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० २३ (२)

इस छद मे दो पद होते हैं, परन्तु पूरे कडवक मे मात्राओं का क्रम छद प्रति छद परिवर्तित हो जाता है। जैसे प्रथम छद के दोनो चरणों मे पृथक् पृथक् १६, ८, ८ के विराम से ३२ मात्राएँ प्राप्त होती हैं, किन्तु दूसरे छद मे १४, ८, ८ के विराम से ३० ही मात्राएँ हैं। इसी प्रकार आगे के छदो मे भी कुछ न कुछ अन्तर है। प्रत्येक विराम के अत मे सगण अथवा नगण है। इस प्रकार आन्तरिक तुक का क्रम यह बनता है—क। ख। ग, घ। ङ। च

उदाहरण—(१) सेयत्तें णिज्जियमियमरय णिवसियविरय वाग्गियणग्य।
पत्ता गाया त जिणहरय दुक्कियहरय सुभवियवरय।
(२) दिट्ठो लिहिओ तेहि पडो फसइ घणउो मणि णच्चियओ।
त पेच्छिवि अहिलसियसिवो भणु को ण णिवो रोमचियओ।
(मपु० २३।२।३-६)

(३३) सुधी—

प्रयोग—मपु० ४० (१२) तथा ४५ (९)।

यह वर्णवृत्त है। इसमे एक जगण के साथ गुरु मिलता है। छद प्रभाकर (पृ० ११९) मे प्रतिष्ठा समूह के अतर्गत सुधी छद का लक्षण भी यही है। अत छद का यही नाम दिया जाता है।

उदाहरण—सुहावह गईवह।
रविप्पह गुणप्पह।
थिर थिय सुय सुय। (मपु० ४५।९।१-३)

(३४) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ८५ (१६)

यह ५ मात्राओ का छद है। अन्त मे लघु रहता है।

उदाहरण—(१) जलु गलइ झलझलइ।
दरिमग्गइ सरिसरइ। (मपु० ८५।१६।३-४)
(२) तट्टाइं णट्टाइं।
कायरइं वणयरइं। (मपु० ८५।१६।२३-२४)

(३५) यम—

प्रयोग—मपु० २ (३)

छद प्रभाकर (पृ० १२१) के अनुसार प्रस्तुत छद के लक्षण सुप्रतिष्ठा समूह के यम नामक छद के अनुरूप हैं। इसमे नगण के साथ दो लघु रखने का नियम है। कवि ने इसी कडवक की २६ पक्तियो के पश्चात् इस छद का दुगुना कर दिया है।

उदाहरण—जय सुमण जय गयण—
चुयसुमण— पहगमण।
जय चलियचमरिरुह ज्य ललियसुरकुरुह। (मपु० २।३।२८-३०)

(३६) मालती—

प्रयोग—मपु० सधि ८६ (६) तथा णाय० ९ (२१)।

षट्वर्ण के इस छ द मे दो जगण का क्रम होता है। गणना करने से इसमे नियमित रूप से ८ मात्राए प्राप्त होती हैं। अत. यह मात्रिक भी है। छद प्रभाकर (पृ० १२२) मे गायत्री समूह के मालती छद का लक्षण ठीक इसके अनुरूप है, इस कारण यही नाम उपयुक्त प्रतीत होता है।

उदाहरण—मउल्लियगड्डु पसारियसुंडु।
सरासणवसु सयापियपसु। (मपु० ८६।६।१-२)

(३७) समानिका—

प्रयोग—मपु० सधि ४८ (८) तथा ९४ (१८)

इसके प्रत्येक पद मे ७ वर्ण होते हैं। प्रति चरण रगण, जगण तथा एक गुरु के द्वारा रचा जाता है।

उदाहरण—सव्वदोसवज्जिओ सव्वदेवपुज्जिओ।
सव्ववाइदूसणो सव्वलोयभूसणो।
सव्वकम्मणासणो सव्वदिट्ठिसासणो। (मपु० ९४।१८।१-३)

(३८) सोमराजी—

प्रयोग—मपु० ९ (६), २१ (६), २२ (६), २६ (८), ३८ (१२), ४५ (११), ४७(१,८), ५२ (१८), ६३ (८), ७३ (९), ९१ (१२), ९४ (१४) तथा ९५ (१)।
णाय० २ (३), ६ (१३) तथा ९ (१७)।

इस छद की रचना दो यगण द्वारा होती है। इसका अन्य नाम छगनारो भी है।

उदाहरण—अणिंदो गइ दो विसिदो मइ दो।
महासोक्खखाणी सई माहवाणी।
भमतालिसाम णव पुप्फदाम। (मपु० ६४।१४।१-३)

(३६) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० १४ (३)।

इस छद के प्रत्येक चरण मे ६ वर्ण तथा रगण और यगण है।

उदाहरण—छड्डियावलेवो इन्दियघिसेवो।
रिद्धिवुद्धिवतो आगओ तुरतो।
भूयभत्तिकामो तग्गिरिंदणामो। (मपु० १४।३।३-४)

(४०) प्रमाणिका—

प्रयोग—मपु० ६ (३), २३ (२१), २५ (८), २८ (१७), ४४ (१), ४५ (१०) तथा ५६ (३)
णाय० २ (५)।

इस छद के प्रत्येक चरण मे ८ वर्ण होते हैं। इसमे जगण तथा रगण के पश्चात् लघु और गुरु रहता है।

पउम चरिउ मे यह छद अनेक वार प्रयुक्त हुआ है। रासो मे यही छद नागना तथा अर्द्ध नराच के नाम से है।[1]

उदाहरण—ससिप्पहाणुजम्मिणा भवाणुबद्धधम्मिणा।
णिसायरो दिवाकरो करीसरो सरोवरो। (मपु० ६।३।३-४)

(४१) मल्लिका—

प्रयोग—मपु० ५३ (३, ४), ६६ (२०) तथा ७८ (१५)।

इसमे ८ वर्ण होते हैं। इसके गणो का क्रम इस प्रकार है- रगण, जगण, गुरु तथा लघु। मल्लिका के लक्षण छद प्रभाकर पृ० १२५) मे प्राप्त होते हैं। इसका अन्य नाम समानी भी है।

उदाहरण—माणसे असक्कयाइ पच पच एक्कयाइ।
बुज्झिउ सुयगयाइ ताविउ णियगयाइ।
इंदियाइ पीडिऊण दुक्कियाइ साडिऊण। (मपु० ५३।३।१-३)

(४२) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ६४ (६)।

इसके प्रति चरण मे ८ वर्ण तथा जगण, नगण, लघु तथा गुरु होते हैं।

---

(१) चद वरदायी, विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृ० २७१ तथा २७३

उदाहरण—परं रिसहचरियं महोपसमभरियं।
जिणाकिमवि गहियं मणे अहव महियं।
ण सो पडइ गहिरि णरो णरयविवरि। (मपु० ६४।६।१४-१६)

(४३) रतिपद—

प्रयोग—मपु० ७८ (६)

इस छद के प्रत्येक चरण मे दो नगण तथा एक सगण होता है। इस प्रकार इसमे ९ वर्ण होते हैं। छद प्रभाकर (पृ० १३१) मे इसका लक्षण प्राप्त होता है। इसके अन्य नाम कमला और कुमुद भी है।

उदाहरण—थरहरियहियलो धयपिहियणहयलो।
करकलियपहरणो पवरबलजियरणो।
दढकढिणथिरकरो पडिसुहडमयहरो। (मपु० ७८।६।९-११)

(४४) उपेन्द्रवज्रा—

प्रयोउ—मपु० ४५ (१)।

यह ११ वर्णों का छद है। इसकी गण-योजना इस प्रकार है–जगण, तगण, जगण, दो गुरु। सस्कृत के प्रसिद्ध वर्णवृत्तो मे इसकी गणना की जाती है। कवि ने इस छद का केवल एक स्थान पर प्रयोग किया है।

उदाहरण—खगिंददेविंदमुणिंदधेयं णमामि चदप्पहणामधेह।
भणामि तस्सेव पुरो पुराण गणेसगीय पवर पुरा ण।
(मपु० ४५।१।१५-१६)

(४५) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ३ (५)।

इस छद के दो चरणो मे से प्रथम मे केवल रगण तथा द्वितीय मे जगण, रगण, लघु तथा गुरु है। इस प्रकार ३ तथा ८ के योग से कुल ११ वर्ण प्राप्त होते हैं। यदि इस छद के दोनो चरण मिला दिये जायें तो वह श्येनिका बन जायेगा। श्येनिका के लक्षण छन्द प्रभाकर (पृ० १३७) मे प्राप्त होते हैं। कवि ने इसका केवल एक ही स्थान पर प्रयोग किया है।

उदाहरण - पत्तिया सणाहणेहरत्तिया।
सुत्तिया णिमीलियच्छिवत्तिया। (मपु० ३।५।१-२)

(४६) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ८७ (३)।

इस छन्द मे भी दो चरण है। प्रथम मे रगण, जगण तथा गुरु मिलता है। द्वितीय में जगण के साथ केवल एक गुरु है। इस प्रकार दोनो चरणो में ११ वर्ण होते हैं।

उदाहरण—पेमिया सणदणा समदणा ।
घाविया सवाहणा ससाहणा । (मपु० ८७।३।३-४)

(४७) मोत्तियदाम—

प्रयोग—मपु० १७ (१५), २६ (४), ४३ (१-१४) ।
णाय० ६ (१६) ।

छन्द प्रभाकर (पृ० १५२) के अनुसार इसमें ४ जगण होते हैं।

उदाहरण—असक खगंक झमक विपक जससुपमाहियपुण्णममक ।
मिलति मिलेप्पिणु हत्थि घरति घरेप्पिणु देह घटेवि पटति ।
(मपु० १७।१५।६-७)

(४८) भुजगप्रयात—

प्रयोग—मपु० ८ (२), १२ (४, ६), १४ (६), १७ (१२), २७ (१४), ४२ (११), ४६ (४, ६), ४७ (६), ५३ (४), ७३ (१२), ७७ (१०), ८३ (५), ६४ (१५), ६६ (८) तथा ६७ (७) ।

णाय० २ (११) ।
जस० १ (१८) तथा ४ (१७) ।

इस छन्द ४ में यगण होते है। कवि ने अपनी तीनो रचनाओं में इस छद का प्रयोग किया है।

उदाहरण—अणव्भत्थसत्या महामदमेहा पयपति एव ममोरुद्धदेहा ।
ण ण्हाण ण फुल्ल ण भूमा ण वाम पहू पाणियन्नेइणाहार गास ।
(मपु० ८।२।५-६)

(४९) स्रग्विणी—

प्रयोग—मपु० १ (१०), ८ (१४), २४ (१३), २६ (१), तथा ५६ (५) ।
जस० ३ (३) ।

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे ४ रगण होते हैं। इस प्रकार इसमे १२ वर्ण होते हैं। मपु० के आरम्भ मे ही कवि ने इस छन्द का प्रयोग गोमुख यक्ष तथा पद्मावती यक्षिणी के आवाहन के लिये किया है। कुछ पक्तियां देखिये—

चारणावासकेलाससेन्नासिओ किणरीवेणुवीणाझुणीतोसिओ ।
सामवण्णो सउण्णो पसण्णो सुहो आइदेवाण देवाहिभत्तो वुहो ।
गोम्मुहो समुहो होउ जक्खो महं चिंतयतस्स एयं अमेयं कहं ।
(मपु० १।१०।१-२)

(५०) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ३८ (१६) तथा जस० ३ (१६)।

इस छन्द की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इसमे १२ वर्ण अथवा ४ गण इस क्रम से हैं—

जगण, रगण, जगण, रगण।

उदाहरण—

णमो जिणा कयतपासणासणा णमो विसुद्ध वुद्ध सिद्धसासणा।
णमो कसायसोयरोयवज्जिया णमो फणिदचदविंदपुज्जिया।

(मपु० ३८।१६।१-२)

(५१) चन्द्ररेखा—

प्रयोग—मपु० ५ (१)।

इस छन्द मे १३ वर्ण हैं। इसकी गण-योजना इस प्रकार है—नगण, सगण, दो रगण तथा एक गुरु। इस मनोहर छन्द की कुछ पक्तियाँ देखिए—

जसवइ जसेणाहियं सोहमाणा णवणलिणहंसी व णिद्दाय्माणा।
सुरवहुपयालत्तयालित्ततीरं णिवडियदरीरंधगंभीरणीर।

(मपु० ५।१।५-६)

(५२) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ८३ (१०)।

इस छंद की परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इसमे प्रति चरण १८ मात्राएँ हैं। अधिकाश चरण १४ वर्ण वाले हैं।

उदाहरण—सीयलसगाहगयथाहसलिलानि कजरसलालसचलालिकुलकालि।
मत्तजलिहत्थिकरभीयझसमालि वारिपेरतसोहतणवणालि।

(मपु० ८३।१०।१-२)

(५३) चामर—

प्रयोग—मपु० ३४ (६), ५३ (५) तथा ८८ (१४)।

यह १५ वर्ण का प्रसिद्ध छद है। इसकी गण-योजना इस प्रकार है—रगण जगण, रगण, जगण, रगण। कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

तेण दु छियो हरी नृपिडमु डखडणे किं बहूहि किंकरेहिं मारिएहिं भडणे।
होइ भू हए णिवे णबुज्झसे किमेरिस एहि कट्ठ घिट्ठ दुट्ठपेच्छमज्झपोरिस।

(मपु० ८८।१४।३-४)

(५४) मालिनी—

प्रयोग—मपु० ४१ (८)।

इसकी परीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इसमे १५ वर्ण, २२ मात्राएं हैं।

इसकी गण-योजना इस प्रकार है—दो नगण, मगण तथा दो यगण। रासो (स० ४५।११८, १२०) मे भी यह छद प्रयुक्त हुआ है। इसका अन्य नाम मजुमानिनी भी है। कवि की कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कयविहिपरियम्म छिण्णदुक्कम्मजम्मं मउ मिरिमरहत तम्मि आरोहिउं त।
धिवइ दसदिसासु सेयभिगारणीर कुणउ सुरवरिदो मिद्धमताहियार।
(मपु० ४१।८।१-२)

(५५ अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ४२ (६)।

इस छद मे १५ वर्ण तथा ५ रगण प्राप्त होते हैं। देखिए—

आसणाणं पयपेण पायालए पण्णया, कपिया देवलोयम्मि देवा वि णिद्दूण्णया।
माणवा माणवाण णिआसाउ मचत्तिया, वाहणोहेहिं ग हकिय मेइणीडोल्लिया।
(मपु० ४२।६।८-६)

(५६) चचला—

प्रयोग—जस० ३ (२, १५)।

इस छद मे १६ वर्ण तथा र, ज, र, ज, र, ल की गण-योजना है।

इसमे कवि के सरिता वर्णन का कुछ अश प्रस्तुत है—

उज्जलम्मि कोमलम्मि तत्य सच्छविच्छुलम्मि
सचरतु ह तरतु मीणमडल गिलतु।
ताउ माउपण्णएण दतपतिभिण्णएण
पुव्वयालि मे हएण तम्मि रण्णए मएण। (जस० ३।२।३-४)

(५७) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ७२ (१)।

इस छद मे १८ वर्ण तथा ६ रगण है। इसमे कवि ने सीताहरण के लिये जाते हुए रावण का वर्णन किया है। कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत हैं—

कामबाणोहविद्धेण मुद्धेण णो किं पि आलोइय
ता विमाण विमाणे णहे राइणा तेण सचोइय।
तारयाऊरियायाससकासवद्धुज्जलुल्लोवय
हेमघटाविसट्टतटकारसतासियासागय। (मपु० ७२।१।३-६)

(५८) अज्ञात—

प्रयोग—मपु० ३ (१४)।

इस छद में २४ वर्ण हैं तथा रगण-जगण के क्रम की ४ वार आवृत्ति की गई है। इसमे जिन-जन्म के उल्लास का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

ता हयाइ भेरिभल्लरीमुइगसखतालकाहलाइ वज्जयाइ।
खिखिसेहि पाणिपायकुचियाइ णच्चियाइ वामणाइ खुज्जयाइं।
(मपु० ३।१४।१-२)

(५९) दंडक—

प्रयोग—मपु० १४ (२, ७), २० (५), ८८ (१३) तथा ८९ (५)

मपु० के पांच दडक छंदो के अतिरिक्त कवि के किसी अन्य ग्रंथ मे दडक छंद नही हैं। प्रत्येक छद की रचना-पद्धति स्वतत्र है, अत उनका पृथक्-पृथक् परिचय देना उचित होगा।

१—कवि ने मपु० १४ (२) मे पर्वत-गुहा के कपाट खुलने का वर्णन किया है। इस छद मे गणो का निश्चित नियम नही है। सपूर्ण छद मे चार चरण हैं, जिनमे ४७ से ५८ तक वर्ण है। एक पक्ति देखिए—

हारवमुयतसवरोपुलिदसिसुदीसमाणकेसरिकिसोरणहकुलिसकोडिदारियकुरगरुहिं-
रभवाहदुग्ग जाय गुहादुवारं। (मपु० १४।२।६)

२—मपु० १४ (७) के दडक छद मे कवि सेना के प्रयाण का वर्णन करता है। इसमे ८ चरण है। इन चरणो मे ३९ से ४५ तक वर्ण हैं। प्रथम चार चरणो के प्रारम्भ मे भगण तथा जगण की दो बार आवृत्ति मिलती है। शेष गणो मे समानता नही है। छद की एक पक्ति प्रस्तुत है—

ज हारदोरकेऊरकडयकचीकलावमउडावलविमदारदामसोभंतजक्खजक्खीविमाणछण्ण।
(मपु० १४।७।५)

३—मपु० २० (५) मे गधिल विषय का वर्णन है। इस दडक छद मे १० चरण है, जिनमे ४७ से ७० वर्ण हैं। अधिकाश चरणो मे प्रारभिक गण तगण, जगण तथा नगण हैं, अन्य गणो की व्यवस्था पृथक् है।

उदाहरण—जो पारियायचपयकलब मुचुकु दकु दमदारसारसेरिंधगध गुमुगुमिय-महुयरालीमिलत वयमोरकीरकलहसकुररकारडकोइलारावरम्मो। (मपु० २०।५।१)

४—मपु० ८८ (१३) मे २ नगण तथा १०-११ रगण प्राप्त होते हैं। पउम चरिउ (४०।१७ तथा ५१।२) मे भी यही दंडक है। छदप्रभाकर (पृ० २१०) के अनुसार इसमे व्याल एव जीमूत दोनो दडक छदो के लक्षण प्राप्त होते हैं।

उदाहरण—पलयघरवारणी सगया खग्गिणी पासिणी चक्किणी सूलिणी हूलणी मु डमालाहरी कालकावालिणी। (मपु० ८८।१३।४)

५—मपु० ८९ (५) के दडक छन्द मे १२ चरण हैं। इसके ९ चरणो तक २ नगण, १० से १२ तक तगण तथा अत मे २ गुरु मिलते है। १० वी पक्ति मे २ नगण तथा १५ रगण हैं तथा अन्त मे २ नगण के साथ विभिन्न गण हैं। सभवत. कवि ने छन्द के अतर्गत जीमूत शब्द रखकर इस दडक के नाम की ओर सकेत किया है।

उदाहरण—विणयपणयसीसो सुरेसो गओ वदिउं देवदेवो अतावो असाओ महाणीलजीमूयवण्णो पसण्णो। (मपु० ८९।५।३)

३—कडवक के अत के घत्ता छद

अपभ्र श काव्यो मे सामान्यत कडवक के अत मे एक घत्ता होता है। प्रत्येक सधि के आरम्भ मे जो ध्रुवक होता है, उसी छन्द मे सपूर्ण सधि के घत्ता रचे जाते हैं। इस प्रकार ध्रुवक सधि विशेष के घत्ता का आदर्श छन्द होता है।

पिगल के नियमो के अनुसार घत्ता छन्दो का निर्णय करना कठिन है। इसका कारण यह है कि उसके पाद की अतिम मात्राए कही लघु और कही दीर्घ मानी जाती जाती है। इस प्रकार उनमे एक मात्रा का अतर भी छन्द मे परिवर्तन उपस्थित कर देता है। डॉ० भायाणी ने पउम चरिउ के घत्ता छन्दो की समीक्षा करते हुए इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है।[1]

कवि ने घत्ता के लिये चतुष्पदी तथा षट्पदी छन्दो का प्रयोग किया है। चतुष्पदी के अतर्गत उसके सर्वसमा, अतरसमा आदि भेद भी प्राप्त होते है।

कवि की रचनाओ मे निम्नलिखित प्रकार के घत्ता छन्द प्राप्त होते है। नाम के अभाव मे उनकी मात्रा गणना का यथास्थान निर्देश किया गया है।

(६०) पाद-योजना ८+१४

प्रयोग-मपु० सधि ५३

यह अतरसमा चतुष्पदी है। पउम चरिउ की २५,२६ तथा ५३ सधियो मे भी यही घत्ता है।

उदाहरण—तिह हउ भासमि सुणि सेणिय कि गिरिगायें।
जिणगुणचितइ चडालु वि मुच्चइ पावें॥
(मपु० ५३।१।१८-१९)

(६१) पाद-योजना ६+६

प्रयोग-मपु० सधि ६७,८९

यह सर्वसमा चतुष्पदी है। स्वयभू छन्दस् (८।६) में इसका नाम ध्रुवअ बतलाया गया है। यह घत्ता पउम चरिउ सधि ३३ मे भी प्राप्त होता है।

उदाहरण—जियकूरारिणा वसुमइहारिणा।
णेमी सीरिणा णविवि मुरारिणा। (मपु० ८९।६)

(६२) पाद-योजना ६+१२

प्रयोग—मपु० सधि ५१,६३,६४,६६ तथा १०१

यह अतरसमा चतुष्पदी है।

उदाहरण—तहि पोयणणामु णयरु अत्थि विहिथिण्णउ।
सुरलोएं णाइ धरिणिहि पाहुडु दिण्णउ। (मपु० ६३।२)

---

(१) पउम चरिउ, पृ० ७८-९२

(६३) पाद-योजना ९+१३

प्रयोग-मपु० संधि ११,४८ तथा ६१

यह घत्ता अतरसमा चतुष्पदी है।

उदाहरण—आसीणणिवासु उग्घोसियमंगलरवहु ।
णवजोव्वणि जति वाल सयवरमडवहु । (मपु० ६११४)

(६४) पाद-योजना ९+१४

प्रयोग-मपु० सधि १५,४२, ६६, ७२, ७४, ७६, ७९, ८१ तथा ८५।
णाय० सधि ३

यह अंतरसमा चतुष्पदी है। स्वयंभू छन्दस् (८।२५) मे इसे प्रथम घत्ता कहा गया है।

उदाहरण—एव भणंत गय ते हरिसें कहिं मि ण माइय ।
णयरहु णीसरिवि जउणाणइ झत्ति पराइय । (मपु० ८५।११)

(६५) पाद-योजना ११+१२

प्रयोग-मपु० संधि ९, ३३, ५०, ६९, ८३, ८७, ९८।

णाय० सधि ७

उदाहरण—हा समुद्दविजयंक हा धारण हा पूरण ।
थिमियमहोयहिराय हा हा अचल अकंपण । (मपु० ८७।६)

यह अंतरसमा चतुष्पदी है।

(६६) पाद-योजना ११+१४

प्रयोग—मपु० सधि ८६

यह घत्ता अंतरसमा चतुष्पदी है। इसके प्रथम और तृतीय पाद का अंत गुरु+लघु से तथा द्वितीय और चतुर्थ का गुरु+दो लघु से होता है। छन्द के विषम चरण, दोहे के सम चरणो की भांति होते हैं।

उदाहरण— जाणिवि जायवणाहु णियगोत्तहु मगलगारउ ।
वन्दिउ नृवणियरेहिं दामोयरु वइरिवियारउ। (मपु० ८६।९)

(६७) पाद-योजना १२+९

प्रयोग—मपु० सन्धि ६५

इस अतरसमा चतुष्पदी घत्ता का उदाहरण देखिए—

देविइ सुत्तविउद्धिइ अक्खिउ णरवइहि ।
तेण वि फलु विहसेप्पिणु भासिउ तहि सइहि । (मपु० ६५।१)

(६८) पाद-योजना १२+१२

प्रयोग—मपु० सन्धि ३१, ३५, ६२, ८२ तथा ९७।
णाय० सन्धि ६।

इस सर्वसमा चतुष्पदी को, छन्द प्रभाकर (पृ० ६४) के आधार पर, डॉ० हीरालाल जैन ने दिगपाल नाम दिया है। (दिगिग णाय० भूमिका पृ० ६७)

उदाहरण—एहु भरहु भवणोयहि ... ... णियमहि।
एहु दिव्व गयाणइ ... णिधु मपरणइ। (मपु० ६३।७)

(६९) पाद-योजना १३+१२

प्रयोग—मपु० सधि ६४

उदाहरण—दीविपहिल्लइ पविउलइ भरहि देसु सुदरगमु।
गयउरि महिवइ तहि वसइ ... नगमंगनु। (मपु० ६४।२)

(७०) पाद-योजना १३+१३

प्रयोग—मपु० सन्धि ४७

इस सर्वसमा चतुष्पदी घत्ता के प्रत्येक चरण का अन्त ... से होता है।

उदाहरण—ता धयवीईराइय ... ।
पुडरीयमानाघर मोहइ गयणागगगण। (मपु० ४७।११)

(७१) पाद-योजना १३+१५

प्रयोग—मपु० सन्धि ४६

यह अतरसमा चतुष्पदी घत्ता है।

उदाहरण—भयभीयइ महिहिणिवलियइ जीय देव ... जपति।
जामु पयावें ताविपइ परणरणाहगयइ ... । (मपु० ४६।२)

(७२) पाद-योजना १३+१६

प्रयोग—मपु० सन्धि १३, १७, २०, २२, २६ तथा ६८।
णाय० सन्धि ९।

यह घत्ता दोहा के विषम तथा वदनक के सम चरणो के योग से बनता है। छन्द प्रभाकर के अनुसार इस छन्द का नाम चुलियाला है।

उदाहरण—जो महिमाहरु पुरिसहरि महिमावन्तु भुवणि विक्खायउ।
जो अहिमाणवन्तु सुयणु जो रिउमाणवन्तु स जायउ।
(मपु० २०।८)

(७३) पाद-योजना १५+१२

प्रयोग—मपु० सन्धि ६, १६ १८, २३, २८, ३०, ३५, ३७, ३८, ४१, ४३, ४६, ५४, ७०, ७३, ९०, ९२, १००, १०२।

इस घत्ता के विषम चरण पारणक छन्द के अनुरूप होते है।

उदाहरण—जहि चदसाल चदसुहय चदकंतिजलु मेल्लइ।
कामिणिपयहउ असोयतरु उववणि वियसइ फुल्लइ। (मपु० ७०।३)

(७४) पाद-योजना १५ + १३

प्रयोग—मपु० सन्धि २, ४, १०, ५७, ६१, ७५ तथा ८० ।

णाय० सन्धि १ । जस० सन्धि ३ ।

उदाहरण—इय पुरणारीयणु णीसरिउ पयमजीरगयमुहलु ।

परिभमइ रमइ पहि चिक्कमइ महणीसासशमियभसलु ।

(णाय० १।१०)

(७५) पाद-योजना १५ + १५

प्रयोग—मपु० संधि ३२ तथा ८८ ।

णाय० संधि ५ ।

यह पारणक छंद का सर्वसमा चपुष्पदी घत्ता है । यह पउम चरिउ की ६, १८, २७, ४८ तथा ७४ संधियों में भी प्राप्त होता है ।

उदाहरण—अवलोइवि सु दरि सु दरिउ वणि णट्ठउ खणि छ वि कुंयरिउ ।

णं मुणिवरवित्तिहि दुग्गइउ ण सुकइमइहि जडकइमइउ ।

(मपु० ३२।१३)

(७६) पाद-योजना १५ + १६

प्रयोग—मपु० संधि ७७

यह घत्ता अ तरसमा चतुष्पदी है ।

उदाहरण—वणु भजिवि पुरवरु णिड्डहिवि हणुइ णियत्तइ जयसिरिकामे ।

अज्ज वि किं णावइ खयरवइ पुच्छिउ एम विहीसणु रामें ।

(मपु० ७७।१)

षट्पदी घत्ता—

(तुकान्त क ख, घ ङ, ग च।

(७७) पाद-योजना ६ + ६ + १२

प्रयोग--मपु० संधि ५ तथा २७ ।

जस० संधि २

उदाहरण—आलोयणु सभासणु दाणु सगु वीसासु वि ।

पियमेलणु रइकीलणु ज महु तं णउ कासु वि ।

(जस० २।५)

(७८) पाद-योजना ६ + ८ + १२

प्रयोग—मपु० संधि २९, ३९, ५६, ५८, ६३ तथा ८४ ।

उदाहरण—णियगेहिणि वम्महवाहिणि देवि सुलोयण जेही ।

मंदाइणि जणसुहदाइणि दीसइ राए तेही ।

(मपु० २९।७)

(८५) पाद-योजना १०+८+१४

प्रयोग—मपु० सधि १४

उदाहरण—वोल्लिउ उरगइणा विसहरवइणा कि पाडमि गहणक्खत्तइं।
कीलियसुरवरहो माणससरहो णिल्लूरमि कि सयवत्तइं।
(मपु० १४।८)

(८६) पाद-योजना १२+८+१२

प्रयोग - मपु० संधि १

उदाहरण—जणमणतिमिरोसारण मयतरुवारण णियकुलगयणदिवायर।
भो भो केसवतणुरुह णवसररुहमुह कव्वरयणरयणायर।
(मपु० १।४)

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि कवि का छद-विधान उसके काव्य के अनुरूप ही विशाल है। उसने अपने समय मे प्रचलित लगभग हर प्रकार के छंदो का प्रयोग किया है, इसका अनुमान स्वयभू की छद-रचना को देखकर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कवि ने विभिन्न छंदो की सहायता से कितने ही नवीन छदो का निर्माण करके अपने काव्य को और अधिक कलापूर्ण एव आकर्षक वनाये का यत्न किया है।

कवि की एक उल्लेखनीय विशेषता यह भी है कि उसने विभिन्न स्थलो पर प्रयुक्त होने वाले एक ही विषय को अनेक रूपो मे रखकर, वर्णन की एकरूपता का वहुत कुछ परिहार कर दिया है। इसके प्रमाण मे चौवीस तीर्थंकरो के स्तवन तथा उनकी माताओ द्वारा देखे जाने वाले स्वप्नो के वर्णन द्रष्टव्य हैं। यही नही उसने वर्णनीय विषय के भाव के अनुरूप ही छंद का चयन करके उसे पूर्ण रसात्मक वना दिया है।

सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि पुष्पदत की इन विशेषताओ ने भी उन्हे अपभ्रंश का श्रेष्ठ कवि बनाने में पर्याप्त सहायता दी है।

कवि की भाषा की कतिपय विशेषताएँ

अपभ्रंश भाषा की जिन विशेषताओ का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं,[1] प्रायः वे सभी स्वयभू, पुष्पदत आदि कवियो की भाषा मे प्राप्त होती हैं। अत यहा हम उनकी पुनरावृत्ति न करके केवल अपने आलोच्य कवि की भाषा की विशिष्ट प्रवृत्तियो का ही विवेचन करेंगे।

साहित्यदर्पण के अनुसार रस को उत्कृष्ट बनाने वाले गुण, रीति तथा अलकार हैं।[2] इनमे गुण ही रस के धर्म माने जाते हैं। अत उनका स्थान अलकार से

(१) देखिए ऊपर पृ० १५-१८

(२) काव्य-दर्पण पृ० ३९९

श्रेष्ठ है। भोज, दण्डी, वामन आदि आचार्य गुण-युक्त काव्य को ही उत्तम मानते हैं।[1] माधुर्य, ओज तथा प्रसाद—ये तीन ही मुख्य गुण हैं। माधुर्य की स्थिति शृंगार, करुण तथा शान्त रसों मे होती है। वीर, रौद्र एव बीभत्स मे ओज गुण प्रधान होता है। इसके द्वारा चित्त उद्दीप्त होता है। द्वित्ववर्ण, टवर्ग, दीर्घ समासादि इसके व्यंजक माने जाते हैं। प्रसाद गुण प्राय सभी रसों मे हो सकता है। कवि की रचनाओं में, रसात्मक प्रसगो के अनुरूप उक्त तीनो गुण प्रचुर मात्रा मे देखे जा सकते हैं। यहाँ उनका एक-एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

माधुर्य— ण पेम्मसलिलकल्लोलमाल, ण मयणहु केरी परमलील।
ण चिंतामणि संदिण्णकाम, ण तिजगतरुणिसोहग्गसीम।
ण ल्लरयणसघायखाणि, ण हिययहारि लायण्णजोणि।
(मपु० २०।६।१-३)

ओज—तेण दुट्ठिओ हरी तूण्पिडमुहपलठ्ठो, कि वहहि सिलरहि सारिसहि भग्गे।
होइ भू हए णिवे ण बुज्झसे किमेरिस, एहिदट्ठघिट्ठदुट्ठलोलजमल्ल पोरिस।
केसरिव्व दुद्धरो करग्गणग्गराइओ, सो वि तम्मसमुहो नगन्दणो पधाइओ।
(मपु० ८८।१४।३-४)

प्रसाद— ताराहारावलि पविमलेहिं, सतुसारणीरसायरजलेहिं।
कलहोयकलसकविनियकरेहिं, तहु पयजुयलउ सिचिउ सुरेहिं।
तण्णायणीयमनिलेण मित्त, तहिं हूई गुरुवरगरि पवित्त।
हिमवतपोमसरवरपसूय, अज्जु वि जणु मण्णइ तित्यभूय।
(मपु० ३६।१६।१-४

काव्य मे विषय के अनुरूप शब्दो को योजना आवश्यक होती है। शास्त्रीय भाषा मे इसी को रीति कहते हैं। वर्णनीय विषयो की विभिन्नता के कारण रीतियाँ भी अनेक हो सकती हैं। साहित्याचार्यो ने इनका वर्गीकरण देश-विदेश में प्रचलित रचना-प्रणाली के अनुरूप किया है। इस प्रकार वैदर्भी, गौडी तथा पाचाली-ये तीन प्रसिद्ध रीतिया मानी गई हैं। इन्ही को वृत्ति भी कहते है, जिनके क्रमश नाम हैं—उपनागरिका, परुषा तथा कोमला। स्पष्ट है कि नादाभिव्यजक वर्णो की विशिष्टता के आधार पर ही वृत्तिया निश्चित की गई हैं। नीचे हम कवि के काव्य से इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

---

(१) काव्य दर्पण पृ० ४००

वैदर्भी अथवा उपनागरिका वृत्ति—

मधुर वर्णो की ललित पद रचनाएं इसके अन्तर्गत आती हैं। ऋषभ के केवल ज्ञान उत्पन्न होने के अवसर पर कवि का वर्णन देखिए—

दति दति सरु सरि सरि पोमिणि, पोमिणि जा तूणाविअगोमिणि।
पोमिणियहि पोमिणियहि पोमइं, तीस दोण्णि छइयणरवरम्मइं।
णलिणि णलिणि तेत्तियइं जि पत्तइं, णावइ जिणवरलच्छिहिणेत्तइं।
पत्ति पत्ति एक्केक्की अच्छर, णच्चइ हावभावरसकोच्छर।
(मपु० ६।१८।३-६)

गौडी अथवा परुषा वृत्ति—

ओज प्रकाशक वर्णों से पूर्ण रचना को गौडी रीति अथवा परुषा वृत्ति कहते है। राम-रावण युद्ध के निम्नलिखित दृश्य मे ओज-पूर्ण शब्दावली प्राप्त होती है—

तहिं रणवमालि सुहडतरालि।
णिट्ठवियदुट्ठु इंदइ पइट्ठु।
णं जलियजाल ण विज्जुमाल।
कयआहवेण तहु राहवेण।
खरकरपवट्ठु दट्ठोट्ठु रुट्ठु।
ता कुद्धएण धूमद्धएण।
चलजलहरेण वरिसियसरेण।
धगधगधगति उम्मुक्क सत्ति।
(मपु० ७८।६।६-१६)

पाचाली अथवा कोमला वृत्ति—

इसमे पचम वर्ण प्रधान होते हैं। एक स्वप्न का वर्णन देखिए—

पेमभेंभला चला णिरतर वियारिणो, कीलमाणया महासरंतरे विसारिणो।
वारिवारपूरिय सरोरुहेहिं अचियं कुंभजुम्मयं पवित्तचदणेण चच्चियं।
पकयायरो चलतलच्छिणेउरारवो, णीरबुम्मिरो तरगभगुरो महण्णवो।
सीहमडियासण रणतर्किकिणीसर, इंदमदिरं वरं महाफणीसिणो घर।
(मपु० ५३।५।६-६)

कवि के काव्य-क्षेत्र मे पदार्पण करने के समय यद्यपि अपभ्रंश का ही युग था, फिर भी सस्कृत का मान विद्वत्समुदाय मे विशेष रूप से था। यही कारण है कि अपभ्रंश काव्यो पर सस्कृत की छाया स्पष्ट दिखाई देती है। स्वयभू तथा पुष्पदत दोनो ही कवियो के काव्यो मे सस्कृत की समास-युक्त भाषा शैली के प्रचुर स्थल देखे जा सकते हैं।

इस सबंध मे पुष्पदन्त का एक उदाहरण देना उचित होगा—

वभडमडवास्टकित्ति, अणवरयग्ध्यनिगणाहमनि ।
मुहतु गदेववम कमलभमनु णेमेमवनाविणाण गुरु ।
पाययमडक्ख्वरनावडट, मपीयगरामन्तुगहिदुडु ।
कमलच्छु अमन्ड्र नच्चमनु रणभग्गुरमरणुग्गुट्टगमु ।
मविलामविनासिणिहियमेगु, मुपसिद्धमहारुद्धरामहेगु ।

(मपु० १।५।१-५)

परन्तु कवि के काव्य मे ऐसे स्थल भी कम नही है, जहा उसकी भाषा आडम्बर-रहित, सरल तथा सुबोध है । मगध-वर्णन का एक अ श देखिए—

जहि मचरंति बहुगोहणाइ , जव रगु मुग्ग ण हु ५णु तणाइ ।
गोवालवाल जहि रगु पियति थलमरुह मेज्जायति सुयति ।
मायदकुसुममजरि सुणण, हयचनुएण कयमणुएण ।
जहि समयन्त मोहइ वाहियालि, वाहण पयहय वित्थरइ धूलि ।

(मपु० ११।१४।५-८)

कवि की भाषा पर विचार करते हुए हमारा ध्यान उसको एक अन्य विशेषता की ओर भी जाता है, वह है शब्दो तथा वाक्याशो की पुनरावृत्ति करके वर्णनीय विषय अथवा दृश्य को अधिक प्रभावोत्पादक बनाना । कवि में यह प्रवृत्ति इतनी अधिक है कि प्राय प्रत्येक सधि मे उसके दर्शन कही न कही अवश्य होते हैं। इसके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं ।

वसुदेव आदि के लिये देवियो के विलाप मे हा शब्द की आवृत्ति अनेक बार हुई है—

हा वसुदेव वीर हा हलहर दुम्महदणुयमद्दणा ।
हा हा उग्गसेण गुणगणणिहि हा हा सिसु जणद्दणा ।
हा हा प ंडु चडु कि जायउ , पत्थिववइरु विहुरु सप्रायउ ।
हा हा धम्मपुत्त हा मारुइ, हा हा पत्थ विजयमहिमारुइ ।

(मपु० ८७।७।१-४)

एक अन्य स्थल पर नारी-रूप-वर्णन मे काम शब्द की आवृति भी द्रष्टव्य है—

ण कामभल्लि ण कामवेल्लि, ण कामहो केरी रइसुहेल्लि ।
ण कामजुत्ति ण कामवित्ति, ण कामथत्ति ण कामसत्ति ।

(णाय० १।१५।२-३)

इसी प्रकार अलकापुरी के वर्णन मे भी यही विशेषता प्राप्त होती है—

जहि रिद्धि वि रेहइ पवर का वि जहि प गणि प गणि तोयवावि ।
उग्गयकिजक्करयकयाइ , जहि वाविहि वाविहि प कयाइ ।

जहि पकइ पंकइ हंसु थाइ, जहि हंसि हंसि कलरव विहाइ।
जहि कलरवि कलरवि हयणिमाण, कामेण समप्पिय कामवाण।
(मपु० २०।७।५-८)

काव्य मे अनुरणात्मक तथा ध्वन्यात्मक शब्दो का प्रयोग अपभ्र श की एक प्रमुख विशेषता है। रासो तथा हिन्दी के वीरगाथा कालीन काव्यो मे भी यह प्रवृत्ति प्रचुर मात्रा मे प्राप्त होती है। इस प्रकार की शब्दावली द्वारा वर्ण्य विषय की स्वाभाविकता प्रदर्शित करने के साथ ही विभिन्न भावो तथा कार्य-व्यापारो का सश्लिष्ट अर्थावबोध कराने का प्रयत्न किया जाता है।

कवि ने ऐसी शब्द योजना रूप-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, युद्ध-वर्णन आदि प्रसगो मे आभूपणो के वजने, पशुओ की बोली तथा वाद्य-यत्रो एव अस्त्र-शस्त्रो की ध्वनियो को यथावत् ग्रहण करने के अभिप्राय मे रखी है। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है—

आभूषण-ध्वनियाँ—

कणर० ति कडियल किंकिणियउ।
(णाय० ७।१४ ११)

कणिरणिय सुकिंकिणि णीसणेहिं।
(मपु० १।१६।४)

ओलविय किंकिणि रणझणत।
(मपु० १२।१३।७)

पशुओ की बोलियाँ—

मे मे मे करतु जिह मेंढउ।
(मपु० १६।६।१०)

ज गुलुगुलत चोइय मयंग)
) (मपु० १४।७।३-४,
जं हिलिहिलत वाहिय तुरंग)

वाद्य-यत्रो की ध्वनियाँ—

हू हू हुयंताइ वर सखजमलाइं।
(मपु० १७।३।६)

दककुंदकुंद कयणीसणेण।
(मपु० ४।१०।६)

ददद्द टिविलाइ उत्तु।
(मपु० ४।११।३)

णं भासइ तं त तं भणतु।
(मपु० ४।११।४)

कसालइं तालइ सलसलंति ।
(मपु० ४।११।१०)

मणि घंटा जालहि झणझर्णाहि ।
(मपु० १३।३।५)

अस्त्र-शस्त्रो का संघर्ष तथा युद्ध-वर्णन—

खग्गइ पडिखडियइ खणखणंति, कु तइ भज्जतइ कसमसति ।
अतइ णिग्गतइ चलचलति, लोहियइ झरतइ सलसलति ।
चम्मइ लवतइ ललललति, हड्डइ मोडतइ कडयडति ।
रु डइ धावतइ दडयडति, मु डइ णिवडतइं हुकरति ।
डाइणिवेयालइ किलकिलति ।
(णाय० ४।१५।४-८)

प्रकृति-चित्रण—

तरु कुसुमामोए महमहति । (मपु० १२।१।१३)
चहु दिसु रुणुरुणति यंदिंदिर । (मपु० १६।१२।१४)
अणुझणझणियघणकण कणिसमगुदिण जहिं चुणति रिंछा ।
(मपु० १६।१३।२)

नगर-वर्णन—

चद्रपुर के वर्णन मे कवि की भाषा विशेष द्रष्टव्य है । यहाँ एक-एक वस्तु के वर्णन मे वोणा को झकार का अनुभव होता है । देखिए—

जिणवर घर घटा टणटणतु, कार्मिणिकर ककण खणखणंतु ।
माणिक्क करावलि जलजलतु, सिहरग्गधयावलि ललललतु ।
ससिमणिणिज्झरजल झलझलतु, मग्गावलग्गहरि हिलिहिलतु ।
करिचरण सखला खलखलतु, रवियतहुयासण धगधगतु ।
बहुमदिरमडिय जिगिजिगतु, सद्दलदल तोरण चलचलतु ।
गभीर तूर रव समसमतु, तणायवसतु गिच्चु जि वसतु ।
(मपु० ४६।२।३-८)

इसी प्रकार कवि की रचनाओ मे अन्य स्थल भी प्राप्त होते हैं, जिन्हे विस्तार-भय से यहाँ उद्धृत करना सभव नही है ।

कवि की भाषा पर सस्कृत के प्रभाव की चर्चा हम इसी प्रकरण मे अन्यत्र कर चुके हैं । यह प्रभाव केवल समास-शैली तक ही सीमित नही है, वरन् कवि की भाषा मे हमे शब्दो के तत्सम रूप भी पर्याप्त सख्या मे उपलब्ध होते हैं । ये शब्द महापुराण तथा णायकुमार चरिउ मे ही अधिकाशत प्रयुक्त हुए हैं । जसहर चरिउमे उनकी सख्या अत्यल्प है । उस ग्रथ में तद्भव तथा देशज शब्दो का ही बाहुल्य है । इस प्रकार जसहर चरिउ मे जनसामान्य की निकटवर्तिनी भाषा का स्वाभाविक रूप स्पष्ट है ।

कवि की भाषा मे प्राप्त होने वाले कुछ तत्सम शब्द इस प्रकार हैं—

भुवन-कमल	(मपु० १।१।१)	गभीर	(मपु० १।२।४)
चारणावास	(मपु० १।१०।१)	कुंजर	(मपु० ३।७।५)
वीणारव	(मपु० ७।६।१०)	सलिल	(मपु० ६।२६।५)
णालमराल	(मपु० १५।७।५)	द्रुम	मपु० १५।२०।३)
दारुण	(मपु० २८।२५।५)	कुंकुम	(मपु० ५२।१४।४)
मृग	(मपु० ५७।२६।४)	उत्तुंग	(मपु० ५६।६।१३)
प्रिय	(मपु० ८२।११।११)	कलरव	(णाय० १।६।१०)
मनहारिणि	(णाय० ५।१३।६)	चरणारविंद	(मपु० ३८।६।११)
सरिसलिल	(जस० २।३०।८)	धवल, समीर	(जस० ३।१)

इसके अतिरिक्त कवि की भाषा मे अनेक तद्भव, देशज आदि शब्द ऐसे हैं, जो हिन्दी मे आज भी सामान्यतः प्रयोग किये जाते हैं। कुछ शब्द देखिए—

जस (यश)	मपु० १।५।६	भुक्कउ (भूंकना)	मपु० १।८।७
मोर	मपु० ११।६।७	खेल	मपु० ४।१।११
कप्पड (कपडा)	मपु० ८।७।६	खेड (खेडा)	मपु० ५।२१।३
जेंवइ (जीमना)	मपु० १८।७।११	जोक्खइ (तौलना)	मपु० ४।५।५
टक्कर	मपु० ३१।१६।४	डर (भय)	मपु० २५।८।६
तोंद (पेट)	मपु० २०।२३।३	मेढअ (मेढक)	मपु० १६।६।१०
साडी (साडी)	मपु० १२।५।३	अम्मा (माता)	मपु० ३।६।१६

णाय० मे—

कण्णाउज्ज (कन्नौज)	५।२।११	कोइल	२।६।७
खेत्त (खेत)	१।१३।६	णच्च (नृत्य)	१।७।१
णिसेणी (सीढी)	२।३।१०	पल्लक (पलंग)	२।७।४
बइट्ठ (बैठना)	१।१२।१	बहिणि	७।१५।२
भत्तार (भतार, पति)	५।१२।१	माम (मामा)	७।६।१
माय-बप्प (मां-बाप)	६।१८।१७	लट्ठि (लाठी)	६।३।४

जस० मे—

टोप्पी (टोपी)	१।६।४	अगुल	१।६।५
खुरुप्प (खुरपा)	३।७।११	एत्थु (पजाबी-एत्थें)	३।२५।१
पिल्ल (पिल्ला)	३।१३।७	पोट्टुल्लउ (पोटली)	२।२८।७

महापुराण मे आये कुछ मराठी भाषा के शब्द भी देखिए—

शब्द	मराठी रूप	
ओरालि (शब्द)	ओरड	५।१।७
कलमलय (ईर्ष्याजनित खेद)	कलमल, तलमल	३६।२।६
खोल्ल (गभीर)	खोल	२।१३।६
चग (उत्तम, पजाबी-चगा)	चाग, चागले	६।४।१४
चिलिव्विल (बीभत्स)	चिडवीड	२०।१०।११
तडअ (समूह)	ताडा	१६।२२।८
तुप्प (घृत)	तूप	२६।१।५
पोट्ट (उदर, हिन्दी-पेट)	पोट	६।८।१५

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि को भाषा पर पूर्ण अधिकार था। वह अपने विशाल शब्द-भाण्डार से अवसर के अनुकूल शब्दो का चयन करके वर्णनीय विषय को प्रभावशाली बनाने मे पूर्ण दक्ष है।

कवि की भाषा-शैली के अनेक रूप हमे उपलब्ध होते है। वह जहाँ भी प्राचीन परपरा की अलकृत शैली का अनुगमन करता है, वहाँ उसकी भाषा क्लिष्ट तथा समास प्रधान हो जाती है, परन्तु उससे हटकर जहाँ वह कल्पना के उन्मुक्त वातावरण में विचरण करता है, वहाँ भाषा के सहज सौदर्य के दर्शन होते हैं।

धार्मिक सिद्धान्तो के प्रतिपादन मे पारिभाषिक शब्दावली के कारण भाषा मे और भी दुरूहता तथा शुष्कता आ जाती है। यदि ऐसे स्थल विस्तारपूर्ण हुए तब तो चित्त ऊबने सा लगता है, परन्तु रूप-चित्रण आदि के प्रसगो मे कवि की भाषा का अनुपम सौदर्य विकसित हुआ है। वहाँ विभिन्न अलकारो तथा विविध प्रकार के छन्दो के द्वारा कवि की काल्पनिक अनुभूति का प्रकाशन अत्यन्त सुन्दर रूप मे हुआ है। शब्दो के निर्वाचन मे पद-मैत्री तथा ध्वनिसाम्य का भी वहाँ विशेष ध्यान रखा गया है। सुसस्कृत, परिमार्जित तथा मधुर भाषा के सुन्दर उदाहरण भी वही प्राप्त होते हैं। इससे भी अधिक भावना तथा कल्पना का मनोहर सयोग हमे वहाँ प्राप्त होता है जहाँ कवि अपने आराध्य तीर्थङ्करो का वर्णन करता है। वे स्थल कवि की सुरुचि, प्रतिभा तथा सजगता का पूर्ण आभास देते हैं।

देश, स्थान तथा घटनाओ के चित्रण मे कवि की भाषा प्रवाहमयी एव व्यावहारिक हो कर सहज रोचकता प्रदान करती है। इसी प्रकार भावात्मक प्रसगो मे उसकी भाषा और भी अधिक ललित तथा सवेदनशील बन जाती है। इस प्रकार विविध शैलियो द्वारा कवि के सपूर्ण व्यक्तित्व का प्रकाशन उसकी रचनाओं मे हुआ है।

अध्याय

१० पुष्पदंत तथा अन्य जैन कवि

पुष्पदत की काव्य-कला का विवेचन करने के उपरान्त, हम प्रस्तुत अध्याय मे उनके साथ अन्य जैन कवियो का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए, यह देखने का प्रयास करेंगे कि कवि अपने पूर्ववर्ती कवियो से किस प्रकार प्रभावित हुआ है तथा उसके परवर्ती कवियो ने उसका किन-किन रूपो मे अनुसरण किया है।

पुष्पदत के पूर्ववर्ती अनेक जैन कवि हुए हैं, जिन्होने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्र श भाषाओ मे अपने ग्र थ रचे हैं। इनमे विमलसूरि, चतुर्मुख, जिनसेन तथा स्वयंभू के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन कवियो मे से प्रथम दो कवियो का कोई सीधा प्रभाव कवि पर परिलक्षित नही होता। चतुर्मुख का स्मरण अवश्य ही कवि ने महापुराण के दो स्थलो पर स्वयभू के साथ किया है, जिसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।[1] इससे अनुमान होता है कि पुष्पदंत उनके ग्रन्थो, विशेष रूप से उनके पउम चरिउ से किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रभावित हुए हैं, परन्तु उनके किसी भी ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण, इस विषय पर कुछ भी कहना सभव नही है।

अब हमारे सम्मुख दो कवि जिनसेन तथा स्वयभू शेष रह जाते हैं। इन कवियो के महापुराण तथा पउम चरिउ के उल्लेख इस शोध-प्रबन्ध के अतर्गत अनेक स्थलो पर हुए हैं। पुष्पदंत पर इनका पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। निम्नलिखित पक्तियो मे हम इसका सक्षिप्त विवेचन करेंगे।

पुष्पदत ने महापुराण के अंत मे जिनसेन तथा उनके गुरु वीरसेन के स्पष्ट उल्लेख किये हैं—

जिणसेणेण वीरसेणेण वि जिणसासणु सेविवि मय ते ण वि

(मपु० १०२।१२।३)

(१) देखिए ऊपर पृ० २१

ग्रंथारम्भ मे भी अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने धवला तथा जयधवला नामक सिद्धान्त ग्रंथो के नाम लिये है—

णउ वुज्झिउ आयमु सद्दधामु, सिद्ध तु धवलु जयधवलु णामु। (१।९।८)

इनमे धवला के रचयिता वीरसेन तथा जयधवला के जिनसेन हैं।[1]

इससे प्रकट होता है कि पुष्पदत इन दोनो विद्वानो से पूर्णत परिचित थे। जयधवला के पश्चात् जिनसेन का प्रसिद्ध ग्रंथ महापुराण है। परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कवि के महापुराण का आधार यही ग्रन्थ है। परन्तु मूल कथानक को ग्रहण करने पर भी कवि घटना-क्रम का नियोजन अपने ही ढग पर करता है। यही नही, कथा-वस्तु के अनेक अशो को वह या तो अनावश्यक समझकर छोड देता है अथवा उनमें आवश्यकतानुसार सकोच या विस्तार कर देता है अथवा भाव-पूर्ण प्रसगो मे कथा को विराम देकर अपनी कल्पना के सुन्दर चित्रो को सम्मिलित कर देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि जहाँ भी आधार ग्रंथ की रूपरेखा से हटता है, वहाँ वह अपनी कला का प्रदर्शन ही करता है।

कवि द्वारा किये गये परिवर्त्तन इस प्रकार हैं—

जिनसेन के महापुराण मे ७६ पर्व तथा १९२०७ अनुष्टुप् श्लोक हैं, जबकि पुष्पदन्त का महापुराण १०२ सधियो तथा २७१०७ अर्द्धालियो मे समाप्त हुआ है। इससे प्रकट होता है कि कवि ने सपूर्ण कथानक मे इच्छानुसार विस्तार किया है।

पुष्पदत के आदिपुराण का कथानक कुलकरो की उत्पत्ति (सधि २) तक तो लगभग जिनसेन के आदिपुराण के अनुरूप चलता है, परन्तु उसके पश्चात ही वे, जिनसेन द्वारा वर्णित ऋषभ के पूर्व-जन्मो की कथाओ को छोड कर, सीधे उनके वर्त्तमान जन्म की मुख्य कथा का वर्णन करने लगते हैं और इस प्रकार छोडी हुई कथा को वे आगे सन्धि २० से २७ तक स्वय ऋषभ के मुख से कहलाते हैं।

इस प्रकार कथानक के क्रम मे परिवर्त्तन करने का कारण सभवत यह है कि कवि, ऋषभ के पूर्व-जन्मो को अपेक्षाकृत कम रुचिकर कथाओ मे श्रोता या पाठक को उलझाये रखने की अपेक्षा, आरम्भ से ही मुख्य कथानक की ओर उनका ध्यान केन्द्रित रखना चाहता है। इससे ग्रंथ की प्रभावकता एव रोचकता और बढ जाती है।

---

(१) धवला, पुष्पदत तथा भूतवलि मुनि द्वारा रचित षट्खण्डागम के ५ खडो की व्याख्या है। इसमे ७२००० श्लोक हैं। जयधवला के २०००० श्लोक वीरसेन ने ही रचे थे, परन्तु बीच मे ही उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके शिष्य जिनसेन ने शेष ४०००० श्लोक रचकर उसे पूर्ण किया। ये दोनो ग्रंथ राष्ट्रकूट अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्य-काल मे लिखे गये थे। इसी प्रकार जिनसेन के महापुराण को, उनकी मृत्यु के पश्चात् गुणभद्र ने पूर्ण किया।

अध्याय
१० पुष्पदंत तथा अन्य जैन कवि

पुष्पदत की काव्य-कला का विवेचन करने के उपरान्त, हम प्रस्तुत अध्याय मे उनके साथ अन्य जैन कवियो का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए, यह देखने का प्रयास करेंगे कि कवि अपने पूर्ववर्ती कवियो से किस प्रकार प्रभावित हुआ है तथा उसके परवर्ती कवियो ने उसका किन-किन रूपो मे अनुसरण किया है।

पुष्पदत के पूर्ववर्ती अनेक जैन कवि हुए है, जिन्होने संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ मे अपने ग्रंथ रचे हैं। इनमे विमलसूरि, चतुर्मुख, जिनसेन तथा स्वयभू के नाम उल्लेखनीय हैं।

इन कवियो मे से प्रथम दो कवियो का कोई सीधा प्रभाव कवि पर परिलक्षित नही होता। चतुर्मुख का स्मरण अवश्य ही कवि ने महापुराण के दो स्थलो पर स्वयभू के साथ किया है, जिसका उल्लेख हम अन्यत्र कर चुके हैं।[१] इससे अनुमान होता है कि पुष्पदंत उनके ग्रन्थो, विशेष रूप से उनके पउम चरिउ से किसी न किसी रूप मे अवश्य प्रभावित हुए हैं, परन्तु उनके किसी भी ग्रन्थ के उपलब्ध न होने के कारण, इस विषय पर कुछ भी कहना सभव नही है।

अब हमारे सम्मुख दो कवि जिनसेन तथा स्वयभू शेष रह जाते हैं। इन कवियो के महापुराण तथा पउम चरिउ के उल्लेख इस शोध-प्रबन्ध के अतर्गत अनेक स्थलो पर हुए हैं। पुष्पदंत पर इनका पर्याप्त प्रभाव परिलक्षित होता है। निम्नलिखित पक्तियो मे हम इसका सक्षिप्त विवेचन करेंगे।

पुष्पदत ने महापुराण के अंत मे जिनसेन तथा उनके गुरु वीरसेन के स्पष्ट उल्लेख किये हैं—

जिणसेणेण वीरसेणेण वि   जिणसासणु सेविवि मय ते ण वि
(मपु० १०२।१२।३)

---

(१) देखिए ऊपर पृ० २१

ग्रंथारम्भ मे भी अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने धवला तथा जय-धवला नामक सिद्धान्त ग्रंथो के नाम लिये है—

णउ बुज्झिउ आयमु सद्दधामु, सिद्ध तु धवलु जयधवलु णामु । (१।९।८)

इनमे धवला के रचयिता वीरसेन तथा जयधवला के जिनसेन है ।[1]

इससे प्रकट होता है कि पुष्पदत इन दोनो विद्वानो से पूर्णत परिचित थे । जयधवला के पश्चात् जिनसेन का प्रसिद्ध ग्रंथ महापुराण है । परीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि कवि के महापुराण का आधार यही ग्रन्थ है । परन्तु मूल कथानक को ग्रहण करने पर भी कवि घटना-क्रम का नियोजन अपने ही ढग पर करता है । यही नही, कथा-वस्तु के अनेक अशो को वह या तो अनावश्यक समझकर छोड देता है अथवा उनमें आवश्यकतानुसार सकोच या विस्तार कर देता है अथवा भाव-पूर्ण प्रसगो मे कथा को विराम देकर अपनी कल्पना के सुन्दर चित्रो को सम्मिलित कर देता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि जहाँ भी आधार ग्रंथ की रूपरेखा से हटता है, वहाँ वह अपनी कला का प्रदर्शन ही करता है ।

कवि द्वारा किये गये परिवर्तन इस प्रकार हैं—

जिनसेन के महापुराण मे ७६ पर्व तथा १९२०७ अनुष्टुप् श्लोक है, जबकि पुष्पदन्त का महापुराण १०२ सधियो तथा २७१०७ अर्द्धालियो मे समाप्त हुआ है । इससे प्रकट होता है कि कवि ने सपूर्ण कथानक मे इच्छानुसार विस्तार किया है ।

पुष्पदत के आदिपुराण का कथानक कुलकरो की उत्पत्ति (सधि २) तक तो लगभग जिनसेन के आदिपुराण के अनुरूप चलता है, परन्तु उसके पश्चात ही वे, जिनसेन द्वारा वर्णित ऋषभ के पूर्व-जन्मो की कथाओ को छोड कर, सीधे उनके वर्तमान जन्म की मुख्य कथा का वर्णन करने लगते हैं और इस प्रकार छोडी हुई कथा को वे आगे सन्धि २० से २७ तक स्वय ऋषभ के मुख से कहलाते है ।

इस प्रकार कथानक के क्रम मे परिवर्तन करने का कारण सभवत यह है कि कवि, ऋषभ के पूर्व-जन्मो की अपेक्षाकृत कम रुचिकर कथाओ मे श्रोता या पाठक को उलझाये रखने की अपेक्षा, आरम्भ से ही मुख्य कथानक की ओर उनका ध्यान केन्द्रित रखना चाहता है । इससे ग्रंथ की प्रभावकता एव रोचकता और बढ जाती है ।

---

(१) धवला, पुष्पदत तथा भूतबलि मुनि द्वारा रचित षट्खण्डागम के ५ खडो की व्याख्या है । इसमे ७२००० श्लोक हैं । जयधवला के २०००० श्लोक वीरसेन ने ही रचे थे, परन्तु बीच मे ही उनकी मृत्यु हो जाने पर उनके शिष्य जिनसेन ने शेष ४०००० श्लोक रचकर उसे पूर्ण किया । ये दोनो ग्रंथ राष्ट्रकूट अमोघ वर्ष (प्रथम) के राज्य-काल मे लिखे गये थे । इसी प्रकार जिनसेन के महापुराण को, उनकी मृत्यु के पश्चात् गुणभद्र ने पूर्ण किया ।

कवि के वस्तु-विन्यास के अंतर्गत वे स्थल भी द्रष्टव्य हैं जहाँ उसने आवश्यकतानुसार आधार ग्र थ के प्रसग विशेष के वर्णन मे स कोच, विस्तार अथवा सर्वथा नवीन वर्णन किये है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कवि ने उन प्रस ंगो पर विशेष दृष्टि रखी है जहाँ उसकी काव्य-प्रतिभा को स्वतत्र रूप से विकसित होने की कुछ भी स ंभावना रही है। ऐसे कुछ स्थल इस प्रकार है—

धरणेन्द्र द्वारा नमि-विनमि को वैतढ्य पर्वत के प्रदेश दिये जाने के प्र ंसग मे जिनसेन ने उसके वन, प्रान्त, नगरादि का वर्णन पर्व १८।१४९-२०९ तथा १९।१-१९० के अतर्गत किया है, परन्तु कवि ने यही वर्णन केवल सन्धि ८ के १० से १४ तक के पाँच कडवको मे किया है।

भरत के दिग्विजय-प्रयाण की प्रस्तावना मे जिनसेन शरद् ऋतु का वर्णन (पर्व २६।५-५९) लगभग ५४ पक्तियो मे करते है। पुष्पदत ने इसी को केवल १४ पक्तियो (सधि १२।१) मे प्रस्तुत किया है। इसी प्रसग मे जिनसेन, भरत द्वारा मार्ग मे देखे गये वन, ग्रामादि के वर्णन (पर्व २६।९४-१२७) ३४ पक्तियो मे करते हैं। कवि के ग्रन्थ मे वही ७ पक्तियो मे प्राप्त होता है। पुन दिग्विजय के उपरान्त कैलाश पर जिन-दर्शन के लिये भरत के गमन प्रसग मे जिनसेन, पर्वत, समवसरण, स्तुति आदि का वर्णन १९० पक्तियो मे करते है, (पर्व ३३।११-२०१)। पुष्पदत यही वर्णन अत्यन्त कलात्मक ढग से ५९ पक्तियो मे करते है, (मपु० सधि १५।१६।३-५ से १५।२४ तक)।

इसके अतिरिक्त भरत द्वारा ब्राह्मणो की रचना करने के प्रसग मे जिनसेन ने पर्व ३८।२४-३१३, ३९।१-१११, ४०।१-२२३ मे) उनकी क्रियाओ आदि का जो वर्णन ६२४ पक्तियो मे किया है, पुष्पदत ने इसे अनावश्यक ठहरा कर केवल २३ पक्तियो मे (सधि १६।६-७) उनके लक्षणो का उल्लेख कर दिया है।

इससे प्रकट होता है कि पुष्पदत ने आधार ग्र थ के अनावश्यक विस्तार वाले स्थलो को छोडकर, काव्य के उपयुक्त अथवा सरस स्थलो को ही अपने ग्र थ मे स्थान दिया है। कवि ने आधार ग्र थ के निम्नलिखित स्थलो को बिलकुल ही छोड दिया है—

पर्व २७।८९-१०५ का मध्याह्न-वर्णन।

पर्व २८।१६८-२०२ का समुद्र वर्णन।

पर्व २९।१-१६३ का भरत द्वारा अनेक देश के राजाओ को जीतने का वर्णन।

पर्व ३७।८९-१४२ मे वर्णित भरत की रानी सुभद्रा का नख-शिख।

अब हम पुष्पदत के कतिपय उन प्रसगो का उल्लेख करेंगे जिनमे उनको अपनी काव्य-कला के प्रदर्शन का समुचित अवसर प्राप्त हुआ है, परन्तु जिन्हे जिनसेन ने या तो अपने ग्रन्थ मे स्थान ही नही दिया अथवा केवल सकेत मात्र कर दिया है—

काव्य मे लम्बे-लम्बे कडवक इसके प्रमाण हैं। दूसरी ओर जहाँ स्वयभू सधि के अन्त मे अपना तथा अपने आश्रयदाता का नाम अकित करने मे किसी नियम का पालन नही करते, वहाँ पुष्पदत के समस्त काव्य मे इसका पालन हुआ है।

स्वयभू छद शास्त्र के आचार्य थे। पुष्पदत ने उनके लगभग सभी छन्दो को अपने काव्य मे प्रयुक्त किया है। उनके पद्धडिया, वदनक, पारणक आदि प्रधान छदो को पुष्पदत के काव्य मे भी प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कडवक के अत के अनेक घत्ता छद भी पुष्पदत ने उन्ही के काव्य से ग्रहण किये हैं। परन्तु इस क्षेत्र मे उनसे कुछ आगे बढ़ कर, पुष्पदत कतिपय नवीन छदो का प्रयोग करके अपनी प्रतिभा का परिचय भी देते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप मपु० सधि ५, ६, १५, ३२, ४७, ५१, ६४, ६५ आदि के घत्ता छन्द देखे जा सकते हैं। इनका प्रयोग पउम चरिउ मे नही हुआ है।

भाषा के क्षेत्र मे भी पुष्पदत ने स्वयभू का अनुसरण किया है। डॉ० भायाणी ने पउम चरिउ तथा महापुराण के अनेक स्थलो मे शब्द, विषय, तुकान्त आदि के साम्य दिखलाते हुए, उनको एक विस्तृत सूची उपस्थित की है।[1] इसके अतिरिक्त भाषा साम्य के अन्य स्थल भी प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिये दो-एक स्थल प्रस्तुत किये जाते हैं—

रिट्ठणेमि चरिउ—
णदउ सासणु सम्मइ णाहहो
णदउ भवियण कय-उच्छाहहो। १७
(म० ११२, अतिम कडवक)

महापुराण—
णदउ सासणु वीरजिणेसहु
(१०२।१३।२)

पउम चरिउ—
हा पुत्त पुत्त दक्खवहि मुहु
हा पुत्त पुत्त कहि गयउ तुहुं
(१६।१५।३)

णायकुमार चरिउ—
हा पुत्त पुत्त तामरसमुह
हा पुत्त पुत्त किं हुयउ तुह।
(२।१३।३)

इसके अतिरिक्त दोनो कवियो के काव्य मे कही-कही वर्णन-साम्य भी प्राप्त होता है। यथा—

आत्म-लघुता के उद्गार-(पउम चरिउ १।३, मपु० १।६)।
जहि शब्द से प्रारम्भ होने वाला मगध देश का वर्णन—
(पउम चरिउ १।४, मपु० १।१२)
देवियो द्वारा मरुदेवी की परिचर्या करने का वर्णन—
(पउम चरिउ १।१४, मपु० ३।४)

१—पउम चरिउ पृ० ३१-३६

अबाध रूप से विचरण करने का पूर्ण अवसर देता है जिसके फलस्वरूप उसकी काव्य-कला के अत्यन्त उत्कृष्ट दर्शन होते हैं। यही उसकी मौलिकता है।

स्वयभू तथा पुष्पदत

इन दोनो कवियो को अपभ्रश के मूर्धन्य कवि होने का गौरव प्राप्त है। दोनो ही बरार प्रान्त के निवासी माने जाते हैं।[1] दोनो की काव्य-कला का विकास कन्नड भाषी प्रदेश (राष्ट्रकूट साम्राज्य) मे हुआ। परन्तु दोनो के व्यक्तिगत जीवन मे आकाश-पाताल का अन्तर है। स्वयभू एक सुखी तथा सम्पन्न गृहस्थ थे। उनकी पत्नियाँ भी विदुषी थी, जो उनके काव्य-लेखन मे सहायता देती थी।[2] उनका पुत्र त्रिभुवन भी विद्वान् कवि था। समाज मे वे एक सम्मानित विद्वान् के रूप मे प्रसिद्ध थे। इसके विपरीत जीवन-पथ पर एकाकी यात्रा करने वाले पुष्पदत थे। उनके समान स्वयंभू के जीवन मे न तो कटुता थी, और न जीवन के अभाव ही थे। स्वयभू को उपयुक्त आश्रयदाता की खोज मे एक स्थान से दूसरे तक भटकना भी नही पडा। यही कारण है कि जहाँ स्वयभू के काव्य मे भोग विलास, क्रीडा आदि के विस्तृत वर्णन प्राप्त होते हैं, वहाँ पुष्पदत ससार की असारता तथा मानव जीवन की क्षण-भगुरता पर लम्वी वक्तृता देते हुए एव स्थल-स्थल पर खल-सकुल समाज की भर्त्सना करते हुए पाये जाते हैं। उनके अभावो का जो मार्मिक चित्रण उनके काव्य द्वारा हमे प्राप्त होता है, स्वयभू मे उसका लेशमात्र भी नही है।

इस प्रकार जीवन की दो विभिन्न धाराओ मे सतरण करने वाले इन कवियो की भावनाओ मे जो अन्तर है, वह उनके काव्य मे पूर्णरूप से प्रतिफलित हुआ है। दोनो के धार्मिक विश्वासो मे भी अन्तर है। स्वयभू यापनीय मत के अनुयायी हैं, और पुष्पदत दिगम्बर मत के। यही कारण है कि पुष्पदत के सम्मुख अपभ्रश के अन्य ग्रथो के साथ स्वयभू का पउम चरिउ होते हुए भी, उन्होने जिनसेन का कथानक ग्रहण किया। परन्तु उनकी रचना शैली तथा काव्य के कला-पक्ष पर स्वयभू का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

अपभ्रंश की सधि-कडवक शैली के जन्मदाता चतुर्मुख माने जाते हैं।[3] स्वयभू के काव्य मे उसका व्यवस्थित रूप मिलता है। पुष्पदंत ने भी उसी शैली का अनुगमन किया है। परन्तु स्वयभू जहाँ कडवक की पाद-सख्या के लिये आठ यमको के नियम का पालन करते हैं, वहाँ पुष्पदत इस विषय मे पूर्ण स्वतन्त्रता से काम लेते हैं। उनके

---

(१) पउम चरिउ, भूमिका पृ० ११

(२) वही, छद सख्या १३-१४ तथा १५।

(३) देखिए ऊपर पृ० २२

काव्य मे लम्बे-लम्बे कडवक इसके प्रमाण हैं। दूसरी ओर जहाँ स्वयभू सधि के अन्त मे अपना तथा अपने आश्रयदाता का नाम अकित करने मे किसी नियम का पालन नही करते, वहाँ पुष्पदत के समस्त काव्य मे इसका पालन हुआ है।

स्वयभू छद शास्त्र के आचार्य थे। पुष्पदत ने उनके लगभग सभी छन्दो को अपने काव्य मे प्रयुक्त किया है। उनके पद्धडिया, वदनक, पारणक आदि प्रधान छदो को पुष्पदत के काव्य मे भी प्रमुख स्थान प्राप्त हुआ है। इसके अतिरिक्त कडवक के अत के अनेक घत्ता छद भी पुष्पदत ने उन्ही के काव्य मे ग्रहण किये हैं। परन्तु इस क्षेत्र मे उनसे कुछ आगे बढ़ कर, पुष्पदत कतिपय नवीन छदो का प्रयोग करके अपनी प्रतिभा का परिचय भी देते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप मपु० सधि ५, ६, १५, ३२, ४७, ५१, ६४, ६५ आदि के घत्ता छन्द देखे जा सकते हैं। इनका प्रयोग पउम चरिउ मे नही हुआ है।

भाषा के क्षेत्र मे भी पुष्पदत ने स्वयभू का अनुसरण किया है। डॉ० भायाणी ने पउम चरिउ तथा महापुराण के अनेक स्थलो मे शब्द, विषय, तुकान्त आदि के साम्य दिखलाते हुए, उनकी एक विस्तृत सूची उपस्थित की है।[1] इसके अतिरिक्त भाषा साम्य के अन्य स्थल भी प्राप्त होते है। उदाहरण के लिये दो-एक स्थल प्रस्तुत किये जाते हैं—

रिट्ठणेमि चरिउ—	महापुराण—
णदउ सासणु सम्मइ णाहहो णदउ भवियण कय-उच्छाहहो। १७ (म० ११२, अतिम कडवक)	णदउ सासणु वीरजिणेसहु (१०२।१३।२)
पउम चरिउ—	णायकुमार चरिउ—
हा पुत्त पुत्त दक्खवहि मुहु हा पुत्त पुत्त कहि गयउ तुहुँ (१६।१५।३)	हा पुत्त पुत्त तामरसमुह हा पुत्त पुत्त कि हुयउ तुह। (२।१३।३)

इसके अतिरिक्त दोनो कवियो के काव्य मे कही-कही वर्णन-साम्य भी प्राप्त होता है। यथा—

आत्म-लघुता के उद्गार-(पउम चरिउ १।३, मपु० १।६)।
जहि शब्द से प्रारम्भ होने वाला मगध देश का वर्णन—
(पउम चरिउ १।४, मपु० १।१२)
देवियो द्वारा मरुदेवी की परिचर्या करने का वर्णन—
(पउम चरिउ १।१४, मपु० ३।४)

१—पउम चरिउ पृ० ३१-३६

भरत के चक्र का नगर मे प्रवेश न करने का प्रसग—
(पउम चरिउ ४।१, मपु० १६।२-३)
रावण का विरह-(पउम चरिउ ४२।१०।४-८, मपु० ७३।१६)

इसी प्रकार पुष्पदत के ऊपर स्वयंभू के प्रभाव का सकेत करने वाले अन्य स्थल भो प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि कवि ने ग्रथारम्भ में ही स्वयभू सहित अन्य पूर्ववर्ती कवियो का स्मरण करके इस वात को स्पष्ट कर दिया है कि उसने उनके काव्य का गभीर अध्ययन किया था। सभवतः वही अध्ययन उसके व्यक्तित्व का अग वन गया होगा, जिसके परिणामस्वरूप समान कथानक अथवा प्रसगो में साम्य प्रतीत होता है। परन्तु इसमे संदेह नही कि कवि की अभिव्यक्ति मे सर्वत्र उसकी मौलिकता के दर्शन होते है।

पुष्पदत के परवर्ती कवियो मे से अनेक ने अपने ग्रथो मे उनका श्रद्धापूर्वक मरण किया है।[1] इससे स्पष्ट होता है कि किसी न किसी रूप मे कवि का काव्य उनका आदर्श अवश्य वना होगा। परन्तु अभी तक अधिकाश ग्रथ अप्रकाशित होने के कारण, उन पर पुष्पदत के प्रभाव का सम्यक निरूपण सभव नही है। फिर भी, अपभ्र श साहित्य-सवधी ग्रथो मे कुछ परवर्ती कवियो के काव्य-अश उपलब्ध होते है, जिन पर कवि का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।[2] कुछ कवियो के काव्य-अश नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं।

मुनि कनकामर (११ वी शताब्दी)

इनके करकडु चरिउ काव्य के निम्नलिखित अश पुष्पदन्त के काव्य-अशो की भाषा से साम्य रखते हैं—

करकडु चरिउ—

जहिं दक्खइं भु जिवि दुहु मुयति थल कमलहिं पथिय सुहु सुयति। (१।३।६)	जहिं दक्खामडवि दुहु मुयति थल पोमोवरि पथिय सुयन्ति। (णाय० १।६।६)
जहिं हालिणि रूवणिवद्धणेह (१।३।७)	जहिं हालिणि रूवणिवद्ध णेह (जस० १।२१।७)
मयरहरु झलझलिउ (३।१८।८)	जलही वि झलझलइ (मपु० ३।२०।१८)
सग्गिणी छद मग्गेण सपत्तया (३।१४।८)	एरिसो छदओ भण्णए सग्गिणी (मपु० १।१०।१३)

---

(१) देखिए ऊपर पृ० ५१

(२) इस विवेचन मे अन्य कवियो के काव्य के उद्धरण डॉ० हरिवश कोछड के अपभ्र श साहित्य नामक ग्रथ से लिये गये है।

यश कीर्ति (१५ वी शताब्दी)

इनके हरिवंशपुराण पर कवि का अधिक प्रभाव परिलक्षित होता है। पुष्पदंत की भाँति ही इन्होने भी अपने ग्रंथ की प्रत्येक संधि के आरम्भ में अपने आश्रयदाता दिउढा की प्रशंसा अथवा मंगल-कामना करते हुए संस्कृत छंदों की रचना की है। हमारे कवि से साम्य रखने वाले इनके काव्य अंश इस प्रकार हैं—

हरिवंश पुराण—	महापुराण—
अइ दुग्गम हउ कउरव पुराणु	अइ दुग्गम होइ महापुराणु (१।६।१३)
को हत्थें झंपइ गयणे भाणु। (१।२)	लइ हत्थें झपमि णहु सभाणु (१।११।४)
छणय दहो भुक्कइ सारमेउ (४।१)	भुक्कउ छणय दहु सारमेउ (१।८।७)
ववगय विवेउ (४।१)	ववगय विवेउ (१।८।३)
किं चमरें उद्धाविय गुणेण (१२।१५)	चमराणिल उड्डाविय गुणाइ (१।४।१)
	णाय०—
ण कामभल्लि ण कामसत्ति (५ ८)	ण कामभल्लि १।१५।२)
	ण काममत्ति (१।१५।३)

इस समस्त विवेचन द्वारा यह स्पष्ट होता है कि पुष्पदंत एक प्रतिभावान कवि थे। उनके पाण्डित्य तथा काव्य-कला का स्तर असाधारण था। इसी कारण समग्र अपभ्रंश साहित्य मे उन्हें श्रेष्ठ स्थान दिया गया है। वे अपभ्रंश के प्रथम कोटि के कवि माने जाते हैं। भले ही उनके जीवन-काल मे उन्हे उचित सम्मान न प्राप्त हुआ हो, परन्तु उनका विशाल काव्य सदैव उनके गौरव का स्मरण दिलाता रहेगा।

———

परिशिष्ट

अ

त्रिषष्टि महापुरुषों की नामावली

तीर्थङ्कर—

नाम	माता-पिता	जन्म-स्थान
१—ऋषभ	नाभि-मरुदेवी	अयोध्या
२—अजित	जितशत्रु-विजया	अयोध्या
३—संभव	दृढ-सुषेणा	श्रावस्ति
४—अभिनन्दन	सवर-सिद्धार्था	साकेत
५—सुमति	मेघरथ-मगला	साकेत
६—पद्मप्रभ	धरण-सुसीमा	कौशाम्बी
७—सुपार्श्व	सुप्रतिष्ठ-पृथ्वीषेणा	वाराणसी
८—चन्द्रप्रभ	महासेन-लक्ष्मणा	चन्द्रपुर
९—सुविधि (पुष्पदत)	सुग्रीव-जयरामा	काकन्दी
१०—शीतल	दृढरथ-सुनन्दा	राजभद्र (भद्रिला)
११—श्रेयास	विष्णु-नन्दा	सिंहपुर
१२—वासुपूज्य	वसुपूज्य-जयावती	चम्पा
१३—विमल	कृतवर्मा-जया (श्यामा)	काम्पिल्य
१४—अनन्त	सिंहसेन-जयश्यामा	साकेत
१५—धर्म	भानु-सुप्रभा	रत्नपुर
१६—शान्ति	विश्वसेन-अचिरा	हस्तिनापुर
१७—कुन्थु	शूरसेन-श्रीकान्ता	हस्तिनापुर
१८—अर	सुदर्शन-मित्रसेना	हस्तिनापुर
१९—मल्लि	कुम्भ-प्रभावती	मिथिला
२०—सुव्रत	सुमित्र-सोमादेवी	राजगृह
२१—नमि	विजय-वप्पिला	मिथिला
२२—नेमि	समुद्रविजय-शिवा	शौरिपुर
२३—पार्श्व	विश्वसेन-ब्रह्मादेवी	वाराणसी
२४—महावीर	सिद्धार्थ-प्रियकारिणी	कुण्डग्राम

चक्रवर्ती—

नाम	तीर्थ	माता-पिता	जन्म-स्थान
१—भरत	ऋषभ	ऋषभ-यशोमती	अयोध्या
२—सगर	अजित	समुद्रविजय-विजयादेवी	साकेत
३ - मघवान्	धर्म	सुमित्र-भद्रादेवी	साकेत
४—सनत्कुमार	धर्म	अनन्तवीर्य-महादेवी	विनीतपुर
५—शान्ति	शान्ति	विश्वसेन-अइरादेवी	हस्तिनापुर
६—कुन्थु	कुन्थु	शूरसेन-श्रीकान्ता	हस्तिनापुर
७— अर	अर	सुदर्शन-मित्रसेना	हस्तिनापुर
८—सुभौम	अर	सहस्रबाहु-विचित्रमति	साकेत
९—पद्म	मल्लि	पद्मनाभ-श्यामा	वाराणसी
१०—हरिषेण	सुव्रत	पद्मनाभ-अइरादेवी	भोगपुर
११—जयसेन	नमि	विजय-प्रभकरी	कौशाम्बी
१२—ब्रह्मदेव	नेमि	ब्रह्मराज-चूलादेवी	काम्पिल्य

बलदेव, वासुदेव तथा प्रतिवासुदेव

	नाम	वैर-कारण
बलदेव	विजय	....
वासुदेव	त्रिपृष्ठ	स्वयप्रभा-विवाह
प्रतिवासुदेव	अश्वग्रीव	....
बलदेव	अचल	
वासुदेव	द्विपृष्ठ	गन्धहस्ती
प्रतिवासुदेव	तारक	...
बलदेव	धर्म	....
वासुदेव	स्वयभू	कल्पदान
प्रतिवासुदेव	मधु	....
बलदेव	सुप्रभ	....
वासुदेव	पुरुषोत्तम	कल्पदान
प्रतिवासुदेव	मधुसूदन	....
बलदेव	सुदर्शन	....
वासुदेव	पुरुषसिंह	कल्पदान
प्रतिवासुदेव	मधुक्रीड	....
बलदेव	नन्दिषेण	....

वासुदेव	पुण्डरीक	पद्मावती-विवाह
प्रतिवासुदेव	निशुम्भ	....
वलदेव	नन्दिमित्र	....
वासुदेव	दत्त	क्षीरसागर हस्ती
प्रतिवासुदेव	वलि	....
वलदेव	राम (पद्म)	....
वासुदेव	लक्ष्मण	सीता-हरण
प्रतिवासुदेव	रावण	....
वलदेव	वलभद्र	....
वासुदेव	कृष्ण	कस-वध
प्रतिवासुदेव	जरासंध	....

योग — २७

तीर्थंकर	....	२४
चक्रवर्ती	....	१२
वलदेव	....	९
वासुदेव	....	९
प्रतिवासुदेव	....	९
		६३

श्री

सहायक ग्रंथ-सूची

अपभ्रंश काव्यत्रयी —श्री लालचन्द भगवानदास गान्धी, बड़ौदा, १९२७ ई०

अपभ्रंश पाठावली —श्री मधुसूदन चिम्मनलाल मोदी, १९३५ ई०

अपभ्रंश साहित्य —डॉ० हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली, १९५६, ई०

आउट लाइन आफ जैन फिलासफी —श्री मोहनलाल मेहता, जैन मिशन सोसायटी, बंगलोर, १९५४ ई०

ओरिजिन एण्ड डेवलपमेंट आफ बंगाली लैंगवेज —डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, कलकत्ता, १९२६ ई०

इण्डियन फिलासफी —डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, १९५१ ई०

इंडो आर्यन एण्ड हिन्दी —डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, १९४२ ई०

इंसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका भाग १२

एंशेण्ट इण्डिया —श्री आर० सी० मजुमदार, बनारस, १९५२ ई०

ऐतरेयोपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर

करकंडु चरिउ —मुनि कनकामर कृत, संपादक डॉ० हीरालाल जैन, कारंजा (बरार), १९३० ई०

कलक्टेड वर्क्स आफ आर० जी० भंडारकर, १९२९ ई०

ऋग्वेद —वैदिक संशोधन मण्डल पूना, १९३३-५१

काव्यालंकार —भामह कृत, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी

काव्यालंकार —रुद्रट कृत, नमिसाधु टीका, काव्यमाला सीरीज बम्बई, १९०९ ई०

काव्य प्रकाश —मम्मट, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००३ वि०

काव्यादर्श —दण्डिन्, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९३८ ई०

काव्य दर्पण —श्री राम दहिन मिश्र, ग्रंथमाला कार्यालय, बांकीपुर, १९४७ ई०

कीर्तिलता —विद्यापति, संपादक डॉ० बाबूराम सक्सेना, प्रयाग, सं० १९८५ वि०

कुमारपाल चरित (सिद्धहेम-शब्दानुशासन संयुक्त) —हेमचन्द्र, संपादक डॉ० परशुराम लक्ष्मण वैद्य, पूना, १९३६ ई०

कुमारपाल प्रतिबोध —सोमप्रभ कृत, सम्पादक मुनि जिन विजय, बड़ौदा, १९२० ई०

केशव कौमुदी भाग १ —सम्पादक लाला भगवान दीन, प्रयाग, सं० २००४

केशवदास —डॉ० हीरालाल दीक्षित, लखनऊ विश्वविद्यालय, सं० २०११

काव्य मीमांसा —राजशेखर कृत, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, बड़ौदा, १९२४ ई०

कैटालाग आफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स इन सी० पी० एण्ड बरार, रायबहादुर हीरालाल, नागपुर, १९२६ ई०

गुजरात की हिन्दी सेवा —डॉ० अम्बा शङ्कर नागर, (अप्रकाशित)

चन्द वरदायी —डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९५२ ई०

छंद प्रभाकर —श्री जगन्नाथ प्रसाद भानु, बिलासपुर, १९३९ ई०

जसहर चरिउ —पुष्पदंत कृत, सम्पादक डॉ० पी. एल. वैद्य कारंजा (बरार), १९३१ ई०

जैन शासन —श्री सुमेरुचन्द्र दिवाकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५० ई०

जैन साहित्य और इतिहास —श्री नाथूराम प्रेमी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, १९५६ ई०

जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश —श्री जुगुल किशोर मुख्तार, वीर शासन संघ, कलकत्ता, १९५६ ई०

णायकुमार चरिउ —पुष्पदंत कृत, सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, बरार, १९३३ ई०

तत्वार्थ सूत्र —उमास्वामी, वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली

दि एज आफ इम्पीरियल कन्नौज —भारतीय विद्या भवन, बम्बई

दि ग्लोरी आफ मगध —श्री जे० एन० समद्दर

दोहा कोश —श्री राहुल साकृत्यायन, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९५७ ई०

नाट्यशास्त्र —भरत मुनि, चौखम्भा सस्कृत सीरीज, काशी

पउम चरिउ —स्वयभू कृत, सपादक डॉ० हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, वम्बई स० २००९

पद्म चरित —रविषेण कृत, माणिकचन्द ग्रंथमाला, वम्बई, १९२८ ई०

पाहुड दोहा —सम्पादक डॉ० हीरालाल जैन, वरार, स० १९९०

पुरातन प्रवन्ध सग्रह —सम्पादक श्री जिन विजय मुनि, कलकत्ता, स० १९९२

पुरानी हिन्दी —श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, स० २००५

पुरुषार्थ सिद्धोपाय —अमृत चन्द्र कृत, आगरा, १९५८ ई०

प्राचीन भारतीय परम्परा और इतिहास —डॉ० रागेय राघव

प्रवन्ध चिंतामणि —मेरुतु ग कृत, सम्पादक श्री जिन विजय मुनि, शान्ति निकेतन, स० १९८९

प्राकृत पैंगलम् —स० चन्द्र मोहन घोष, १९००-२ ई०

प्राकृत लक्षणम् —चड कृत, स० हार्नले, १८८० ई०

प्राकृत सर्वस्व —मार्कण्डेय

वाल्मीकि रामायण —गीता प्रेस, गोरखपुर

भविसयत्त कहा —स० चमनलाल डाह्याभाई दलाल तथा डॉ० पाण्डुरग दामोदर गुणे, वडौदा, १९२३ ई०

भारत की प्राचीन सस्कृति —श्री राम जी उपाध्याय

भारतीय दर्शन —डॉ० वलदेव उपाध्याय, वनारस, १९४५ ई०

भावप्रकाशन —शारदातनय, वडौदा, १९३० ई०

मध्यकालीन भारतीय सस्कृति —डॉ० गौरीशकर हीरा चन्द ओझा, प्रयाग १९२८ ई०

महाभारत —गीता प्रेस, गोरखपुर

महाभाष्य —पतंजलि, स० कीलहार्न, बम्बई १८८०-८६ ई०

महापुराण (भाग १-३) —पुष्पदंत कृत, संपादक डॉ० पी० एल० वैद्य, बम्बई, १९३७-४१ ई०

महापुराण (भाग १-३)— —जिनसेन-गुणभद्र कृत, स० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९४४ ई०

योगसार —जोइन्दु, स० डॉ० ए० एन० उपाध्ये, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, १९२७ ई०

राम कथा —डॉ० कामिल बुल्के, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९५० ई०

रामचरित मानस —तुलसीदास, रामनारायण लाल, प्रयाग, १९२५ ई०

राष्ट्रकूट्स एण्ड देअर टाइम्स —डॉ० ए० एस० अल्तेकर, ओरियंटल बुक एजेंसी, पूना, १९३४ ई०

रीति काव्य की भूमिका —डॉ० नगेन्द्र, दिल्ली, १९४९ ई०

लिटरेरी सर्किल आफ महामात्य वस्तुपाल — डॉ० भोगीलाल जे० साडेसरा, बम्बई, १९५३ ई०

वर्ण रत्नाकर —डॉ० सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, १९४० ई०

वाक्य पदीयम् —भर्तृहरि, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, बनारस

शुक्रनीति-सार —सं० जे० आपर्ट, मदरास, १८८२ ई०

श्री मद्भगवद्गीता —गीता प्रेस, गोरखपुर

संक्षिप्त पद्म पुराण —गीता प्रेस, गोरखपुर

संदेश रासक —अब्दुल रहमान कृत, सम्पादक श्री जिनविजय मुनि तथा डॉ० भायाणी, बम्बई सं० २००१

समीचीन धर्मशास्त्र —सं० जुगुल किशोर मुख्तार, दिल्ली

साहित्य दर्पण —विश्वनाथ, मृत्युंजय औषधालय, लखनऊ

सिद्ध हेमशब्दानुशासन —हेमचंद्र

सूर-सौरभ —डॉ० मुंशीराम शर्मा कानपुर, सं० २००६

स्तुति विद्या —समन्तभद्र कृत, स० पन्नालाल जैन, सहारनपुर १९५०

स्वयभू स्तोत्र —समन्तभद्र कृत

स्टडीज इन इपिक्स एण्ड पुरान —डॉ० ए० डी० पुसालकर, वम्बई (भारतीय विद्या भवन सीरीज)

हमारी साहित्यिक समस्याए —डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

हिन्दी काव्य-धारा —श्री राहुल साकृत्यायन, प्रयाग, १९४५ ई०

हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन —श्री नेमिचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५६ ई०

हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास —डॉ० उदयनारायण तिवारी, भारती भडार, प्रयाग स० २०१२

हिन्दी के विकास मे अपभ्रश का योग —डॉ० नामवरसिह, प्रयाग, १९५४ ई०

हिन्दी साहित्य का आदि काल —डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५२ ई०

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —डॉ० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, १९४८ ई०

हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास —सम्पादक डॉ० राजबली पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४ (भाग १)

हिन्दी साहित्य की भूमिका —डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९४० ई०

हिन्दुस्तान की पुरानी सभ्यता —डॉ० बेनी प्रसाद, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग, १९३१ ई०

हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश—डॉ० जी० वी० तगारे

हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर —मारिस विंटरनिट्ज, कलकत्ता विश्वविद्यालय, १९३० ई० (भाग २)

हिस्ट्री आफ़ इण्डिया (भाग १) —इलियट

पत्र-पत्रिकाएँ

अनेकान्त
आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट १९५०-५६
इलाहाबाद यूनीवर्सिटी स्टडीज, १९२५ ई०
इंडियन एण्टीक्वेरी
एनल्स आफ भंडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट
एपीग्रफिका इंडिका
जैन गजट
जैन दर्शन
जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, बडौदा
जर्नल आफ ओरियंटल रिसर्च, मदरास
जर्नल आफ बाम्बे ब्रांच आफ रायल एशियाटिक सोसायटी
नागरी प्रचारिणी पत्रिका
भारतीय विद्या
सह्याद्रि

———

नामानुक्रमणिका

———

ग्रंथानुक्रमणिका

: समाप्त :